—सस्ता साहित्य मण्डल : सत्तानवेवां ग्रन्थ—

समन्वय

श्री डॉ० भगवान्दास के

लेखों और व्याख्यानों का संग्रह

प्रकाशक

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

—शाखायें—

दिल्ली : लखनऊ : इन्दौर

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री,
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

संस्करण
प्रथम प्रकाशन (भारती भंडार, काशी)
द्वितीय प्रकाशन (सस्ता साहित्य मंडल)

मूल्य
सजिल्द का दो रुपया

मुद्रक,
श्री रामकिशोर गुप्त,
साहित्य प्रेस, चिरगाँव (झाँसी)

अपने को ऐसी स्थिति में बझा देने का जिम्मेदार स्वयं मनुष्य ही है।

ऐसे समय 'समन्वय' सदृश ग्रथ ही अन्ध में पड़ी मानवता को आलोक प्रदान कर सकते है और उन्हे उन रूढ़ियों के टक्कर से बचा सकते हे जो किसी समय की सामाजिक आवश्यकता के अब ऐतिहासिक चिन्ह-मात्र हे। ऐसे ही निबन्धो से हमारा मोह से निबेरा हो सकता है और मोह से निबेरे में ही कल्याण है, तभी भगवान् गीता मे कहते हे—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदागन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्यश्रुतस्य च ॥

सो, हमे पूरी आशा है कि समन्वय-द्वारा लोक अवश्य ही प्राचीन का नवीन के साथ देश-कालानुसार उपयोग करेगा और उसी के आदर्श पर पुनः एक ऐसे समाज की रचना कर सकेगा जो—

कृणुध्वं विश्वमार्यम्

—इस वेद-मंत्र को सिद्ध कर सके।

आशा है, इस पुस्तक का हिन्दी-संसार खूब स्वागत करेगा।

काशी
श्रावण शुक्ल ११, १९८५

—प्रकाशक

प्रस्तावना

भगीरथ के रथ पीछे लगी भगी भागीरथी जग तारिबे कों,
ढिग आइ जबै तबै न्हाइबे, पाप मिटाइबे, पुण्य कमाइबे कों,
वेगि चरण विंध्याद्रि धर्‌यो जल,पै अति आनन्द ते जड़ होइ कै,
भूलि गयो है बढ़ाइबे कों, अरु भूलि गयो है निसारिबे कों ॥

काशी से प्रायः दस कोस उत्तर-पश्चिम, गंगा के जल में अर्धमग्न, न जाने कितने सहस्र वर्षों से, विंध्य पर्वत का एक शैल तपस्या कर रहा है। कुछ दूर से, पूर्व की ओर से, देखने से, उसका आकार ठीक मनुष्य के चरण के ऐसा जान पडता है। इसीसे उसका चरणाद्रि नाम पड़ा है। प्राय दो सहस्र वर्ष पूर्व, विक्रमादित्य के समय से, उस पर दुर्ग बना है। कथा प्रथित है कि विक्रमादित्य के बड़े भाई भर्तृहरि ने, विरक्त होकर भाई को राज सौंप कर, इसी स्थान में आकर तपस्या की, योग साधा, मोक्ष पाई, अमर हुए। "कलि में अमर राजा भरथरी।" दुर्ग के भीतर उनका समाधिस्थान अबतक दिखाया जाता है। गिरि दुर्ग के नीचे, गंगा के किनारे, एक छोटी बस्ती बसी है, जिसको गिरि के नाम से ही, हिन्दी मे संस्कृत शब्द के रूप का परिवर्त्तन करके, (चरनारगढ़, चरनार) चुनार कहते है। बस्ती से कोई डेढ़ कोस पर, पर्वत की दरी में, झरने के किनारे, दुर्गा देवी का पुराना मन्दिर है। किंवदंती है कि कहीं उसी के पास, शृंगी ऋषि का आश्रम था, जो महाराज परीक्षित् को राजधर्म का

अल्प ही उल्लंघन करने के लिए, अति दण्ड देकर, श्रीमद्भागवत पुराण के अवतार के, परम्परया, कारण हुए।

इस वस्ती मे, गंगातट पर, ढाई वर्ष से मैने शरण लिया है। कभी-कभी काशी जाता रहता हूँ। प्रीतिपात्र राय कृष्णदासजी ने, वहा एक वार यह इच्छा प्रकट की कि मेरे कुछ हिन्दी लेखो और व्याख्यानों का संग्रह छापा जाय। उनकी विशेष आस्था उस लेखमाला पर थी, जो "समन्वय" के नाम से, मेरे प्रिय मित्र श्री शिवप्रसाद गुप्त के "आज" नामक दैनिक पत्र में छपी थी। इन लेखो का मूल एक व्याख्यान था जिसे, उन्ही शिवप्रसादजी की उदारता और लोकोपकार वुद्धि से स्थापित काशी विद्यापीठ मे समावर्त्तन संस्कार के समय एक वार्षिकोत्सव मे मैने दिया था। उसके साथ, कुछ और लेख और व्याख्यान भी मिलाये गये। दो लेख नये भी इस संग्रह के लिए मैने लिखे। कृष्णदासजी की श्रद्धा से मुझे भी उत्साह हुआ। सव संग्रह का नाम "समन्वय" ही रक्खा गया, क्योकि सभी लेखो का अभिप्राय विविध विचारो और भावो और रीतियो का विरोध-परिहार और परस्पर सम्वन्ध, सम्वाद, समन्वय करना ही है।

राय कृष्णदासजी ने, अपने मित्र सुकवि श्री मैथिलीशरण गुप्तजी के "साहित्य प्रेस" में, इस सग्रह के छपने का प्रवन्ध किया। मैने प्रूफ देखा तो सही, पर छापाखाना चिरगाँव (जिला झासी) मे, और मै चुनार में, प्रायः डेढ़ सौ कोस की दूरी पर; इससे अशुद्धियाँ रह गई है, अध्येता सज्जन सहज मे अपनी वुद्धि से इनकी शुद्धि कर लेंगे। कृष्णदासजी को जितना ये लेख रुचे, उनका चतुर्थांश भी यदि अन्य पढने वाले सज्जनों को रुचे, तो उनका और श्री मैथिलीशरणजी का उत्साह, इस संग्रह के छपाने का, सफल हो; और मै भी कृतार्थ और धन्यम्मन्य होऊँ।

भर्तृहरि की कीर्ति से व्याप्त प्रदेश मे आया हूँ, इसलिए जिस श्लोक मे उन्होंने अपने प्रसिद्ध नीति—शृंगार—वैराग्य-शतकों का आरम्भ किया है, उसी के कुछ परिवर्तित रूप से इस प्रस्तावना का अन्त करता हूँ।

यां (विद्यां) चिंतयामि (अहं, जीवात्मा, अव्यक्तवैराग्य
बीजेन) सततं, मयि सा विरक्ता,
सा त्वन्यमिच्छति जनं (परमात्मानं)
स जनोऽन्यसक्तः (अविद्यायां सक्तः,
स्वमहिमानं, विद्यापतित्वकृतं विहाय मद्रूपं जीवात्मत्वं धारयति)
अस्मत्कृते च (जीवात्मनां उद्धरणाय, तारणाय,
निरंतरं यतमाना जगद्धात्री विद्या)
परितुष्यति सा त्वथाऽन्या,
धन्या वयं ननु परस्पर भावबद्धाः ॥

"विश्राम" चुनार,
सम्वत् १९८५

—भगवान्दास

पुनश्च

यह पुस्तक मूलतः 'भारतीय भडार, काशी' से, श्री रायकृष्णदासजी के प्रयत्न से छपी; पर अब इसका सारा 'स्टाक', 'सस्ता-साहित्य-मडल, नई दिल्ली', ने खरीद लिया है, यह उस मंडल के मंत्री श्री मार्तण्ड उपाध्यायजी के पत्र से मुझे विदित हुआ। अब यह पुस्तक मंडल की ओर से ही प्रकाशित मानी जानी चाहिए।

—भगवान्दास

शान्तिसदन, सिगरा,
बनारस कैंट, १०–५–४०

समन्वय

—○—

गणपति-पूजा

॥ ॐ ॥

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे ।

प्रियाणां त्वा प्रियपतिं हवामहे ।

निधीनां त्वा निधिपतिं हवामहे ॥

॥ ॐ ॥

[हिन्दू-विश्वविद्यालय में महाराष्ट्र विद्यार्थियों को एक समिति है। भाद्रपद सं० १९८२ में उसने गणेश चतुर्थी से आरम्भ करके तीन दिन गणपति-उत्सव मनाया। तीसरे दिन संध्या समय हिन्दू-विश्वविद्यालय के "आर्ट्स-कालेज-हाल" में, उनके निमंत्रण से, श्रीभगवानदासजी का व्याख्यान हुआ। उसका आशय यह है।]

अमृत-विष-पान

नैषध-चरित नामक प्रसिद्ध काव्य में श्लोक है—

सततममृतादेवाहारादयदाऽदरोचकं
तदमृतभुजां भर्त्ता शंभुर्विषं बुभुजे विभुः॥

देवता सदा अमृत पीया करते हैं। उनके पति, सबसे बड़े देवता, महा-देव का क्या कहना है। वे तो नित्य नित्य उत्तमोत्तम अमृत बहुत ही पीते होंगे। पर इस नित्य नित्य के अमृतपान से वे उद्विग्न हो गये। उनको अरोचक हो गया। तो मनफेर के लिये उन्होंने हालाहल विष पान कर लिया।

आप लोगों को अच्छे से अच्छे शास्त्रज्ञ विद्वान् अध्यापकों के व्याख्यान सुनते सुनते अवश्यमेव अजीर्ण हो गया है, इसी लिये आपको मेरी टूटी फूटी बातें सुनने की इच्छा हुई, और आपने अनुरोध करके मुझको यहाँ बुलवाया। मुझे सचमुच व्याख्यान देने का अभ्यास नहीं। इस प्रकार से सभा में बोलने में बहुत श्रम और थकावट मानता हूँ, और उस पर अधिक कठिनता यह है कि झंझट के कामों से अवकाश भी नहीं कि कुछ अध्ययन करके, कुछ सोच विचार के, व्याख्यान की सामग्री एकत्र करूं। आज ही कथंचित् घंटे दो घंटे में एक दो पुराण उलट पुलट कर गणेशजी की कथा कुछ देख पाया हूँ। मैंने सोचा कि गणपति-उत्सव के सम्बन्ध में गणपति की कथा ही कहना उचित होगा।

उत्सव और हिन्दू धर्म

छात्रों को विशेष कर, और मनुष्यमात्र को सामान्यतः, उत्सव बहुत प्रिय होते हैं। खेल, मनबहलाव, किसको नहीं अच्छा लगता। सब देशों में, सब जातियों में, किसी न किसी बहाने से उत्सव मनाये जाते हैं। पच्छिम के देशों में घुड़दौड़, नावदौड़ आदि के व्याज से, और थियेटर, सिनेमा, तो बड़े शहरों में हर रात जारी रहते हैं, जैसा अब इस देश में भी हो चला है। पर यहाँ की पुरानी प्रथा यही रही है कि उत्सव भी धर्म के नाम के संबन्ध से मनाये जायँ। प्रसिद्ध ही है कि हिंदू का खाना, पीना, सोना, जागना, उठना, बैठना, छींकना, खाँसना, रोजगार, व्यवहार, सभी धर्म के नाम से होता है। यहाँ तक कि चोरी और ठगी भी भवानी की पूजा कर के और अच्छा मुहूर्त देख के चोरधर्मशास्त्र के अनुसार होती रही है। महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री को सचमुच एक चोरधर्मशास्त्र की संस्कृत में प्राचीन पुस्तक मिली है। यदि धर्म का अर्थ हेतुयुक्त कार्यकारण-सम्बन्धानुसंधानात्मक लोकसंग्राहक सत्कर्मोपयोगी ज्ञान समझा जाय, जो ही "सायंस" और शास्त्र का भी सच्चा अर्थ है, तो प्राचीन और नवीन भावों का समन्वय हो जाय, यथा सब ही कर्म, सब ही आहार, विहार, व्यवहार, "धर्म" अर्थात् "सायंस" अर्थात् दृष्ट-अदृष्ट-फलबोधक सच्छास्त्र के अनुसार होना ही चाहिये। अस्तु। उत्सवों का और धर्म का इस देश में घनिष्ठ संबंध बहुत काल से हो रहा

है। यदि सूची तैयार की जाय तो स्यात् वर्ष के तीन सौ पैंठस दिनों के लिये कम से कम सात सौ बीस त्यौहार निकल आवेंगे। पर मुख्य त्यौहार दो प्रकार के हैं, एक युगादिपर्व अथवा ऋतु-परिवर्तन संबंधी, जैसे वसंतपंचमी, होलिका, देवशयन, देवोत्थान, श्रावणी, दीपावली, शरत् पूर्णिमा, कार्तिकीपूर्णिमा, आदि। और दूसरे ऐतिहासिक पौराणिक घटना संबंधी जैसे रामनवमी, विजयदशमी, कृष्णजन्माष्टमी, शिवरात्रि, वामनद्वादशी, नरसिंहचतुर्दशी, हनुमानचतुर्दशी आदि। गणेशचतुर्थी को पौराणिक इति वृत्त का स्मारक उत्सव समझना चाहिये।

परिश्रम और विनोद

अंग्रेजी में कहावत है "आल वर्क एण्ड नो प्ले मेक्स जैक् ए डल ब्वाय।" अर्थात् यदि लड़का पढ़ने लिखने ही में दिन रात परिश्रम करता रहे और खेलकूद कुछ न करे तो उसकी बुद्धि मन्द हो जाती है। इस न्याय का परिणाम रूप दूसरा न्याय छात्रों ने अपने लिये बना लिया है कि "आल प्ले एंड नो वर्क मस्ट मेक जैक ए ब्राइट ब्वाय।" अर्थात् यदि लड़का खेल कूद ही में लगा रहे, और पढ़ना लिखना न छूवे, तो अवश्यमेव उसकी बुद्धि बड़ी तीव्र और स्फूर्तिमती हो जायगी! इसी से आप देखते हैं कि स्कूल, कालिज, पाठशाला, मदरसों में प्राय: सात आठ महीने छुट्टी होती है और पांच चार महीने पढ़ाई। पर छात्रशुभचिंतक अध्यापक मंडली इस फिक्र में रहती है कि किसी प्रकार से छुट्टियों में भी अध्ययन का काम करा लिया जाय। इसलिये उत्सवों में भी आप लोगों को किसी व्याज से लेक्चर,

व्याख्यान, ही सुनवा दिये जाते हैं। ठीक ही है, खेल से काम को और काम से खेल को मदद मिलनी ही चाहिए।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत ॥

"कर्म में अकर्म को, और अकर्म में कर्म को जो देखता और पहिचानता है वही तो मनुष्यों में बुद्धिमान है, योगी है, सब कामों का करने वाला है।"

इस गीता के श्लोक का भी कुछ ऐसा ही अर्थ होगा। और भी—

देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयंतु वः।
परस्परं भावयंतः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

"(प्रजापति ने यज्ञ के साथ मानव प्रजा की रचना करके कहा कि) तुम लोग इस यज्ञ से देवताओं का पोषण करो; तब वे देवता तुम्हारा पोषण करेंगे। परस्पर सहायता करते हुए दोनों परम श्रेयस् को पाओगे।"

इसका भी अर्थ यों लग सकता है—देवनात् खेलनाद् देवाः, मननाद् अध्ययनात् मनुष्याः, देवनं च मननं च परस्परं भावयतः। खेलने से छात्र हृष्टपुष्ट होते हैं, उससे अध्ययन के लिये उत्साह और बल अधिक होता है। तथा उत्साह और बल से अध्ययन करने के बाद खेलने की इच्छा भी अधिक उत्कट होती है।

इस प्रकार खेल-कूद का और ज्ञानवृद्धि का, उत्सवों का और व्यावहारिक परिश्रम का, अन्योऽन्याश्रय है।

गणपति की उत्पत्ति

आप लोग तीन दिन से गणेशोत्सव मना रहे हैं, तो गणपतिपूजन का समयोपयोगी अर्थ भी कुछ लगाना चाहिये।

पश्चिम की रीति से पढ़े लिखे विद्वान् यह कहते हैं कि गणेश मूलतः आर्यों के देवता नहीं, किंतु भारतवर्ष की किसी असभ्य प्राचीन जाति के विकृतरूप देवता हैं, जिनको आर्य लोगों ने उस असभ्य जाति को जीतने के बाद उसके सांत्वनार्थ अपनी देवमण्डली में मिला लिया। इस विचार में कितना अंश सत्य है कितना मिथ्या, इसके विवेचन की शक्ति मुझमें नहीं। इसका निर्णय आपके महाविद्यालय के महापण्डित पुरातत्त्ववेत्ता अपनी सूक्ष्मेक्षिका से करेंगे। मैं तो श्रीगणेशजी के स्थूलकाय के अनुरूप स्थूल दृष्टि से इतना ही देखता हूँ कि, पहिले जो कुछ रहे हों, अब तो ये आर्यों के परम आर्यदेव, विकृत रूप होते हुए भी बड़े सुन्दर रूपक के आश्रय, हो रहे हैं। तो भी यहाँ इतना कहना अनुचित न होगा कि इन पाश्चात्य विद्वानों का विचार सर्वथा निर्मूल नहीं है। मानव गृह्यसूत्र (२।१४) से जान पड़ता है कि पहिले चार विनायक माने जाते थे, (१) शालकटंकट, (२) कूष्मांडराजपुत्र, (३) उस्मित, (४) देवयजन। तथा यह माना जाता था कि ये मनुष्यों में, स्त्रियों में, बालकों में, प्रेतवत् आवेश प्रवेश करके विविध उपद्रव करते कराते थे। और इनकी शांति मद्य-मांसादिक के अर्पण तर्पण से की जाती थी, जैसा आजकाल भी, विशेष कर "छोटी" अथवा "नीच" कहलाने वाली जातियों

में, और पर्वतों में अधिकतर, झाड़ फूंक, टोना-टोटका, उतारा डोला, आदि के विविध उपचारों प्रकारों से भूतप्रेतादि की और रोगादि की की जाती है। याज्ञवल्क्यस्मृति के समय तक ये चार एकत्र करके एक बना लिये गये थे, पर नाम इस एक उपदेव के छः रहे, जो उक्त चार के ही रूपांतर हैं, यथा, शाल, कटंकट, कूष्मांड, राजपुत्र, मित और सम्मित (१-२७१, २८५)।

इस परिवर्तन से क्या अर्थ निकालना चाहिये ?

बात यह है कि सभी संसार परिवर्त्तनशील है। सभ्यता शालीनता, इष्ट पूज्य, पूजा अर्चा, विश्वास आचार, रहन सहन, सभी के रूप बदलते रहते हैं। मूलतत्त्व, जिनका प्रतिपादन दर्शनों में किया है, वे नहीं बदलते। मनुष्य की परिवर्त्तमान प्रकृति के अनुसार उसकी सभी सामग्री बदलती रहती है।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः।
यजंते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजंते तामसा जनाः॥ (गीता)
यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः॥ (रामायण)
देवान् देवयजो यांति मद्भक्ता यांति मामपि॥ (गीता)

"श्रद्धा ही पुरुष का स्वभाव है, तात्त्विक स्वरूप है, जिसकी जो श्रद्धा है, हृदय की इच्छा है, वही वह है। सात्त्विक जीव देवों को पूजते हैं, राजस यक्ष राक्षसों को, तामस भूतप्रेतों को। जो अन्न मनुष्य खाता है वही उसके देवता खाते हैं। देवताओं के पूजने वाले देवताओं के पास जाते हैं, मेरा भक्त मेरे पास आता है।"

अर्थात् तामस प्रकृति के मनुष्यों के देवता भी तामस, राजसों के राजस, सात्त्विकों के सात्त्विक। गुणों से परे, गुणों के मालिक, आत्मा को पहिचानने वाले आत्मवानों के लिये एक आत्मा सर्वव्यापी सर्वदेवमय ही देवता है।

ज्यों ज्यों मनुष्यों की प्रकृति में उत्कर्ष होता है त्यों त्यों उनके देवताओं में भी।

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि राजस तामस उपदेवता कहिये, शक्तियाँ कहिये, भूतप्रेतपिशाचादि कहिये, सर्वथा मिथ्या हैं, केवल कल्पना हैं, अत्यंतासत् हैं। ऐसा नहीं। उनमें भी वैसी व्यावहारिक सत्ता है जैसी सात्त्विकों में। किंतु पूजकों की भावना कल्पना वासना के अनुसार भावित इष्ट का आकार और बल भी होता है, घटता बढ़ता और बदलता है।

जिनकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी॥

मननात् त्रायते इति मंत्रः। मंत्रमूर्तिर्देवः।

भक्तानानुकंपार्थं देवो विग्रहवान् भवेत्।

ये यथा मां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम्। इत्यादि।

"मनन करने से जो त्राण करै वह मंत्र। देव की मूर्त्ति मंत्र है, मंत्रानुसार है। निराकार परमात्मा भक्तों के अनुग्रह के लिये उनकी भावना के अनुसार विग्रह अर्थात् शरीर धारण कर लेता है। जो जैसा मुझे भजते हैं मैं भी उन्हें वैसा ही भजता हूँ।"

यदि यह कहा जाय तो अनुचित न होगा कि मनुष्य जैसे प्रकृति के दृश्य स्थूल पदार्थों और पशुओं से अपने प्रयोजनानुसार काम लेता है और उनके आकार प्रकार बदल लेता

है और उनको सिखा लेता है, वैसे ही अदृश्य, अल्पदृश्य, सूक्ष्म देवोपदेवों के विषय में भी। पर इनके विषय में मानस भावना मुख्य साधन है। जंगली मनुष्य की सामग्री, हथियार आदि, जंगली होती है, नागरिक की नागरिक परिष्कृत संस्कृत। क्रमशः उत्कर्ष होता है। ऐसा उत्कर्ष और परिवर्तन हो सकने में हेतु यह है कि तीनों गुण, सत्त्व, रजस्, तमस्, सर्वदा अन्योन्यसंबद्ध और अपृथक्कार्य हैं। रुद्र ही शिवशंकर हो जाते हैं, भव ही संहारकर्त्ता हर हो जाते हैं। विष्णु ही मत्स्य, कूर्म, वाराह, नरसिंह, वामन आदि। गौरी ही काली, चंडिका ही अन्नपूर्णा। वही मनुष्य अभी स्नेही अभी क्रोधी, अभी हँसमुख अभी रोनीसूरत, अभी आलसी अभी उत्साही।

निष्कर्ष यह कि पूर्वरूप गणेशजी का चाहे विकट शाल-कटंकट आदि का रहा हो पर अब तो चिरकाल से शुद्धि और संस्कार होते होते सर्वप्रिय गोलमोल बालक का हो गया है।

जिस सुन्दर भवन में इस समय हम आप सब बैठे हैं उसको यदि कोई कहे कि यह मूलतः मृत्तिका है तो अवश्य अंशतः सत्य है। पर क्या सर्वथा सत्य है? क्या यह केवल मृत्तिका ही है? क्या इसमें इसके बनानेवालों की बुद्धि का सौंदर्य नहीं है? हम सबके शरीर ही पांचभौतिक हैं। पर क्या केवल पंचभूत ही इनमें हैं? आत्मा भी तो है। गणेशजी चाहे कहीं से आये हों, इस समय तो सब देवताओं के आगे उनकी पूजा हो रही है। उनकी उत्पत्ति के पौराणिक आख्यान ही कहते हैं कि वे मिट्टी से बनाये गये। पर बनानेवाले की शक्ति भी उनमें है, और इस कारण पीछे जो उनकी महिमा

हुई वह उनके नाम ही से सिद्ध है, 'सर्वदेवगणानां ईशः पतिः, गणपतिः, गणेशः।' भिन्न भिन्न पुराणों में थोड़े थोड़े भेद से कथा कही है, पर मुख्य बातें समान हैं। शिवपुराण की ज्ञान संहिता में कहा है—

कियता चैव कालेन जया च विजया सखी।
पार्वत्या च मिलित्वा च विचारतत्पराऽभवत्॥
रुद्रस्य च गणाः सर्वे नंदिभृंगिपुरःसराः।
प्रमथाश्च ह्यसंख्याता ह्यस्मदीयो न कश्चन॥
द्वारि तिष्ठंति सर्वेऽपि शिवस्याज्ञापरायणाः।
इत्युक्ता पार्वती देवी सखीभ्यां रुचिरं वचः॥
मदीयः सेवकः कश्चिद् भवेच्छुभतरस्तदा।
ममाज्ञायाः परं नान्यद्रेखामात्रं चलेदिह॥
इति विचार्य सा देवी करम्भोजेऽसंभवम्।
पंकमुत्सार्य तेनैव निर्ममे पुत्रकं शुभम॥

दृसरा दर्जा

अर्थात्—पर्वत की बेटी पार्वती की दो सखी, जया और विजया। नाम ही से इन लड़कियों की लड़ाकी प्रकृति का परिचय होता है। पर्वतनिवासी जातियाँ प्रायः दूसरों से जित विजित नहीं होतीं, स्वयं दूसरों पर जय विजय पाती रहती है। इन दोनों ने पार्वती को सलाह दी कि रुद्रजी के तो नन्दी, भृंगी आदि असंख्य प्रमथगण नौकर हैं जो सदा उनकी आज्ञापालन के लिये खड़े जाते हैं, पर आपका कोई एक नौकर भी नहीं जो आपके कहे को रेखामात्र भी न टाले। बस

क्या पूछना था। ऐसी सलाह तो झट मन में बैठ ही जाती है। घर में पहले छोटे बच्चे लड़ते हैं, तब उनकी धाय अपनी अनायतो दिखाने को लड़ती हैं, फिर उनकी माय उनका उनका पक्ष लेकर लड़ती हैं, फिर उनके बापों को, आपस के सगे भाइयों को, विवश होकर लड़ना पड़ता है। और चूल्हे अलग अलग किये जाते हैं। जो दशा मनुष्यलोक की सो दशा देवलोक की। जीव की प्रकृति तो रागद्वेषात्मक सभी लोकों में एक सी है। पार्वती देवी ने पानी मिट्टी से (किसी पुराण में लिखा है, अपने पसीने की मैल से) भादों सुदी चौथ को खूब मोटा ताजा बेटा बनाकर महल के दरवाजे पर खड़ा कर दिया और हुक्म दे दिया कि कोई न आने पावे, विशेष करके शिव शंकर तो आने ही न पावें। हुकूमत में बड़ा रस है, और हुकूमत का अर्थ है दूसरों को निष्कारण भी रोक टोक, डॉट डपट करना, और अपनी शान नशीखत दिखलाना।

सफ्राजेटिज्म (स्त्रीराज्य)

लोग समझते हैं कि "सफ्राजेटिज्म" अर्थात् स्त्रियों का शासनादि कार्य में पुरुषों के तुल्य अधिकार चाहना, यह एक नयी बात पच्छिम के देशों हो में पैदा हुई है। ऐसा नहीं। बड़ा पुराना भाव है, और इसके पोषक उदार हृदय पुरुष भी हो गये हैं। आर्यशिरोमणि भीष्मपितामह इसी कोटि में हैं। स्त्रियों को, अपनी माताओं, बहिनों, पत्नियों को, सदा निन्दा करना, इस अभागे देश की चाल बहुत काल से हो रही है। मध्यकालीन सन्यासी शंकर से भी न रहा गया, कह मारा, "द्वारं किमेकं

नरकस्य नारी ।" संन्यासी को ऐसी निन्दा करने से क्या मत-लब ? स्वयं भी तो माता के गर्भ से ही जनमे थे, और तमाशा यह कि बड़े मातृभक्त थे, यहाँ तक कि सन्यासी होते हुए भी, उस आश्रम के नियम के विरुद्ध, इन्होंने माता का अंत्य संस्कार किया ! प्राचीन ऋषियों के भाव दूसरे थे ।

जीर्णे भोजनमात्रेयः गौतमः प्राणिनां दया ।
बृहस्पतिरविश्वासः भार्गवः स्त्रीषु मार्दवम् ॥

"जब पहिले किया हुआ भोजन पच जाय तब ही फिर भोजन करो, अन्यथा नहीं, यह आत्रेय ऋषि का उपदेश है; सब प्राणियों पर दया करो, यह गौतम का; अत्यंत विश्वास किसी पर मत करो, यह बृहस्पति का; स्त्रियों से सदा मृदुता का व्यवहार करो, यह भार्गव का ।"

वीरश्रेष्ठ भीष्म ने पुनः पुनः [शांतिपर्व, अ० २७२, चिरकारी उपाख्यान] में कहा है—

एवं स्त्री नापराध्नोति नर एवापराध्यति ।
व्युच्चरंश्च महादोषं नर एवापराध्यति ॥
नापराधोऽस्ति नारीणां नर एवापराध्यति ।
सर्वकार्यापराध्यत्वान्नापराध्यंति चांगनाः ॥

अर्थात, स्त्री चाहे जो कुछ करे अपराध पुरुषों का ही है, जो कुछ अपराध होता है वह स्त्रियों के विरुद्ध होता है । स्त्री नहीं अपराध करती । पुरुषों को कोई हक नहीं कि स्त्रियों को गाली दें । स्त्रियों को गाली देना स्त्रियों के ही जिम्मे छोड़ा जाय तो इस गाली देने के काम में कभी कोताही न होगी । एक दूसरे की बुराई पीठ पीछे खूब कर लेती हैं ! पुरुषों को

क्या प्रयोजन कि अवलाओं को गाली देकर अपना गौरव गांभीर्य खोवें और छिछोरापन दिखावें ?

तो इस तुल्याधिकार की अभिलाषा और प्रतिस्पर्द्धा से गणपतिजी की सृष्टि हुई। आज काल भी प्रत्यक्ष ही देख पड़ता है कि तुल्याधिकार के दावे से ही तो दलवन्दी होती है। और दल हुआ तो उस दल के अर्थात् गण के पति की, नेता नायक की, आवश्यकता होती है, और नायक वनाये जाते हैं, चाहे मिट्टी के ही क्यों न हों। इसी वास्ते गणपति का दूसरा नाम भी वैसा ही अन्वर्थ और अर्थगर्भ है। विनायक, "लीडर", शब्द का अर्थ ही है, विशिष्टो नायकः।

अच्छा तो अब नायक ही हो के क्या लाभ जो दलों में भिड़न्त न हो ? विना इसके दलादली का रस कैसे आवे ? तो गणेशजी को हुक्म हुआ कि शिवजी को रोक देना। "लीडर" लोग, दलपति, गणपति, लोग अपने दल की टेक रखने के लिये शिव को भी, भलाई को भी, रोक देते हैं, जव तक अपने हाथों से न हो। आज काल की पार्लिमेंटों में, कौंसिलों में, "आब्स्ट्रक्शन्", प्रतिरोध, की "पालिसी" कुछ ऐसी ही सी तो मालूम पड़ती है ! आप पूछेंगे कि "लीडर" "गणपति" कैसे जो पार्वती और जया और विजया के हुक्म में रहें ? तो आप अपने आँख के सामने का हाल देख लो। अंग्रेजी में "लीडर" शब्द का अर्थ नायक तो प्रसिद्ध ही है, पर उसका एक अर्थ और है। जैसे धौरेय और धुरंधर शब्द शकट के अगले वैल के लिये कहा जाता है, जो धुर का श्रम मुख्यतया उठावे, वैसे ही 'लीडर' शब्द उस घोड़े के लिये कहा जाता है जो जोड़ी या चौकड़ी में सब से अधिक

परिश्रम से अगुआ होकर गाड़ी खींचता है। दूसरे घोड़े 'ह्वीलर' कहलाते हैं। तो आज काल के, क्या सदा काल के, 'लीडर' अगुआ घोड़े के अर्थ में नायक होते हैं, उनके हांकने वाले उनके 'फालोअर्स', अनुयायी, कोचवान और गाड़ी पर सवार मुसाफिर, हुआ करते हैं। 'फालोअर्स' के हुक्म के मुताबिक 'लीडर' महाशय न चलें तो उनकी कम्बख्ती आ जाती है, लीडरी छीनकर दूसरे के सपुर्द की जाती है। इसीलिये हितोपदेश की पुस्तक में एक मतलबी स्वार्थी ने कहा है—

न गणस्याग्रतो गच्छेत् सिद्धे कार्ये समं फलम्।
यदि कार्यविपत्तिः स्यात् मुखरस्तत्र हन्यते॥

"गण के आगे न चले, मुखिया न बने। कार्य सिद्ध भया तो फल सबको बराबर ही मिलता है, यदि बिगड़ा तो मुखिया ही मारा जाता है।" अनुयायी लोग अपने हठ से, और अगुआ के कहने के विरुद्ध चल के काम बिगाड़ते भी हैं और फिर "लीडर" को बुरा भी कहते हैं!

दलों की मुठभेड़ और सुलह

शिव तो आने वाले थे ही। फाटक पर रोके गये। नया अपमान और बड़ा आश्चर्य हुआ। अपने गणों को आज्ञा दी कि इसको समझाओ। फिर 'हटाओ' की नौबत आई। फिर 'मारो' की। हुई मारपीट। गणपति तो मोटे ताजे खास इस काम के लिये बनाये ही गये थे।

भवद्भवनदेहलीविकटतुण्डदण्डाहति-
त्रुटन्मुकुटकोटिभिर्मघवदादिभिर्भूयते॥

"सूंड़ का झपेट टूटत मुकुट देवराज को।"

शिव के गणों को उन्होंने मार भगाया। और जिन देवों को, इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि को, अपनी सहायता के लिये वे बुला लाये उनकी भी यही दशा हुई। इधर से चंडिका लोग सब प्रकार से अपने गणपति की सहायता करती रहीं। अन्त में आगे से विष्णु लड़ने आये, उनसे गणपतिजी लड़ने में जो उलझे तो शिव ने मौका पाकर पीछे से जाकर गणपति का सिर त्रिशूल से काट डाला। दूसरे दल के लीडरों को धोखे से भी परास्त करना आज काल भी शुद्ध धर्म समझा जाता है। और भी अर्थ हो सकता है।

विसिनोति, व्याप्नोति, जगत् सर्वं इति विष्णुः,

महत्तत्त्व बुद्धितत्त्व का सारभूत, परमसात्विक, अव्यक्त होकर व्यापक, आध्यात्मिक ज्ञान। यदि अहंकार को तामस राजस बुद्धि से प्रेरित, अज्ञानी, अल्पज्ञानी, कोई जीव उस ज्ञान से लड़ेगा तो उस जीव का शिरच्छेद शिव-रुद्ररूपी उत्तम तमस् द्वारा होना उचित ही है। आगे चल के इनका फल अच्छा होगा। पर इस जीत का फल तत्काल अच्छा नहीं हुआ। चंडिका देवियाँ परम क्रुद्ध हुईं। बच्चे पर आपत्ति आवे तो गाय भी सिंहिनी हो जाय। प्रलय की तयारी हो गयी। जब मियां बीबी में लड़ाई ठने तो सिवाय गृहस्थी के प्रलय के और क्या हो सकता है। सर्वनाश होते देखकर नारदादि ऋषियों ने, जो उस समय के "एडिटर", पत्र-सम्पादक-स्थानीय थे, इधर उधर की "रिपोर्ट" जमा किया करते थे, संसार का हाल घूम घूम कर बड़े शौक

से देखा करते थे, और कलह और युद्ध में विशेष रस मानते थे, क्योंकि इनके बिना तो "पेपर" की बिक्री ही कम हो जाय—इन ऋषियों ने दोनों पक्षों को, "मैन वर्सस ब्रुन", को समझा बुझाकर सुलह कराई। प्रलय ही हो जाय तो फिर तमाशा देखने को कहाँ मिले, "पेपर" बिल्कुल बन्द ही हो जाय। यदि अज्ञान का सर्वथा उच्छेद हो जाय तो ज्ञान का भी प्रयोजन बाकी न रह जाय, सृष्टि समाप्त हो जाय, लीला बन्द हो जाय। चाहिये यह कि अज्ञान थोड़ी मात्रा में बना रहै, और ज्ञान की हुकूमत उस पर हो, तब लीला में सुख आवे। इसलिये विनायक के रूप में परिवर्त्तन होना आवश्यक हुआ। गणेशजी का अपना पहिला निर्बुद्धि लड़ाके लड़के का सिर तो मिला नहीं, नष्ट हो गया, विष्णु कहीं से खोजकर एक दांत वाले हाथी का सिर लाये, वही चिपका दिया गया, और गणेशजी चंगे होकर चटपट उठ बैठे। "लीडर" को, गणपति को, सब से बड़ा मूंड़ चाहिये ही। पार्वती के पुत्र तो थे ही, शिव ने भी उनको अपना बड़ा पुत्र माना, और गणमात्र के पति नियुक्त हो गये। सभी गणों के।

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे।

नारद

जीवस्य नरस्य इदं नारं, संसरणं, भ्रमणं, तद् ददाति इति नारदः, कलहप्रवर्त्तको बुद्धेर्भावः। जीव को संसार में भ्रमण कराने वाली कलहिनी बुद्धि की जो वासना है वही नारद। पर उस वासना के भी हृदय में विष्णुभक्ति छिपी है। आपो

नाराः अयनं शयनस्थानं यस्य स नारायणः, तत् स्थानं नारं मोक्षं अपि भ्रामणानंतरं ददाति इति बुद्धेः सात्त्विको भावः नारदः। परमात्मा के अयन शयन के स्थान को, मोक्ष को, जो संसार में भ्रमण कराने के अनंतर जीव को दे वह बुद्धि का सात्त्विकज्ञानात्मक भाव भी नारद।

गणपति की प्रतिष्ठापना तथा विवाह

पर सूखे साखे नीरस कुरस महा झंझटवाले गणपतित्व से गणेशजी को संतोष नहीं हुआ। "लीडर" लोगों को कुछ मिहनत के बदले रस भी तो मिलना चाहिए। थोड़ा अज्ञान तो रहा गया है। फर्माइश की कि मेरा व्याह भी होना चाहिये। पर "लीडर" महाशय अकेले कहाँ लीडरी का रस चीखने पाते हैं? शंकर के पहिले पुत्र छः मुखवाले, जिनके कई नाम हैं, षण्मुख, कार्त्तिकेय, स्वामिकार्त्तिक, साम्ब, सुब्रह्मण्य, सनत्कुमारावतार, गुह, कुमार, स्कंद, महासेन, तारकारि, आदि वे भी आ पहुँचे। एक एक नाम का अर्थ है। छः मुख से छः कृत्तिकाओं का दूध पीया था।

वि यस्तस्तम्भ षड् इमा रजांसि
अजस्य रूपे किमपिस्विदेकम्॥ (ऋग्वेद)

सौर सम्प्रदाय में, सौरजगत् में, सौर ब्रह्मांड में, जो पृथिवी के सदृश छः अन्य ग्रह आकाश में थमे हुए घूम रहे हैं, उन सब में से अनेकानेक जन्म जन्मांतर में घूमता हुआ, सबका अनुभव करके, सबका ज्ञान संचय करके, सबके दूध से पुष्ट होकर, जो महापराक्रमी जीव इस पृथिवी पर देवसेना का सेनानी होकर

आ टपका है, वह षण्मुख स्कंद, गणपति का भी बड़ा भाई। "लोडरी" में हिस्सा खाने को, काम में अड़चन डालने को, और "लोडर" को बहंकने से रोकने को भी, ऐसे बड़े भाई लोग आ ही जाते हैं।

अच्छा तो स्कन्दजी ने भी और गणपतिजी ने भी साथ ही व्याह की फर्माइश की। और मेरा आगे, मेरा आगे, की स्पर्धा हुई। जान छुड़ाने के लिये और समय टालने के लिये शिवजी ने कहा कि तुम दो में से जो पृथ्वी प्रदक्षिणा करके पहिले लौट आवे उसका व्याह पहिले किया जायगा। आज-काल कालापानी की बड़ी नाव पर पैर रखते ही हिन्दू को हिन्दू के भाई जात बाहर कर देते हैं। पहिले समय में सात समुन्दर पार करके सारी पृथ्वी की परिक्रमा की हिम्मत दिखाये बिना व्याह हो नहीं होता था। वोदे वेहिम्मत को कौन कन्या दे? अस्तु। षण्मुखजी फिर भी अपनी पुरानी घुमन्तू प्रकृति के अनुसार झट लाठी उठाकर पृथ्वी परिक्रमा को चल दिये।

गणेशजी ने क्या किया? गणेशजी भी उठे, और सात बेर शिव पार्वती की परिक्रमा करके सामने खड़े हो गये।

"अब्बाजी, अम्माजी, व्याह कर दीजिये।"

"पृथ्वीपरिक्रमा को न कहा था?"

"आपने एक बेर को कहा था, मैं तो सात बेर कर चुका, आपने देखा ही नहीं?"

"कैसे?"

"आपको और माता की, पुरुष परमात्मा की और उमा माया प्रकृति को, कई बेर परिक्रमा कर लिया, अपनी बुद्धि के

भीतर ही इनका तत्त्व पहिचान लिया, तो फिर इनके बाहर कौन पृथ्वी है जिसकी परिक्रमा बाकी है?"

"सचमुच तुम बुद्धिसागर हो, तुम्हारा ही ब्याह पहिले होना चाहिये।"

चले शंकर पार्वती कन्या की खोज में। ढूंढते ढूंढते विश्व-कर्मा विश्वरूप की दो कन्या, बुद्धि और सिद्धि, मिलीं। उनसे ब्याह किया गया। यही दो तो समस्त विश्व की सारभूत रत्न हैं।

इत्युक्त्वा तु समाश्वास्य गणेशं बुद्धिसागरम्।
विवाहकरणे तौ च मतिं चक्रतुरुत्तमाम्॥
एतस्मिन्नंतरे तत्र विश्वरूपसुते उभे।
सिद्धिबुद्धी इति ख्याते सर्वांगसुन्दरे शुभे।
ताभ्यां चैव गणेशस्य विवाहं चक्रतुर्मुदा॥
यथा चैव शिवस्यैव गिरिजाया मनोरथः।
तथा च विश्वकर्माऽसौ विवाहं कृतवांस्तदा॥
कियता चैव कालेन तस्य पुत्रौ बभूवतुः।
सिद्धेर्लक्ष्यस्तथा बुद्धेर्लाभः परमशोभनः॥

मालूम पड़ता है कि जहेज भी कुछ ठहराया गया था, नहीं तो यह तो जरूर ही करार विश्वकर्मा से करा लिया गया था कि खिलाना पिलाना बरात को अच्छी तरह। क्योंकि पुराण, जो कदापि झूठ नहीं कह सकता, और जिसमें क्षेपक का संदेह भी करना महापाप है, लिखता है कि जैसा जैसा शिव पार्वती का मनोरथ हुआ वैसा वैसा विचारे विश्वकर्मा ने विवाह में किया! न करता तो उसकी मुसीबत आ जाती। आजकल हिन्दुओं के विवाहों

में देख ही पड़ता है कि लड़की वाले की क्या क्या फजीहत होती है।

अच्छा, विवाह हुआ, तो अब विवाह का फल भी होना चाहिये। तो सिद्धि को एक पुत्र हुआ, उसका नाम लब्ध। [छपी पोथी में नाम "लक्ष" लिखा है, पर इससे विधि मिलती नहीं। "लक्ष-द" "लक्ष-द", लाख रुपया का एक साथ दान करने वाले की महिमा दानप्रशंसक कवि लोगों में बहुत प्रसिद्ध है, जो चाहते हैं कि किसी गाँठ के पूरे अकल के अधूरे राजा साहूकार की वाहवाही एक दो कवित्तों में कर दें और वे अपनी खुशामद से खुश होकर उनको लाख रुपये की थैली उठाकर दे देवें, चाहे भारी मिहनत करने वाले किसान पेट भर खाने को पावें या न पावें। स्यात् ऐसे ही भावों के कारण पोथी में "लक्ष" छप गया है। यह ठीक है कि कार्यसिद्धि होने से लक्ष रुपया मिल जाता है। पर लक्ष क्यों, कोटि क्यों नहीं? लक्ष तो छोटी चीज है। पुराने ऋषियों के भाव ऐसे नहीं थे। "पात्रे दान" की प्रशंसा उन्होंने यदि की है तो संतोष की प्रशंसा और भी अधिक की है। आज काल दान ही की प्रशंसा सुन पड़ती है, संतोष की नहीं। कथा प्रसिद्ध है, पर जितनी प्रसिद्ध होनी चाहिये उतनी नहीं, कि एक राजा ने सोने की मुद्राओं की थैली मंत्री को दी, और कहा कि किसी साधु महात्मा को देना। कुछ दिन पीछे राजा ने मंत्री से पूछा, "किसको दी"। उत्तर मिला, "अपने को"। "क्यों"? तो, "जो साधु महात्मा थे वे लेते नहीं थे, और जो लेते थे वे साधु महात्मा नहीं, मैं ही एक ऐसा मिला जिनमें दोनों गुण, साधु भी और लेनेवाला भी"। बहुधा देख पड़ता है कि लंबे चौड़े

मोटे ताजे गेरुवाधारी वेफ़िक्र महाशय, दुबले पतले सूखे साख तरह तरह की चिंताओं और आश्रितों के बोझों से लदे हुए गृहस्थ के सामने आ बैठते हैं, और कहते हैं, "आप भाग्यवान् हो, आपको साधु महात्मा का दर्शन हुआ है, आप दानी सुन पड़ते हो, कुछ सेवा करो, हमारे साथ पचास मूर्त्तियाँ हैं. आज आपही के जिम्मे हलवा पूरी की सेवा हो"। और हिंदू गृहस्थ की बुद्धि आज सैकड़ों वर्ष से ऐसी कुंठित और अन्धश्रद्धाजड़ बनाई जा रही है कि उस से यह उत्तर देते नहीं बनता, कि "महाशय! आप अपने मुंह से साधु महात्मा बनते लजाते नहीं हो, आप स्वयं भी कुछ दूसरों की सेवा करते हो या दूसरों ही से सेवा चाहते हो, आपने मुझे दानी सुना है तो मैं भी आपको संतोषी सुना चाहता हूँ, आपके पुरखा सच्चे साधु महात्मा ऐसे होते थे कि दूसरों का काम साधते थे (साध्नोति परेषाम् शुभान् कामान् इति साधुः) और माँगना तो दूर रहा, कोई कुछ देता था तो भी नहीं लेते थे।" पर यह सब बातें कहाँ। वर्त्तमान समय में न उचित संतोष ही न उचित दान! 'लक्ष' 'लक्षद' करके, अपात्र कुपात्र को राजस तामस दान की मिथ्या प्रशंसा का फल यह हुआ है कि थोड़े से मिथ्यादानी और जनता का बहुत बड़ा भाग भिखमंगा और मोघजीवी होगया है, और बुद्धि सिद्धि देश से दूर चली गई है।

तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो भुंक्ते स्तेन एव सः॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः।

अघायुरिंद्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥(गीता)

ऐसे हेतुओं से सिद्धि का पुत्र 'लक्ष' नहीं होना चाहिये। तथा च सिद्धि का पुत्र तदनुरूप होना चाहिये न?

तो उसका अनुरूप पुत्र "क्षेम" नहीं, "लक्ष्य" ही है। जो ही कुछ जिस किसी का लक्ष्य हो उसी का लाभ उसके लिये सिद्धि है। यदि वराटिका तो वराटिका ही की सिद्धि। यदि इंद्रत्व, गणपतित्व, ब्रह्मत्व, तो इंद्रत्व, गणपतित्व, ब्रह्मत्व की सिद्धि।] जैसे सिद्धि का उचित प्रसव लक्ष्य हुआ वैसे ही बुद्धि को भी लाभ नामक पुत्र हुआ, अथवा लाभोपाय कहिये। सच पूछिये तो मुझे ऐसा भान होता है कि यहाँ भी ग्रन्थित लिखी और छपी पोथियों में पाठ का व्यतिक्रम हो गया है।

बुद्धेर्लक्ष्यस्तथा सिद्धेर्लाभः परमशोभनः।

ऐसा होता तो अधिक ठीक होता। बुद्धि तो लक्ष्य को और उसके लाभ के उपाय को, मार्ग को, निर्णय करती है, और क्रियाशक्ति, सिद्धिशक्ति, उस लक्ष्य को सिद्ध करती है, साध लेती है, लक्ष्य का लाभ करती है।

गणपतित्व की कठिन शर्तें।

बस, गणपतिजी महाराज, सिद्धि और बुद्धि की पत्नी, और लक्ष्य और लाभ को पुत्र, प्राप्त करके सुख से गृहस्थी करने लगे और सब के अग्रपूज्य बने। जिसकी ऐसी गिरस्ती हो उसकी पूजा कौन न करे। और जो आज काल के शिक्षित महाशय एकपत्नीव्रत पर बड़ा आग्रह करते हैं, उनको यदि ऐसी दो भार्याएं और ऐसे दो पुत्र मिलने का संभव देख पड़े, तो मैं समझता हूँ कि अवश्य ही वे अपना एकपत्नीव्रत का आग्रह छोड़ दें। पर, मित्रो, गणपति होने और ऐसी दो भार्या और ऐसे दो पुत्र मिलने के जो समय है, जो शर्तें हैं,

उनका पालन करना सरल नहीं है, इसको खूब समझिये। पहिले एक सिद्धान्त पर, एक पक्ष पर, अटल होकर सब से लड़ाई लड़ना और उसमें अपना सिर तक कटा देना, फिर एक दाँत वाले एक हाथी का सिर पहिनना। अपनी आँख के सामने की "हिस्ट्री" को, "इति+ह+आस" नहीं, बल्कि "इति+ह+अस्ति" को देखिये। जो जन "लीडर" बनना चाहते हैं, बुद्धि-पूर्वक, अपने यत्न से, अथवा अबुद्धिपूर्वक, अन्तरात्मा की प्रेरणा से, पूर्वकर्मानुसार, दूसरों के हठ से, जबरदस्ती "लीडर" बनाये जाते हैं, उनको क्या क्या दुर्दशा भोगनी पड़ती है। पहिले तो वे प्रायः कुछ दिनों तक एकपाक्षिक और टेकी जिद्दी लड़ाके होते हैं। पर क्रमशः जब उनको युद्धशक्ति देख कर कुछ लोग उनके साथ हो जाते हैं तब उनको अपनी राय छोड़नी पड़ती है, और जो "सब की राय", अर्थात् भूयिष्ठ की राय हो, वह माननी पड़ती है। यथा "सर्वं पदं हस्तिपदे निमग्नं", तथा "सर्वं सुण्डं हस्तिसुण्डे निमग्नं।" सब से बड़ा सिर, बहुतर बहुतम मत का सिर, हाथी का है। उसमें भी दाँत एक ही होना चाहिये। द्वन्द्व नहीं, द्वैत नहीं, द्विविधा नहीं। और भी। मनुष्य के सिर में केवल ज्ञानेंद्रिय और ज्ञानशक्ति है, हाथी के मुण्ड में ज्ञान-शक्ति के साथ साथ प्रधान कर्मेन्द्रिय हस्तरूपी नासिका शुंड भी है। अर्थात् लीडर महाशय को ज्ञानी भी और कर्मण्य भी होना चाहिये। जो ऐसे ज्ञान-कर्म-आत्मक बहुमत को अपने कन्धे पर ओढ़कर संभाल सकें, और छोटे से छोटे चूहों को भी और बड़े से बड़े हाथियों को भी एक ही घर में रख सकें, बल्कि हाथी का सूंड लेकर चूहों की पीठ पर इस नज़ाकत और

होशियारी से बैठें कि चूड़ा चिपटा हो जाने के ठिकाने और भी चेतन और जानदार हो कर दूसरे विरुद्ध दल वालों के रास्ते में दिल ही मिल कर दें, वे ही सब दलों, सब छोटों और बड़ों, का सम्मेलन करके लीडरी, नायकी, चौधराहट, चतुर्धरता, पेशवाई, सर्वगणपतित्व को निबाह सकते हैं। यह सब तभी हो सकता है जब उनमें कर्मयोग-साधक एकरूंतात्मक अद्वैतभाव हो, दुजागरी नहीं, नहीं तो भेदबुद्धि जोर करके दलों को छिन्न भिन्न कर देगी। एक को अधिक खुश किया तो दूसरे बिगड़े। दूसरे को ज्यादा अपनाया तो एक बिगड़े। महा कठिन काम है सब को खुश रखना। अँग्रेजी में कहावत है "प्लीज आल् प्लीज नन", अर्थात "सब के तोषण के जतन सब को रोषण होय"। पर "लीडर" को यही करना पड़ता है। यदि ठीक ठीक एकदन्त हो तो स्यात् कथंचित् कुछ कृतार्थता पावे। और इसके साथ साथ "लीडर" महाशय को "लक्ष्य" का भी ज्ञान होना चाहिये, क्या लक्ष्य है जिसकी सिद्धि चाहिये, तथा उसके लाभ के उपाय की बुद्धि भी होनी चाहिये, और बड़ी एकदंतता, एकाग्रता, एक-लक्ष्यता से उसके साधने में लगना चाहिये। "इक साधे सब ही सधै सब साधे सब जाय"। नहीं तो लीडरी बहुत दिन तक नहीं चल सकती। बड़ी कठिन शर्तें हैं।

लक्ष्य और लाभोपाय और लाभ

आज काल तो प्रायः यही देख पड़ता है कि न लक्ष्य का ही स्पष्ट ज्ञान है, न उसके लाभोपाय की सुविचारित सुव्यवस्थित

बुद्धि है। विचारी सिद्धि कहाँ पास आवे। आपको क्या चाहिये, इसको यथाशक्ति सुस्पष्ट निर्णय कर लीजिये। तत्पश्चात् किस एक प्रकार से, अथवा किन किन विविध प्रकारों से, वह लक्ष्य प्राप्त हो सकता है, इसको यथाशक्ति यथाबुद्धि पूरे परिश्रम से विचार करके, लाभोपायों को स्थिर कर लीजिये। तब काम में प्रवृत्त हूजिये।

सहसा विदधीत न क्रिया-
मविवेकः परमापदां पदं।
वृणते हि विमृश्यकारिणं
गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः॥ (भारविः)
गुणवदगुणवद्वा कुर्वता कार्यजातं
परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्तेर्
भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः॥ (भर्तृहरिः)

"जल्दबाजी से काम नहीं करना। अविवेक से बड़ी बड़ी आपत्तियाँ सिर पर पड़ती हैं। अच्छी तरह सोच विचार कर काम करने वाले के गुणों पर लुभा कर संपत्तियाँ आप ही उस के पास आती हैं। कार्य आरंभ करने के पूर्व पंडित को चाहिये कि अच्छी प्रकार उसके गुण और अवगुण को विचार ले और क्या परिणाम होगा इसका यथाशक्ति निश्चय करले। बहुत जल्दबाजी से किये हुये कामों का फल ऐसा हो जाता है कि मरते दम तक हृदय में कांटा चुभा और जला करता है।"

पर इस बात का अर्थ यह मत लगा लीजियेगा कि चुप बैठना अच्छा है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ (गीता)

"उचित कर्त्तव्य कार्य करने ही का अधिकार तुमको है, फल पाने का अधिकार नहीं है। कर्म का फल मुझको मिले—ऐसी बुद्धि मत करो, मत यह बुद्धि करो कि मैं कुछ कर्म न करूँ।"

काम भी अवश्य कीजिये, पर आगा पीछा भी अवश्य पहिले सोच लीजिये, और फल को परमात्मा पर छोड़िये, तब गणपतित्व चमकेगा।

निर्वचन और बुद्धि

गणपति के स्वरूप और सामग्री का और भी अर्थ किया जा सकता है। निरुक्त शास्त्र में प्रसिद्ध है कि वेद का अर्थ कई प्रकार से करना चाहिये, यौगिक, याज्ञिक, ऐतिहासिक, आदि। सांख्य के शब्दों में कहने से तीन मुख्य प्रकार ठहरते हैं, आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक। प्रत्यक्ष ही है कि पुरुष अर्थात् आत्मा, प्रकृति अर्थात् भूत, और उनके सम्बन्ध की शक्ति अर्थात देव की ही लीला यह सब संसार है। संसार के प्रत्येक पदार्थ में ये तीनों हैं। इसी से तीनों भाव हर जगह मिलते हैं। वेद के वाक्यों के भी तीन मुख्य अर्थ होना उचित है। और जैसे वेद का निर्वचन करना उचित है, उससे भी अधिक आवश्यक है कि पुराणों के वाक्यों का निर्वचन किया जाय। पर कालगति से वह सब ज्ञान इस देश से प्रायः लुप्त हो गया जिसके बल से ऐसा निर्वचन किया जा सकता है। और उसके स्थान पर शब्दाडम्बर, मिथ्या दुराग्रह, परस्पर ईर्ष्या, यही अधिक देख

पड़ता है। यदि कोई गणपति के पुराणोक्त रूप को रूपक कहकर उसका निर्वचन करना चाहे तो स्यात् वह नास्तिक और म्लेच्छ और पतित और अस्पृश्य समझा जायगा। "धर्म के विषय में बुद्धि को मत लगाओ"—यही हुक्म सुन पड़ता है। यद्यपि अग्रपूज्य गणपति का विशेष विशेषण "बुद्धिसागर" है! हनुमान् भी 'बुद्धिमतांवरिष्ठ" कहे जाते हैं, "शास्त्रसागर" और "शास्त्रिवरिष्ठ" नहीं। दर्शन का सिद्धान्त है कि सृष्टि का पहिला आविर्भाव, प्रकृति का प्रथम परिणाम, महत् तत्त्व=बुद्धि तत्त्व है। प्रकृतेर्महान् अर्थात् बुद्धिः।

सर्वमान्य भीष्म का आदेश है,

तस्मात् कौन्तेय विदुषा धर्माधर्मविनिश्चये।
बुद्धिमास्थाय लोकेऽस्मिन् वर्तितव्यं कृतात्मना॥
(शान्तिपर्व, अ० १४१)

उत्सर्गेणापवादेन ऋषिभिः कपिलादिभिः।
अध्यात्मचिंतामाश्रित्य शास्त्राण्युक्तानि भारत॥
(अ० ३६०)

जाजले तीर्थमात्मैव मास्मदेशातिथिर्भव।
कारणैर्धर्ममन्विच्छन् स लोकानाप्नुते शुभान्॥(अ०२६१)

अर्थात् धर्माधर्म का निर्णय कृतात्मा आत्मज्ञानी मनुष्य बुद्धि से ही कर सकता है, और ऐसी ही आध्यात्मिक बुद्धि के बल से कपिलादि ऋषियों ने सब शास्त्र बनाये। उत्सर्गरूपी साधारण नियम भी बनाये, और विशेष विशेष अवस्थाओं के विचार से उन नियमों के अपवाद भी कहे। सब से बड़ा सच्चा तीर्थ आत्मा ही है। दूसरे तीर्थों में क्यों भटको। अपने

भीतर ही धर्माधर्म को हेतुपूर्वक विचारो। जो मनुष्य हेतुयुक्त धर्म पहिचानता और करता है वही शुभ लोकों को पाता है।

जिस धर्म में धर्माधिकारी लोग बुद्धि का, जिज्ञासा का, शंकासमाधान का, कार्य-कारणान्वेषण का, विचार का, ही तिरस्कार करेंगे, वह धर्म अवश्य डूबेगा। यही कारण है कि जब से "सनातन" धर्म में यह "अधुना-तन" अबुद्धि घुसी है, और उसका "बौद्ध"—स्वरूप इस देश से बिलकुल निकाल दिया गया, तब से, अर्थात् कोई बारह सौ वर्ष से, यह धर्म परायों की जूतियाँ खाता ही चला आता है और सिकुड़ता ही जाता है।

अविद्यायामंतरे वर्त्तमानाः
स्वयंधीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
जंघन्यमानाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥ (कठोपनिषत्)

अविद्या में बूड़े, भेद-बुद्धि में सने, अपने को बड़ा धीर बड़ा पंडित मानते हुए, निष्कारण "छूओ मत" से ही धन्यम्मन्य पवित्रम्मन्य, समानरूप पाँचभौतिक त्रिगुणात्मक शरीरों में बिना प्रत्यक्ष अशुचितादि अस्पृश्यता का कारण हुए भी गूढ़ आत्यन्तिक जन्मना वर्णभेद मानते हुए, वज्रसूच्यादि वेदोपनिषदों की विस्पष्ट शिक्षा का अहंकारवशात् अवहेलन करते हुए, ऐसे लोग ही यदि इस महासार्थ के नेता गणपति बने रहेंगे, तो अवश्य यह सार्थ अन्धनीतांध की दशा को प्राप्त होकर गहरे गढ़े में गिरेगा।

इस लिये, प्रिय विद्यार्थीजन, आप लोग, जिन ही पर देश के भविष्य उत्कर्ष को, उन्नति की, आशा आश्रित है,

जो ही हमारे भविष्णु, शुभंयु, प्रीतिपात्र हों, जो ही पूर्व पुरुषों और उत्तर पुरुषों का उद्धार कर सकते हों, सच्चे गणपति का अनुकरण करना, मिथ्या गणपतियों का नहीं। अथच, संसार का तथा अध्यात्म का अनुभव प्राप्त करके स्वयं सच्चे गणपति बनने का यत्न करना। तभी पतित देश का उद्धार करोगे।

आध्यात्मिक अर्थ

गणपति के रूपक का जो अर्थ आप लोगों से अब तक मैंने कहा वह अधिभूत और अधिदैव मिश्रित है। एक और सीधा सादा अर्थ यह है कि प्रत्यक्ष ही घर के भीतर सबसे अधिक आदर और फिक्र सबसे छोटे बच्चे की की जाती है। और जितना हो मोटा ताजा बच्चा हो उतना ही अच्छा लगता है। और हाथी के बच्चे से बढ़ कर कोई बच्चा अधिक गोल मोल नहीं होता। अब दूसरा अर्थ सुनिए। मेरे एक मित्र (श्री चम्पतरायजी जैन, अवध प्रान्त के हरदोई नगर के बारिस्टर) ने (अपनी "गऊ-वाणी" नामकी छोटी पर बड़ी उत्तम पुस्तक में) बड़े यत्न से इस रूपक का शुद्ध आध्यात्मिक अर्थ भी निकालने का यत्न किया है। वह भी कुछ घटा बढ़ा कर और शब्दों को बदल कर, आपको सुना देता हूँ।

वस्तुओं को काट डालनेवाले चूहों का अर्थ विवेचक, विशेषक, विभाजक, विच्छेदक, भेदकारक, विस्तारक, व्यासकारक, विश्लेषक ("एनालिटिकल्") बुद्धि है, जो बुद्धि संकरमय संसार के अवयवों को पृथक् पृथक् करके पहिचानती है, विशेषों को पकड़ती है। "अणुरपि विशेषोऽध्यवसायकरः"।

"युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम्"। अर्थात् वस्तुओं के सूक्ष्म सूक्ष्म विशेषों को ही पहिचानने से उनके विषय में निश्चयात्मक ज्ञान होता है। और मन का यह विशेष लक्षण है कि वह दो ज्ञानों को साथ उत्पन्न नहीं होने देता।

अपना सिर कटना अहंकार का नाश है।

हाथी के सिर का नर शरीर से जुटना—यह संयोजक, समाहारक, समासकारक, समूहक, अनुगमक, अभेद-साधक, समन्वय-कारक, विरोध-परिहारक, संश्लेषक ("सिंथेटिकल") बुद्धि है। सबसे बड़ा हाथी का सिर "महद्-बुद्धि" का सूचक है, जिसी का दूसरा नाम महानात्मा है।

> सर्वेषामेव भावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्।
> ह्रासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु ॥
> सामान्यमेकत्वकरं विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्।
> तुल्यार्थता तु सामान्यं विशेषस्तु विपर्ययः ॥ (चरक)

अर्थात् "यदि सामान्य अंश पर ध्यान दें, तो एका और विस्तार बढ़ता है। यदि विशेष अंश पर ध्यान दें, तो भेदभाव, पृथक्त्व और संकोच बढ़ता है। संसार में दोनों ही काम कर रहे हैं"। यथा, यदि कहें, "हम भारतवासी", तो भारत-वासितारूपी सामान्य गुण पर ध्यान देने से बत्तीस कोटि मनुष्य एक में आ जाते हैं; यदि कहें कि हम ब्राह्मण, तो कुछ लाख ही रह जायँगे। उस पर भी कनौजिया, उस पर भी पंक्ति-पावन, तो दस ही बीस बच जायँगे।

> बुद्धिरात्मा मनुष्यस्य बुद्धिरेवात्मनो गतिः।
> यदा विकुरुते भावं तदा भवति सा मनः ॥

(म० भा० शांति० अ० २५४)

"त्रिकालदर्शिनी बुद्धिः"। "स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्वः"।

अर्थात् बुद्धि ही आत्मा है, आत्मा की गति, आत्मा का स्फुरण, आत्मा की ज्योति का ही नाम बुद्धि है। बुद्धि ही जब विशेष भाव को पकड़ती है तब मन हो जाती है। बुद्धि ही तीनों काल देखती है। सब बुद्धियों का साक्षी, सब अनुभवों का अनुभव करने वाला आत्मा है। इत्यादि वाक्यों से इस बुद्धि की सूचना होती है। जीव को दोनों प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता है। चूहों को भी, हाथी की भी, विशेष ज्ञान की भी, सामान्य ज्ञान की भी, अनेकज्ञान की भी, एकज्ञान की भी।

संमतं विदुषां ह्येतद् समासव्यासधारणम् ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।

तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ (गीता)

विद्वानों को यह प्रिय है कि ज्ञान के संक्षिप्त रूप को भी और विस्तृत रूप को भी, सूत्र को भी और भाष्य को भी, बुद्धि में रखें। जब संसार के अनंत नानात्व को एक आत्मा में बैठा हुआ, और उसी एक से सब नाना वस्तुओं को निकला हुआ, जीव पहिचान लेता है तभी उसका ब्रह्म अर्थात् वेद अर्थात् ज्ञान संपन्न होता है और वह स्वयं ब्रह्मतत्त्व हो जाता है।

भेद देखना, व्यक्तियाँ देखना, यह साधारण जीव का काम है। वैदृश्य में सादृश्य देखना, व्याप्तिग्रह से अनुगम करना, "सिमिलारिटी इन् डैवर्सिटी" पहिचानना, यह न्यायशास्त्री, "सायंटिस्ट" का काम है। अनेक में एक देखना, भेद में अभेद, वैदृश्य में सादृश्य के कारण को परमात्मा का ऐक्य

जानना, "यूनिटी इन् डैवर्सिटी" समझना, यह वेद की अंतिम बात, ज्ञान की पराकाष्ठा, वेदांत है।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बंधं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥
सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकं॥
(गीता)

अर्थात् प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भय और अभय, बंध और मोक्ष के सच्चे स्वरूप को जो बुद्धि पहिचानती है वही बुद्धि सात्विक है।

इसी बुद्धि के बल से गणेश को बुद्धिसागर का विशेषण प्राप्त हुआ है, विद्यार्थियों के विशेष रूप से इष्टदेव बने हैं, सब विद्याओं, सब शास्त्रों के शिक्षक, प्रवर्त्तक, निर्माता हैं। बिना इस बुद्धि के शास्त्र बेकार हैं।

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
नेत्राभ्यां तु विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति॥

जिसको अपनी निजी बुद्धि नहीं उसको दूसरे की बुद्धि-रूप शास्त्र क्या सहायता कर सकता है। जिसको आँख नहीं वह दर्पण लेकर क्या करेगा?

एकदंतता इसी अद्वैत बुद्धि का सूचक है। चूहों का अर्थ यह भी हो सकता है कि इस बुद्धि के प्राप्त करने में हजारों छोटे मोटे विघ्न होते हैं। अमरत्व इसको न मिले, जीव मेरे ही काबू में रहे, इसलिये अविद्या देवी हजारों विघ्न किया करती हैं। जो वाहन और साधक हैं वे ही बाधक बना दिये जाते

हैं। यथा "शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः"। शुचिता की जब वृद्धि होती है तब पहिले अपने शरीर से जुगुप्सा, और पीछे दूसरों से असंसर्ग होना चाहिये। पर देखा क्या जाता है? सच्ची शुचिता तो है नहीं, केवल दंभात्मक दर्पात्मक पवित्रं-मन्यता अधिकतर फैली है। अपने शरीर से तो जुगुप्सा के स्थान में परम राग, "हमारा शरीर दूसरों के शरीरों से बहुत पवित्र है"—जन्मतः ही, उत्तम रूप रङ्ग स्नान सदाचार मेध्याहारादि के हेतुविचार की कोई आवश्यकता ही नहीं। तपस्या से उसको कृश करने के स्थान में सुस्निग्ध पालन पोषण। दूसरों से असंसर्ग का अर्थ व्यवहारवर्जन नहीं किंतु केवल मिथ्या "छूओ मत," "छूओ मत"। इस सबका क्या फल है? जो ही शौच सात्त्विक होने से ब्रह्मज्ञान का साधक होता, वही राजस तामस होकर, अहंकार, द्रोह, और दंभ से प्रेरित होकर, उस अभेददर्शन में नितान्त बाधक हो जाता है।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततां च सहस्राणां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ (गीता)

हजारों में एक सिद्धि पाने का यत्न करता है। और हजारों यत्न करने वालों में कोई मुझ, मैं को, आत्मा को, परमात्मा को, ठीक ठीक पहिचानता है।

यह अभेदबुद्धि "बहूनां जन्मनामन्ते" जीव को प्राप्त होती है। इसलिये एतत्स्वरूप गणेश सब से छोटे, सब से पीछे जन्मे, बालक रूप हैं। पर छोटे होने पर भी वृद्धों से वृद्ध हैं, "पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्"। पुरानों के भी पुराने हैं, कालातीत हैं, प्रधानप्रकृति के पहिले आविष्कार हैं। इसलिये सब के आगे

इन की पूजा होती है। यदि बुद्धि ही की पूजा नहीं, तो कार्य की सिद्धि कहाँ? आज काल के बुद्धि-द्रोहियों को इस पर विचार करना चाहिये। पर यदि विचार कर सकते तो बुद्धिद्रोही क्यों होते। यदि बुद्धिद्रोही हैं तो विचार कैसे करेंगे। अमेद्य-चक्र है। कोई अभिमन्यु परमात्माभिमानी ही इसे भेद सकता है। स्यात् उसकी मृत्यु भी इसी भेदन में हो। पर रिपु अवश्य पराहत होंगे।

अच्छा, इस हाथी को "मोदक" बहुत प्रिय है। क्यों न हो। ब्रह्मबुद्धिवाला जीव, "नित्यानन्दः परमसुखदः केवलो ज्ञानमूर्तिः," तो मोदस्वरूप ही, सदा ब्रह्मानन्द में, "भूमा वै सुखं" में, मग्न ही है। उसको मोदक के सिवा और क्या अच्छा लगे?

एकदन्त है, अद्वैतवादी है, लम्बोदर है, अनन्त ब्रह्मांड रूप प्रत्यक्ष गोल लड्डुक जिसके उदर में हैं, "जगंति यस्यां स-विकासमासत," प्रत्यक्ष चमड़े की आँख से देख पड़नेवाला आकाश ब्रह्म, जिसमें ये सब ब्रह्म के अंड ब्रह्मांड, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, बुध, शुक्र, बृहस्पति, शनि, तारागण, फिर रहे हैं, ऐसा महाप्राणी, महाविराट् लम्बोदर न हो तो और क्या हो?

यह हुआ गणपति का आध्यात्मिक रूप। ब्रह्मवैवर्त पुराण, गणेश खण्ड, में लिखा ही है—

ज्ञानार्थवाचको गश्च णश्च निर्वाणवाचकः।
तयोरीशं परं ब्रह्म गणेशं प्रणमाम्यहम्॥

"ग" का अर्थ ज्ञान, "ण" का अर्थ निर्वाण, दोनों का ईश गणेश अर्थात् ब्रह्म, उसको नमस्कार है।

तथा लिंगपुराण में भी यही बात दूसरे शब्दों से कही है। अर्थात्, शिव ही गणेश रूप हो गये।

ततस्तदा निशम्य वै पिनाकधृक् सुरेश्वरः।
गणेश्वरं सुरेश्वरं वपुर्दधार सः शिवः॥
(अ० १०५)

घूम फिर के सभी देवता परमात्मा ही के नाम और रूप हैं; और असली गणपति भी और महादेव भी वही हैं।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु-
रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति
अग्निं यमं तरिश्वानमाहुः॥ (ऋग्वेद)
एतमेके वदंत्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम॥ (मनु)

जो गणपति के इस असली आध्यात्मिक स्वरूप को हृदय में सदा धारण करेंगे वे ही सच्चे गणपति स्वयं बन सकेंगे।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

गणपतित्व की मुसीबतें

गणपतित्व की मुसीबतें आप लोग आँख के सामने देख रहे हो। यह नई बात नहीं है, बहुत पुरानी है। पाँच हजार वर्ष पहिले कृष्ण इसी विषय का अपना रोना नारद से रोये। उनकी जीवनी के ऐसे अंशों पर आजकाल भक्तजन कम ध्यान देते हैं। देना चाहिए। बड़ी व्यवहार-शिक्षा मिलती है। अपने मामा कंस को मारकर कृष्ण ने नाना उग्रसेन को राज-

गद्दी पर बिठा कर मथुरा में काम चलाना चाहा, और शराब-कबाब-प्रधान मद्य-मांस-भूयिष्ठ इन्द्रमख को बन्द करके कृषि-प्रधान गोमख की प्रतिष्ठा करने का यत्न किया।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदंत्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
क्रियाविशेषबहुलां···तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

इत्यादि गीता के श्लोकों से, तथा भागवत (११ स्कन्ध) के—

फलश्रुतिं कुसुमितां न वेदज्ञा वदन्ति हि।
अग्निमुग्धा धूमतांता स्वं लोकं न विदन्ति ते॥
हिंसाविहारा ह्यालब्धैः पशुभिः स्वसुखेच्छया।
यजन्ते देवता यज्ञैः पितृभूतपतीन् खलाः॥
उपासत इन्द्रमुख्यान् देवादीन्न तथैव माम्॥

अर्थात, यह जो, वेद वेद कर के, नासमझ लोग, छोटी छोटी व्यर्थ क्रियाओं से भरी कर्मकांड की बात सदा किया करते हैं, मानों दूसरी कोई बात है ही नहीं, उसके भुलावे में आकर, भोग और ऐश्वर्य मिलैगा इस लालच में पड़कर, मनुष्य अपना सच्चा कल्याण नहीं पहिचानते और ब्रह्मज्ञान के लिये दृढ़ निश्चय करके समाधि में बुद्धि को नहीं लगाते। इस फूलपत्ता सी फैलाई, लुभावनी फलश्रुति के फेर में पड़ कर अग्नि जलाते और धूआं खाते हैं. जिह्वा के सुख के लिये यज्ञ के बहाने हिंसा करते हैं, राजस तामस देवताओं की पूजा करते हैं, और मुझको, मैं को, परमात्मा को भूल जाते हैं।

इत्यादि वाक्योंसे, कृष्णके समाजसुधारसंबन्धी भाव जान

पड़ते हैं। शांतिपर्व, अ० २७१ में भी हिंसायज्ञों को धूर्तप्रवर्त्तित कहा है। बुद्ध शंकर आदि ने भी अति-क्रिया-बहुल बुद्धिनाशक कर्मकांड की निन्दा की। पर समाजसुधारकों की जो दशा सदा होती है वही कृष्ण की हुई। एक सौ आठ वर्ष पृथ्वी पर रहे। स्यात् ही कोई दिन बीता हो जिसमें लाठी सोंटा डंडा उनसे और दूसरे से नहीं चला। मार खाना और मारना ही मुख्य काम रहा। मथुरा में उनको उनके पड़ोसियों ने, उद्धत, कहा "मिलिटरिस्ट" सेनावादी, युद्धवादी, शस्त्रवादी, बलवादी, क्षत्रियों ने, अपने मनमाना प्रबन्ध प्रजा का नहीं करने दिया। सत्रह बेर जरासन्ध ने मथुरा पर धावा किया। अन्त को पाँच सौ कोस दूर, मरुधन्व के पार जाकर, समुद्र के किनारे, कृष्ण ने द्वारका बसाया। समुद्र ही से तो लक्ष्मी देवी का प्रादुर्भाव होता है। जैसा अँग्रेजों को हुआ। ज़मीन से तो अन्नपूर्णा ही मिलती हैं। अस्तु। द्वारका में अन्धक-वृष्णि-संघ के रूप में कृष्ण ने एक चाल के संघराज्य, गणराज्य, "रिपब्लिक" अथवा "आलिगार्की" की स्थापना करने की परीक्षा "एक्सपेरिमेंट", किया। बड़ी कठिनता पड़ी। नारद से इसी का रोना रोये। "अपने दिल का हाल किससे कहूँ। तुम मेरे पुराने सच्चे मित्र हो, इससे तुमसे कहना चाहता हूँ।" "कहिये महाराज, अवश्य।" "सुनो।"

दास्यमैश्वर्यवादेन ज्ञातीनां तु करोम्यहम्।
अर्धं भोक्तास्मि भोगानां वाग्दुरुक्तानि च क्षमे।
अरणीमग्निकामो वा मथ्नाति हृदयं मम।
वाचा दुरुक्तं देवर्षे तन्मां दहति नित्यदा॥

बलं संकर्षणे नित्यं सौकुमार्यं सदा गदे ।
रूपेण मत्तः प्रद्युम्नः सोऽसहायोऽस्मि नारद ॥
स्यातां यस्याहुकाक्रूरौ किंनु दुःखतरं ततः ।
यस्य चापि न तौ स्यातां किंनु दुःखतरं ततः ॥
सोहं कितवमातेव द्वयोरपि महामुने ।
एकस्य ज यमाशंसे द्वितीयस्यापराजयम् ॥
(म० भा० शांति० अ० ८१)

"नाम तो मेरा ईश्वर पुकारा जाता है, पर काम मेरा गुलामी करने का है। मजा दूसरे लेते हैं, मिहनत मैं करता हूँ। सुख-भोग बहुत थोड़ा और गाली-भोग बहुत अधिक मिलता है। जिनका भला चाहता हूँ, जिनके लिये दिनरात पिसौनी पीसता हूँ, वे ही सबसे अधिक मुझे बुरा कहते हैं। आग बालने के लिये जैसे आदमी अरणी के ऊपर, मन दे के, वेग से, अग्निकाष्ठ को मथता है, वैसे रस से ये सब मेरे रिश्तेदार मेरे हृदय को गालियों से और निंदा से नित्य मथा करते हैं। इसके कारण दिन रात मेरा हृदय जला करता है। बलदेव, मेरे बड़े भाई साहब, अपनी भुजा ही देखा करते हैं, और बल के मद में मस्त रहते हैं। छोटे भाई साहब, गद, अपनी सुकुमारता के मारे चूर रहते हैं। चिरञ्जीव प्रद्युम्नजी महाराज को अपना सुन्दर मुखड़ा ऐना में निहारने ही से छुट्टी नहीं मिलती। दुनिया भर के झंझट का काम जो मेरे सिर पर लदा है, उसके ढोने में कोई मेरी सहायता नहीं करता। उग्रसेन-आहुक, और अक्रूर, दोनों मेरे तो बड़े भक्त बनते हैं, और हैं भी, पर आपस में इतना लड़ते हैं कि मेरे नाकों दम रहता है। जिसके पास ऐसे दो भक्त न हों

उसकी जिंदगी व्यर्थ है। और जिसके पास ऐसे दो भक्त हों, उसका जीवन और भी व्यर्थ है। मेरी तो हालत उस अम्मा की ऐसी हो रही है जिसके दो जुआरी पुत्र हों, और आपस में ही जूआ खेलें, और उसका दिन यही मनाते बीते कि एक तो जीते और दूसरा तो हारे नहीं। सो मेरे पुराने मित्र, तुमको कोई उपाय सूझे तो सलाह दो।"

नारद बोले, "सुनिए महाराज, आपत् दो प्रकार की होती है, एक तो दूसरों की की हुई, एक अपने आप बुलाई हुई। सो आपकी आपत् अपनी बुलाई हुई है। आपको क्या जरूरत पड़ी थी कि कंस को मारकर उनके सठियाये बूढ़े पिता आहुकउग्रसेन को गद्दी पर बिठाने गये, और फिर उनको अकर्मण्य "बभ्रु" देख कर उनके ऊपर अक्रूर को "भोज" बनाया। (अक्रूरभोजप्रभवा……बभ्रूग्रसेनतः……। बभ्रु और भोज शब्दों के अर्थ का निश्चित पता नहीं चलता, पर ऐसा जान पड़ता है कि जब राजगद्दी का अधिकारी कार्य-क्षम न हो तो उसको बभ्रु कहते थे, और राजकार्य करने को जो नियुक्त किया जाता था उसको भोज।) आपको गोटैयाचालीका, चट्टे बट्टे लड़ाने का, हृद्देश में स्थित होकर कठपुतली ऐसा आदमियों को नचाने का, शौक है, तो फिर आपको भी उनके साथ नाचना पड़ता है। अब जो किया उसको निबाहिए। बिना लोहे के शस्त्र से इन ज्ञातियों की जीभ काटिये।"

"सो कौनसा शस्त्र है ?"

"गाली के बदले मीठी बोली। चोरी के बदले और इनाम। अपमान के बदले सम्मान।

नान्यत्र बुद्धिक्षांतिभ्यां नान्यत्रेंद्रियनिग्रहात् ।
नान्यत्र धनसंत्यागाद् गुणः प्राज्ञेऽवशिष्यते ॥

दुनिया की गति को, आदमियों के चाल चलन को, देखना बूझना, और बूझ के सहना, क्षमा करना, अपनी इंद्रियों को वश में रखना, धन को नित्य नित्य त्यागते रहना, इसके सिवाय प्रज्ञावान् पुरुष के लिये और कोई काम बाकी नहीं रहता ।"

"बहुत अच्छा, सलाह कडुई तो है पर ठीक है। तत्काल तो आपने जो मेरा आश्वासन किया वह मानो काटे पर नोन और जले पर अंगारा रखा। पर भाई, बात सच्ची कही ।"

"महाराज, आपको मैं क्या सलाह दे सकता हूँ । आप स्वयं गुरुओं के गुरु, जगद्गुरु हो, आपने मेरे मुंह से जगद् की शिक्षा के लिये जो कहलवाया वह मैंने कह दिया ।"

गणराज्य

यह हुई कृष्ण की कथा। (महाभारत, शांतिपर्व अध्याय८१)। ब्रह्मवैवर्त में कहा है कि गणेश श्रीकृष्ण-विष्णु के ही अंश हैं। सत्व के देवता विष्णु। सत्त्व का अर्थ है, ज्ञान, बुद्धि। गणेश बुद्धिसागर। इसलिये विष्णु का अंश होना ठीक ही है। ऐसे ही कृष्ण के बेटे प्रद्युम्न, स्वामिकार्तिक गुह के, तथा कामदेव के, तथा सनत्कुमार के अंश कहे गये हैं। यह सब पौराणिक रूपक, सांख्य के तीनों गुणों के परस्पर सहचार तथा विरोध के ही रूपक हैं ।

"प्रकृते क्रियतामायातम् ।" तो प्रकृत में यह बात पुनः पुनः

इन सब कथाओं से निकलती है कि गणपतित्व कैसा कठिन है।
भीष्म ने गणराज्य के विषय में कहा है—

भेदमूलो विनाशो हि गणानामुपलक्षये ।
मंत्रसंवरणं दुःखं बहूनामिति मे मतिः ॥
गणानां च कुलानां च राज्ञां भरतसत्तम ।
वैरसंदीपनावेतौ लोभामर्षौ नराधिप ॥
भेदे गणा विनश्येयुर्भिन्नास्तु सुजयाः परैः ।
तस्मात् संघातयोगेन प्रयतेरन् गणाः सदा ॥
कुलेषु कलहा जाताः कुलवृद्धैरुपेक्षिताः ।
गोत्रस्य नाशं कुर्वंति गणभेदस्य कारणम् ॥
अकस्मात् क्रोधमोहाभ्यां लोभाद्वापि स्वभावजात् ।
अन्योऽन्यं नाभिभाषंते तत्पराभवलक्षणम् ॥
जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा ।
न चोद्योगेन बुद्ध्या वा रूपद्रव्येण वा पुनः ॥
भेदाच्चैव प्रदानाच्च नाम्यंते रिपुभिर्गणाः ।
तस्मात्संघातमेवाहुः गणानां शरणं महत् ॥

"गणों का नाश एक मात्र परस्पर भेद से होता है। और रहस्य का, शासनसंबंधी मंत्रों का, गुप्त रखना भी बहुत आदमियों की सभा के लिये दुष्कर है। गण में जो मुख्य कुल होते हैं, और इन कुलों के जो मुख्य होते हैं और राजा के नाम से कहलाते हैं, (कुलपति भी नरपति, राजा, आदि शब्दों से व्यवहार किये जाते थे) उनमें आपस में अकस्मात् वैर बढ़ जाने के मुख्य कारण लोभ और अमर्ष होते हैं। और इन कुलमुख्यों के वैर से कुलों में वैर, और कुलों में वैर

से गण में व्यापी भेद, पैदा होता है, और शत्रु गणों को सहज में जीत लेते हैं। इसलिये संघात अर्थात् मेल बनाये रखने का सदा यत्न करते रहना गणों का परम धर्म है। मनुष्यों का स्वभाव ही है कि क्रोध मोह लोभ आदि उनके हृदय में पैदा हो जाते हैं, और उनसे आपस एक दूसरे से बोलना बन्द कर देते हैं। दूसरों के हाथ में पराजय होने का यह प्रधान लक्षण है। इसलिये कुलवृद्धों का धर्म है कि जब ऐसे लक्षण कोई देख पड़ें तो तत्काल उनको रोकें और मिटाने का यत्न करें, नहीं तो सारे गोत्र और गण का नाश हो जायगा। इन क्रोध लोभ मोह की उत्पत्ति का मुख्य कारण यह है कि गण में, जाति तो सब की समान, कुल में भी सब समान, कोई किसी को ऊंचा नीचा नहीं कह सकता, पर उद्योग में, बुद्धि में, रूप में, द्रव्य में तो कोई दो आदमी भी ठीक बराबर नहीं। तो भी जिनमें ये गुण कम हैं वे भी उनकी बराबरी ही करना चाहते हैं जिनके पास ये गुण अधिक मात्रा में हैं, और, ये उन गुणों का अनर्थ करते हैं, उसको सहते नहीं। एक ओर लोभ और ईर्ष्या, एक ओर अमर्ष, मद और मोह। कैसे काम चले ?"

> सर्वे यत्र प्रणेतारः सर्वे पण्डितमानिनः ।
> सर्वे महत्वमिच्छन्ति तद्वृन्दं आशु नश्यति ॥

जिस समाज में सभी नेता बनना चाहें, सभी अपने को सर्वोत्तम पंडित समझें, सभी चाहें कि सबसे बड़ा मैं ही होऊँ— ऐसा समाज बहुत जल्दी ही डूबता है।

संघे शक्तिः

संघे शक्तिः कलौ युगे। कलहप्रधान देश और काल में, कलियुग में, जो ही दल, चाहे छोटा ही हो, आपस का मेल बनाये रहेगा, संघातशक्ति, संघशक्ति बनाये रहेगा, वही अन्य सब पर विजय पावेगा।

अंग्रेजी में कहावत प्रसिद्ध है कि "ए हन्ड्रेड डिसिप्लिन्ड आर्गेनाइज्ड सोल्जर्स कैन ड्राइव एवाउट ऐज दे प्लीज, ए माब आफ टेन थाउजेण्ड मेन", अर्थात सौ सिपाहियों का सन्नद्ध संग्रथित व्यूह दस हजार आदमियों के असंग्रथित झुण्ड को मनमाने हांक सकता है। तथा वृद्ध भीष्म के उपर्युक्त एक श्लोक का पूरा पूरा "अनुवाद" हाल की छपी एक वृद्ध अंग्रेज की किताब में, जो प्रायः संस्कृत का एक अक्षर भी नहीं जानते थे, मिलता है। कारण यह कि अनुभव समान होने से विचार भी समान होते हैं। "आलिगार्कीज आर एप्ट टु बी डिवाइडेड इन टू फैक्शन्स बाई दि राइवल्रीज एण्ड जेलसीज आफ लीडिंग फेमिलीज" [ब्राइस-कृत "माडर्न डेमोक्रेसीज" भा० २ पृ० ५९१] अर्थात् संघराज्यों में मुख्य मुख्य कुलों की आपस की ईर्ष्या और कलह से परस्पर विरोधी दल पैदा हो जाते हैं।

संघात, संहनन, संग्रन्थन का उपाय

तो अब यह नैसर्गिक कठिनता कैसे सरल की जाय? बिना संघ के शक्ति नहीं। बिना कायव्यूहवत्, शरीरसंघातवत् अंगांगिभाव के मुख्य, और गौण अवयव के, सिर और हाथ

पैर के, बड़े छोटे के, नेता नीत के, गणपति और गण के, संघ नहीं। पर गण में, संघ में, सभी बराबरी का दावा करनेवाले। कौन किसका कहना माने? इस तरह विरोध का परिहार कैसे हो। बहुत ही कठिन है। इसीलिये इतिहास में जान पड़ता है कि "रिपब्लिक" ज्यादा चलती नहीं। रोज उथल पुथल इनमें हुआ करता है। जो रिपब्लिक अर्थात् गणराज्य कुछ चले वे नाम को गणराज्य थे, पर वस्तुतः गणपति-राज्य थे। कृष्ण के ऐसे गणपति रहते हुए भी अंधक-वृष्णि-संघ ने अपना संहार कर ही डाला। गणराज्य चलाने का एक मात्र उपाय यही है जिसकी सूचना आपके सामने इस व्याख्यान में नैषध के अर्ध-श्लोक से की गई। तथा नारद ने कृष्ण से स्पष्ट शब्दों में कहा। और पुरुषसूक्त में भी वही सूचना दूसरे प्रकार से की है।

समुद्र मन्थन

पुराण का समुद्र-मन्थन का रूपक बड़ा उदात्त, उद्गम, ओजस्वी, सारगर्भ, ज्ञानपूर्ण है। समुद्र नाम आकाश का भी निरुक्त में कहा है। देव और दैत्यरूपी दो विरुद्ध शक्तियाँ, जो एक ही मूलशक्ति, माया, अविद्या, तृष्णा, के दो अंश हैं, यथा "इलेक्ट्रिसिटी" के "नेगेटिव्" और "पाजिटिव्" अंश, इस आकाश समुद्र में परस्पर संघर्ष की क्रीड़ा करती हैं। "इंद्रियस्येंद्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।" प्रत्येक इंद्रिय के प्रत्येक विषय के साथ, राग भी, और द्वेष भी, दोनों ही सदा लगे हैं। यह बात चर्म-चक्षु को भी प्रत्यक्ष है। संसार का नाम ही द्वंद्व है। सृष्टि जब होती है तब संबद्ध-विरुद्ध जोड़ों की ही होती है। सब चीज

जोड़ा जोड़ा हैं। कुरान में भी लिखा है। "मिन कुल्ले शयीन् खलक्ना ज़ौजैन" "मैंने (आत्मा ने) सब चीजें जोड़ा जोड़ा पैदा की हैं।" दुर्गा सप्तशती में यही बात मधुकैटभ के रूपक से कही है। ब्रह्मा सृष्टि का विचार कर ही रहे थे कि मधुकैटभ नाम के दो असुर—

विष्णुकर्णमलोद्भूतौ ब्रह्माणं हंतुमुद्यतौ।
मधुस्तु कामः संप्रोक्तः कैटभः क्रोध उच्यते॥
अहंकारस्ततो जातो ब्रह्मा शुभचतुर्मुखः।
स तामसो मधुर्जातः कैटभो राजसस्तु सः॥

(म० भा० शांति० अ० ३५७)

अर्थात्, ब्रह्मा नाम अहंकार का सात्त्विक अंश, कहीं बुद्धितत्त्व भी कहा है। विसिनोति, व्याप्नोति. इति विष्णुः। व्यापक महत्तत्त्व। उसके कर्ण के मल से, अर्थात् दूषित राजस तामस शब्दरूप (आकाश का गुण शब्द, जो कर्णग्राह्य है), मधु अर्थात् काम, और कैटभ अर्थात् क्रोध पैदा हुए, और ब्रह्मा को मारने, अर्थात् वेद के शुद्ध सात्त्विक छंद को दूषित करने को दौड़े।

"ब्रह्मा वेदमयो निधिः" ज्ञान। उसके मारनेवाले काम और क्रोध। दोनों मरें तो कैसे। "आवां जहि न यत्रोर्वी सलिलेन परिप्लुता।" अपनी खुशी से ही मरेंगे। "चरिताधिकारे चेतसि" इत्यादि। जब उनका अधिकार, उनका संवेग, कम हो जाता है, तब उस भूमि पर, अर्थात् चित्त को उस अवस्था में, ये दोनों मरते हैं, जहाँ पृथ्वी और जल का संयोग न हो। "अग्नीषोमीयं जगत्"। "भूस्थानी देवता अग्निः"। जहाँ इन दोनों का संयोग न

हो (और ये दोनों भी काम क्रोध ही के दूसरे रूप हैं, जल काम का, अग्नि क्रोध का), अर्थात् दोनों की मध्यावस्था में, चित्त शांत और मध्यस्थ, तटस्थ, होता है।

यथा शीतोष्णयोर्मध्ये नैवोष्णं न च शीतता।
न पुण्यं न च वा पापं न सुखं नैव दुःखिता॥
न बंधो न च वा मोक्षः इत्येषा परमार्थता।

अर्थात् शीत और उष्ण के बीच में एक ऐसी अवस्था होती है जिसको न शीत ही कह सकते हैं न उष्ण। परमार्थता का स्वरूप ही यह है कि उसमें द्वन्द्व नहीं, न सुख न दुःख, न पुण्य न पाप, न बंध न मोक्ष।

इस अवस्था में भी कौन मारे ? तो सात्विक ज्ञानात्मक परमार्थ-बुद्धि स्वरूप विष्णु। और वह भी कहाँ पर ? "ततस्तु जघने कृत्वा संछिन्ने शिरसी तयोः"। जघन भी शरीर का मध्य भाग है। इससे मध्यस्थता का पुनर्वार सूचन होता है। इस भाग पर वश होने से, आहारैषणा और दारैषणा पर निग्रह होने से, काम क्रोध का निग्रह हो सकता है। श्रोत्र पहिली इन्द्रिय है। वहाँ इनका जन्म हुआ। कटि प्राण का एक मुख्य स्थान है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर आदि चक्र यहीं है। इसी कटि में, मध्य में, इन दोनों की शांति भी होनी चाहिये। साथ ही यह द्वंद्व आविर्भूत होता है, साथ ही तिरोभूत होता है। इस द्वंद्व, जोड़ा-जोड़ा, दो-दो में, विरोध भी है और साथ ही साथ अनुरोध भी है। तो देव और दैत्य जब एक ही मूल शक्ति, वासुकि (जगद् वासयति, व्याप्नोति, इति) नाग को, जो मन्दर पर्वत (मेरुदंड, पृष्ठवंश, ऊर्ध्वमूल अश्वत्थ, इड़ा-

पिंगलादि नाड़ीस्थान) के चारों ओर कुण्डलित है, दो ओर से खींचते हैं, तब इस जड़ शरीर में चक्रवत् परिवर्त्त आरम्भ होता है और आकाश समुद्र में से विविध प्रकार के रत्नभूत पदार्थ निकलते हैं। पर इस उत्कट रगड़ का पहिला फल हालाहल क्रोध विष पैदा होता है। उसको पीनेवाला और पचानेवाला यदि कोई न हो तो सब खेल विगड़ जाय। जो कुल के वृद्धतम हों उन्हीं का यह धर्म और कर्त्तव्य है कि वे इस ज़हर को पीकर बैठें, और सदा पचाते रहें। और सब बोझ ढोने का, मिहनत करने का, दौड़ धूप का, खींचा तानी का काम जवान लोग, देव-दैत्य करेंगे। यह तो हुआ क्लेश का बटवारा। शुल्क का भी बटवारा देखिये। महादेव को और कुछ मिहनत नहीं करनी पड़ी। और देव दैत्य वारुणी और अमृत आदि रत्न को आपस में बाँट लेते हैं, और उस बटवारे के हेर फेर के लिये, कौन अधिकार किस को मिले इसके लिये, सदा लड़ते रहते हैं। पर महादेव का सब ही, देव पक्ष भी और दैत्यपक्ष भी, दोनों दल ('पार्टी') आदर और पूजन करते रहते हैं।

"यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ॥"

अर्थात् जो आगे कड़ुआ विष समान जान पड़ता है वह पीछे मीठा अमृत ऐसा फलदायी और गुणकारी होता है।

इस रूपक से गणपति और गण का कर्त्तव्य जान पड़ता है, जिसके पालन से उपर्युक्त घोर गणनिसर्गान्तर्गत विरोध का परिहार हो सकता है। कृष्ण-नारद-संवाद का भी यही अर्थ है। पुरुष-सूक्त-सूचित पुरुषबलि और वर्ण-धर्म-कर्म-वृत्ति-जीविका-शुल्कादि के विभाग का भी यही अर्थ है। जब तक गण-

पति में ऐसा स्वार्थत्याग और लोकहितबुद्धि होगी, "वात्सल्ये मनुवन् नृणां", और गण में ऐसे वृद्ध का आदर होगा, तब गण की संघशक्ति क्षीण न होगी। जब नहीं तब गण अवश्य नष्ट होगा।

जब शिव भी हालाहल को गले में धारण करते करते घबरा जाते हैं तब

हरः संक्षुभ्यंन् भजति मसितोद्धूलनविधिं।

ब्रह्मांड को जलाकर पीस कर भस्म कर धूल उड़ा डालते हैं और प्रलय होता है। तथा नित्य नित्य झगड़ा निपटाते निपटाते, दोनों ओर की मनौती करते करते, जब वृद्ध लोग स्वयं थककर क्रुद्ध हो जाते हैं तब मनुष्य समाज में महाभारत होती है।

क्या उपाय किया जाय कि राजस तामस भावों को रोक और सात्विक उदार भावों का उद्भावन और परिपोषण समाज में और समाज के नेता में सदा होता रहे, यहाँ तक कि नेता तो सम्मान से भागता रहे, और जनता उसके पीछे सम्मान का उपहार लेकर दौड़ती रहे?

इसका एक मात्र उपाय यही है कि एकदंतता सर्वभावेन साधी जाय। इसमें जितना परिश्रम किया जाय वह थोड़ा है। बिना इसके कोई सत्कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। गणपति के सारे कुनबे के आचरण की सिखवन यही अद्वैतता, अभेदबुद्धि, और तज्जनित स्वार्थत्याग है। गणपति के पिता महादेव, सबसे बड़े देव, अल्लाह-अकबर [अकबर=सबसे बड़ा, अल्लाह= देव] का स्वरूप ही यह है।

नहोक्षः खट्वाँगं परशुरजिनं भस्म फणिनः
कपालं चेतीयत्तव वरद तंत्रोपकरणं ।
सुरास्तां तामृद्धिं दधति तु भवद्भ्रूप्रणिहितां
नहि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति ।।

अर्थात्,

बैल अरु डमरू अरु फरसा अरु गज कौ चर्म,
भस्म, सर्प, माला कपाल के कलाप की ।
देवन के देव, वरदाता वर वस्तुन के,
आपनो सुख संपति सब एतो ही आपकी ।
तुमरी भौंह के इसारे पुनि देव पावत ऋद्धि सिद्धि,
काम आत्माराम कौ नहिं एहि सब मायापाप की ।।

(उक्षति, वर्षति, मेहति बीजान्, जीवान्, प्राणान्, धर्मान् इति महोक्षः, वृषः, धर्मनेत्रः, धर्मः, चार पैरवाला चार-वर्ण-आश्रम-पुरुषार्थ-वेद-महावाक्य-दिशा-आदि-रूपी परमात्मा का वाहन । कुंडलिनी शक्ति की इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना नाड़ियों में गति के आकार का अनुकरण करनेवाला डमरू । परमे ब्रह्मणि शाययति, आत्मनः अन्यत् इतरत् जड़ं जगत् शृणाति नाशयति, इति परशुः, अविद्या का, जड़जगत् का, बंध का, खंडन करनेवाला, ब्रह्म में शयन कराने वाला, मोक्ष देने वाला, ज्ञान, आत्मबोध । गजचर्मवत् काला और अतिविस्तारशाली अनन्त नील आकाश । श्वेत भस्म के ऐसे ज्योतिरेणुरूप नक्षत्र तारों के असंख्य ब्रह्मांड । सर्पवत् चक्राकार भ्रमण करने कराने वाली संसार के प्रत्येक अणु में व्याप्त शक्तियाँ । उत्कृष्ट महर्षि और देव और जगन्-नियंता, संसार के चलाने वाले, प्रत्येक नक्षत्र तारा ब्रह्मांड के

अधिकारी जीव, कपालरूप, शिरोरूप, मुख्यांगरूप—यही परमात्मा की प्रत्यक्ष सामग्री है।)

गणपति की माता सर्वशक्तिरूपिणी जगद्धात्री ने भी ऐसे ही जगद्भर्त्ता को बड़ी तपस्या से भर्त्ता पाया।

वृषो वृद्धो यानं विषमशनमाशा निवसनं
स्मशानेष्वाक्रीड़ा भुजगनिवहो भूषणविधिः।
समग्रा सामग्री जगति विदितैव स्मररिपोर्
यदेतस्यैश्वर्यं तव जननि सौभाग्यमहिमा॥
शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पंदितुमपि।
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरिञ्च्यादिभिरपि
प्रणंतुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति॥

अर्थात्

बूढ़े बैल की सवारी, विष भोजन, दिशा वस्त्र हैं,
सेज समसान, भुजग भूषन ठाँव लाग है।
जग में नहिं जानत कौन अद्भुत चरित्र इनके,
ईशता तौ इनकी सब देवी कौ सुहाग है॥
युक्त होत शक्ति (="इ") से जब तब ही "शिव" होत प्रभु,
नाहीं तौ "शव"-समान डोल हू ना सकतु है।
हरि-हर-विरिंच जाको वंदना करत हैं नित्य
वाकी स्तुति पुण्यहीन बोल हू ना सकतु है॥

(तंत्र शास्त्र में, अ=विष्णु, इ=शक्ति, उ=ब्रह्मा, म=रुद्र, इत्यादि प्रत्येक वर्ण का विशेष सांकेतिक अर्थ है।)

इन्हीं महादेव की महादेवी गणपति की माता की हृदय से

उपासना करने से ही, गणपतित्व की भी और गण के कल्याण की भी सिद्धि होगी। इन महादेवी के रूप तो अनन्त हैं।

या देवी सर्वभूतेषु चेतनेत्यभिधीयते।
चिद्रूपेण च या कृत्स्नमेतद्व्याप्य स्थिता जगत्॥

इत्यादि। सभी जीवों में, प्राणियों में, भूतों में, वस्तुओं में, चिद्रूप से, चेतना के नाम से, वही देवी वर्तमान है।

पर आप लोग विद्यार्थी हो। आपके लिये "विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः" यह रूप विशेष अभीष्ट है। किंतु इन सब अनन्त विद्याओं में भी एक मुख्य विद्या है। उसके उपासन आवाहन धारण से ही आप लोग आत्मोद्धार और देशोद्धार तथा मानव-मात्रोपकार के समर्थ हो सकते हो।

या मुक्तिहेतुरविचिन्त्यमहाव्रता त्व-
मभ्यस्यसे सुनियतेन्द्रियतत्वसारैः।
मोक्षार्थिभिर्मुनिभिरस्तसमस्तदोषैर्
विद्यासि सा भगवती परमा हि देवि॥

अर्थात्, देवी भगवती वह परमा विद्या है जिससे मुक्ति प्राप्त होती है। और जिसको बड़े बड़े व्रत करके, इंद्रियों का निग्रह करके, मुनि लोग सदा अभ्यास करते हैं। इस परमा विद्या, अध्यात्मविद्या के प्रचार से ही पतितोद्धार हो सकता है। इसीसे मोक्ष मिल सकता है। एक जीव का ही मोक्ष नहीं, और किसी एक प्रकार ही के बंध से नहीं, किन्तु सब का सब प्रकार के बंधों से। बिना आत्मस्वरूप के ज्ञान के दृढ़ सज्ज्ञान नहीं। बिना दृढ़ सज्ज्ञान के अभेदबुद्धि नहीं। बिना अभेदबुद्धि के दृढ़ सदाचार नहीं। बिना दृढ़

सदाचार के परस्पर मेल और "अभयं सत्त्वसंशुद्धिः ज्ञानयोगव्यवस्थितिः" नहीं। बिना इन के आत्मवशता, स्वाधीनता, स्वतन्त्रता नहीं।

भारतवर्ष में वर्तमान काल में. गणपति के केवल एक ही गण का पति होने से कार्य सिद्धि नहीं हो सकती। सभी गणों का पति होना चाहिये। हिन्दू, मुसल्मान, पारसी, यहूदी, जैन, बौद्ध, सिख आदि। यह कैसे हो? जब वह एकमत हों। सब मतभेदों का ऐकमत्य कर सके। यह शक्ति उसी भगवती परमा विद्या की उपासना से प्राप्त हो सकती है। जो बुद्धि, जो विद्या, सारग्राहिणी है, मूल बातों को, गम्भीर तत्वों को, पकड़ती है, ऊपरी कृत्रिम विशेषों में ही नहीं अटक रहती है, वह निश्चय से जानती है कि "सर्वेषु वेदेष्वहमेव वेद्यः"। "अहम्," मैं, आत्मा, "आइ" (अंग्रेजी), "अना" (अरबी), "खुद" (=खुदा, फारसी), यही एक अजर अमर वस्तु सब मतों के सब वेदों में, सब धर्मग्रन्थों में, कही है। उसी पर चारों ओर जोर देने से लोकविग्रह घटेगा, लोकसंग्रह बढ़ेगा, ऐकमत्य होगा, विरोध-परिहार होगा।

देखिये, हम आप इस एक सभाभवन में इस समय बैठे हैं। देखने को तो एक ही स्थान है। पर इस एक स्थान में इस एक क्षण में सैकड़ों लोक समन्वित हैं। रूप की दुनिया अलग ही है, पर यहाँ मौजूद है। शब्द का लोक भिन्न है, पर यहाँ है। गन्ध का संसार, स्पर्श का जगत्, "दि वर्ल्ड आफ ट्रेड", "दि वर्ल्ड आफ लिट्रेचर," "दि वर्ल्ड आफ हिस्ट्री", सायंस का आलम, कविता का "वर्ल्ड", एक सायंस के अन्दर विशेष विशेष

सैकड़ों विज्ञानों के जगत्, कलाओं के लोक, आलमि इल्म, आलमि जंग, आलमि नासूत, आलमि मिसाल, आलमि मलकूत, वगैरा, अर्थात् भूः भुवः स्वः आदि लोक, सूर्यलोक, (दि वर्ल्ड आफ लैट), वरुण लोक ("वाटर") इत्यादि "प्लेन" (अंग्रेजी), "लौह (अरबी) "अर्द" (अरबी), यह सर्व इसी जगह उपस्थित हैं। जिसी का हम ध्यान करते हैं उसी में पहुंच जाते हैं। क्या बात हुई? द्रष्टा मे, मैं में, आत्मा की बुद्धि में, ही इन सबका समन्वय होता है। सभी उसी में सदा वर्त्तमान हैं। आत्मा ही सबका समाहार, सबका समन्वय, करता है। और यस्मात् सनातन धर्म परमात्मधर्म है, क्योंकि सिवाय परमात्मा के और कोई वस्तु सनातन सदातन नित्य नहीं, और परमात्मा को किसी से विरोध नहीं, बल्कि वह सब में है और सब उसमें है, इसी लिये इस धर्म में सब धर्मों का देश-काल-निमित्त-अधिकार-भेदेन समन्वय हो सकता है और है। इसको किसी से विरोध नहीं। इस धर्म के सच्चे तात्त्विक सात्त्विक स्वरूप के विरुद्ध, आज काल जो इसका बर्त्ताव परस्परविरोधमय, भेदमय, "मत छू"-मय, "छुई-मूई"-मय, हो गया है, उसका मूल कारण यही है कि सात्विक ज्ञान, आत्मज्ञान, आत्मबुद्धि, आत्मविद्या का ह्रास और रागद्वेष रजस् तमस् से ग्रास हो गया है।

न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते। (मनु)

आत्मज्ञान की दृष्टि के बिना जो कोई कुछ काम करता है वह उस के अच्छे फल को नहीं पाता। क्योंकि उसको सत् लक्ष्य का ज्ञान नहीं; सत् पुरुषार्थ का ज्ञान नहीं, और इस हेतु से वह

अपनी शक्तियों का सत् प्रयोग नहीं करता। तो आप लोग जो विद्यार्थी हो, इस परम विद्या आत्मविद्या का बहुत आदर से संग्रह कीजिये, तभी अन्य सब विद्या आपकी सफल होगी। सच्चे गणपति आत्मा की पूजा नहीं की, तो कलह के चूहे सब गात्र काट डालेंगे। आत्मा में सब देवता वर्त्तमान हैं।

विनयान्नायकोऽन्येषां विशिष्टो नायकः स्वयम्।
नायकेन विना जातस्तस्माज् ज्ञातो विनायकः॥
आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितं।
सर्वमात्मनि संपश्येत् सच्चासच्च समाहितः।
सर्वमात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः॥
सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतं।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः॥
उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

अर्थात्, आत्मा ही सबका विशिष्ट नायक है, विनयन करने वाला है, उसका कोई नायक नहीं है, विना किसी नायक के, किसी माता पिता के, उत्पन्न हुआ है स्वयंभू है, विनायक है। आत्मा ही सब देवता है। सब कुछ आत्मा में है। जो सब कुछ को आत्मा में ही देखता है वह अधर्म में मन नहीं देता। सब से बढ़ कर आत्मज्ञान है, सब विद्याओं में श्रेष्ठ है। इसी से अमृत मिलता है, अमरत्व प्राप्त होता है। आत्मा से आत्मा का उद्धार करना चाहिये, आत्मा को कभी अवसन्न नहीं होने देना चाहिये। आत्मा ही आत्मा का रिपु हो सकता है, क्योंकि दूसरे किसी को शक्ति नहीं जो आत्मा की हानि

कर सकें। और आत्मा ही सच्चा बंधु आत्मा का है, क्योंकि दूसरे किसी में ऐसी शक्ति नहीं जो इसकी सहायता करे।

यही बात सूफियों ने भी कही है।

लौहि महफ़ूज़ स्त दर मानी दिलत।
हरचि मी खाही शवद .जू हासिलत॥

अर्थात्,

ब्रह्मदेव की परमनिधि हृदय तुम्हारो होय।
जो कुछ अभिलाषा उठे तातें पावहु सोय॥

और भी,

आनाँ कि तलबगारि .खुदाएद, .खुदाएद,
हाजत बतलब नीस्त, शुमाएद, शुमाएद।
चीजे कि न गर्दी ; गुम अज़ बहरि चि जोयेद,
कस .गैरि शुमा नीस्त, कुजाएद, कुजाएद॥

अर्थात्,

ईश्वर को जे खोजते !, सुनो हमारी बात,
खोजन को नहि काज कछु, तुम ही हो वह, तात!
कबहुँ जु खोयौ नाहि तेहि क्यों ढूँढ़त अकुलात?
तुम सिवाय जग में कछू दूजौ नाहिं दिखात॥

आपके हृदय में महा गणपति परमात्मा का सदा वास है, यदि आप यत्न करोगे तो पहिचानोगे कि आप स्वयं ही परम गणपति हो, और ऐसा पहिचानने से ही आप अपना भी और अपने समाज का भी कल्याण कर सकोगे।

निधीनां त्वा निधिपतिं हवामहे ।
प्रियाणां त्वा प्रियपतिं हवामहे ।
गणानां त्वा गणपतिं हवामहे ॥
ॐ

(टिप्पणी—इस व्याख्यान में एक स्थान पर गणपति के एक प्राचीन नाम सालकटंकट की चर्चा की गई है । वाल्मीकि रामायण में, तथा महाभारत में, सालकटंकट और शालकटंकटा शव्द राक्षस राक्षसी के नामों में मिलते हैं । आधुनिक मंगोलियन जाति इस राक्षस-नामक महाजाति की वंश परंपरा में है । यथा मुद्राराक्षस नाटक से विदित होता है कि नंद का मंत्री राक्षस अर्थात् तिव्वती या चीनी था । इस प्राचीन महाजाति का वासस्थान, अटलांटिस महाद्वीप, जलप्रलय से समुद्र-मग्न हो गया, सहस्रों वर्ष पूर्व, ऐसा कुछ वैज्ञानिकों का विचार है । संभव है कि यह नाम और रूप चीनियों तिव्वतियों के द्वारा अदल बदल कर भारतवर्ष में पहुँचा हो ।)

समन्वय

(अर्थात् आत्मज्ञानद्वारा सर्व धर्मों का समन्वय)

[तिथि ८ चैत्र (मीन) संवत १९८० (ता० २२ मार्च १९२४) को गुरुकुल, कांगड़ी, में स्नातकों के समावर्तन-संस्कार का वार्षिक उत्सव हुआ। उस अवसर पर श्रीभगवान्दासजी का व्याख्यान ("कान्वोकेशन ऐड्रेस") हुआ। ति० २८ माघ (मकर) १९८१ (ता० १० फरवरी १९२५) को काशी विद्यापीठ में स्नातकों के समावर्त्तन संस्कार का जो प्रथम उत्सव हुआ, उसमें भी श्रीभगवान्दासजी ने प्रायः उसी आशय का व्याख्यान दिया। वह आशय यहाँ प्रकाश किया जाता है।]



यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं पश्यति जायमानं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥

प्रिय विद्यार्थी जन,

आज के ऐसे समावर्त्तन संस्कार के समय के व्याख्यानों में, प्रायः विद्यार्थियों और स्नातकों के जीवन के कर्त्तव्य के विषय में कुछ उपदेश देने की प्रथा प्रचलित है। पर आप लोग त्यागशील, तपस्याशील, विद्वान्, आचार्यों और अध्यापकों

के उपदेश और निदर्शन वर्षों से सुन और देख रहे हैं। मैं आप को कौनसी नई बात सुनाऊँ।

पुरातन ही नित्य नवीन है।

आज सवेरे से इसी चिन्ता में मैं मग्न हो रहा था, कि मुझे ध्यान आया कि जो सब से पुरानी बात है वही रोज नयी है।

नवो नवो भवति जायमानः अह्नांकेतुः।

अर्थात्, दिवसों के पताकारूप सूर्यदेव, अति प्राचीन होते हुए भी, नित्य नये होकर जन्म प्रतिदिन लेते हैं।

सो मैं आप लोगों को कुछ बहुत पुरानी बातें सुनाऊँगा। बहुत पुरानी होते हुए भी वे नित्य नयी हैं।

आज आप में से कई विद्यार्थियों का दीक्षान्त संस्कार हुआ है। और बाकी का भी प्रतिवर्ष कई कई का होता जायगा। प्राचीन काल में भी ऐसा होता था। उपनिषदों से जान पड़ता है, उस समय आचार्य समावर्तमान विद्यार्थियों को घर लौटने से पहिले अन्तिम उपदेश बहुत स्नेह से, बहुत गम्भीर भाव से, बहुत शुभ कामना से, देते थे, जैसा आज भी आपके आचार्यों ने आपको दिया।

आचार्य का विद्यार्थी को अन्तिम उपदेश।

"सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तान्येव त्वयोपास्यानि, नो

इतराणि । प्रजातंतुं मा व्यवच्छेत्सीः । मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव । ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम् । अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात, ये तत्र ब्राह्मणाः धर्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्तेरन तथा तत्र वर्तेथाः । एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् ।" (तैत्तिरीय उपनिषत) ।

अन्तिम उपदेश, अन्तिम आदेश यही है—सत्य बोलना धर्म के अनुसार आचरण करना, स्वाध्याय में अर्थात् बुद्धिवर्धक—ज्ञान वर्धक शास्त्रों के नित्य अवलोकन करने में प्रमाद नहीं करना। पढ़ना समाप्त हुआ, अब हमको पठन पाठन से क्या काम, ऐसा मत समझना । कुशलता साधनेवाले, कौशल के कामों के करने से मत चूकना । भूति, विभूति, विभव सम्पादन करनेवाले धर्मयुक्त कामों के करने से मत चूकना । देवों और पितरों के ऋण चुकाने वाले कामों से मत चूकना । जो अच्छे काम हैं वही करना, दूसरे काम नहीं करना । यदि हमने भी कोई अनुचित काम किया है तो यह विचार के कि आचार्य ने ऐसा किया है उसका अनुकरण नहीं करना, जो हमसे अच्छे काम बन पड़े हैं उन्हीं का अनुकरण करना, हमारे अनुचित कामों का अनुकरण मत करना । हमसे जो अधिक श्रेष्ठ सच्चरित्र विद्वान् मिलें उनकी उपासना करना । अन्धश्रद्धा मत करना, अपनी बुद्धि पर भरोसा करके विवेक से काम करना । अपने मन में सार्वजनिक स्नेह का भाव रखना । प्रजा सन्तान का उच्छेद मत करना । अपने सुख चैन की स्वार्थी लालच से गार्हस्थ्य के उत्तम धर्म का बोझ उठाने से जान मत छिपाना ।

यथा नदी नदाः सर्वे समुद्रे यांति संस्थितिं ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यांति संस्थितिं ॥
यथा वायुं समाश्रित्य वर्तंते सर्वजंतवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तंते सर्व आश्रमाः ॥
यस्मात्त्रयोऽप्याश्रिणः ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ (मनु)

अर्थात, जैसे सब नद नदी समुद्र ही में आसरा पाते हैं, जैसे सब जीव जन्तु वायु के ही सहारे जीते हैं, वैसे सब आश्रम गृहस्थ के आसरे रहते हैं। अन्य तीन आश्रमवालों को गृहस्थ ही अन्न भी देता है और ज्ञान भी देता है।

हाँ, सब उत्सर्गों के लिये, सब नियमों के लिये, अपवाद होते हैं। विशेष विशेष अवस्था में नैष्ठिक ब्रह्मचर्यादि हो सकता है। और परार्थ के लिये, परोपकार के लिये, निश्चित होकर देश सेवा के लिये, यदि कोई नैष्ठिक, अथवा परिमित काल के लिये, ब्रह्मचर्य का व्रत बढ़ा दें, तो यह उनके और देश के बड़े सौभाग्य की बात है. और देश को ऐसे ब्रह्मचारी (तथा वानप्रस्थ) स्वयंसेवकों की बड़ी आवश्यकता है। पर साधारण धर्म इसी को जानना, अर्थात् विद्याध्ययन से समावृत्त होकर गार्हस्थ्य करना, और अपने त्रिविध ऋण को यत्न पूर्वक चुकाना। माता, पिता, आचार्य रूपी देवताओं ने आपके लिये बड़ा परिश्रम किया है, उनका ऋण आपके ऊपर बहुत है, उसको अपने आगे की पुश्त के लिये वैसा ही परिश्रम करके चुकाना। माता पिता और आचार्य के लिये नम्रता भाव, स्नेह भाव, विनय भाव, अपने मन में सदा बनाये रहना। इससे

आप ही को आगे बहुत रक्षा होगी। मिथ्या अहंकार जनित कलह के दुष्फलों से बचियेगा। हमसे आपसे जो वृद्ध हैं उनका अनादर मत करना। मातृभक्ति विशेष कीजियेगा। शरीर को जन्म देने वाला माता की, तथा जन्मभूमि रूपिणी माता की, जिससे पहिली माता का भरण पोषण हुआ और होता है, तथा उस जन्मभूमि की भी माता स्वयं जन्मरहित सर्व-जगज्जननी, परमात्मा का स्वभाव रूपिणी प्रकृति देवी की, परमपुरुष की प्रकृति की, जिसकी सारा सृष्टि ही सन्तान है, हृदय में भक्ति बनाये रहियेगा।

अजामेकां लोहितकृष्णशुक्लां सर्वाः प्रजा सृजमानां नमामः।

अर्थात् परमात्मा की जन्मरहित अनादि अनन्तशक्ति त्रिक-मयी, त्रिगुणात्मिका तीन रङ्गवाली, सरस्वती रूपेण श्वेत, काली रूपेण कृष्ण, और लक्ष्मी रूपेण रक्त, देवी को, जो सब असंख्य प्रजाओं की जननी है, हम लोग नमस्कार करते हैं।

माता की सात्त्विक भक्ति और वन्दना का यह भाव परम पावन और मनोमलशोधन है। इसीलिये मनु ने कहा है,

उपाध्यायान् दशाचार्यः शताचार्यांस्तथा पिता।
सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते॥ (मनु)

दस उपाध्यायों से बढ़ कर आचार्य, सौ आचार्यों से बढ़ कर पिता, और सहस्र पिताओं से बढ़ कर माता की गुरुता है।

वृद्ध पितामह भीष्म ने इसका फल थोड़े में कहा है,

जीवतः पितरौ यस्य मातुरंकगतो यथा।
षष्टिहायनवर्षोऽपि स द्विहायनवच्चरेत्॥ (शान्तिपर्व)

तर्कोऽप्रतिष्ठः, श्रुतयो विभिन्ना,
नैको ऋषिर्यस्य वचः प्रमाणं ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥ (विदुरनीति)

अर्थात्, तर्क की कहीं प्रतिष्ठिति, समाप्ति, नहीं, श्रुतियाँ विभिन्न परस्पर विरुद्ध मिलतीं हैं, एक हा ऋषि नहीं जिसी का वचन प्रमाण मान लिया जाय। धर्म का तत्व (आत्मा के वासस्थान, हृदय की) गुहा में छिपा है। महाजन (समूह उस अंतरात्मा से प्रेरित होकर) जिस पथ से चले वही पथ ठीक है।

महाजन शब्द का अर्थ कोई तो करते हैं "महांतो जनाः", "बड़े आदमी", कोई कहते हैं "महान् जन-समूहः," अर्थात "मेजारिटी", बहुतर मत, भूयसीयं। बड़े आदमी का अर्थ होता तो नैको ऋषिः न कहते।

मनु का उपदेश इस विषय में यह है,

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥ (मनु)

अर्थात्, सच्चा वेदवित्, ज्ञानी, उत्तमचरित्र वाला द्विज जो निर्णय कर दे उसी को धर्म जानना मानना। यदि दस सहस्र मूर्ख भी किसी बात को धर्म कहें तो नहीं मानना।

यह कई बातें विरुद्ध ऐसी जान पड़ती हैं। इनका विरोध परिहार कैसे हो ? इसके विषय में आगे फिर कहूँगा।

वन्देमातरम् और स्वराज्य।

आचार्य ने अन्तिम उपदेश में विद्यार्थी को कर्ममार्ग-विषयक अन्तिम बातें कहीं। आजकाल के शब्दों में जिनको

'डोमेस्टिक ड्यूटीज्' 'सोशल ड्यूटीज्' 'सिविक् एन्ड पोलिटिकल ड्यूटीज्', 'ह्यूमनिस्ट ड्यूटीज्' अर्थात् गृहधर्म, सामाजिक धर्म, राष्ट्रीय धर्म, मानवजाति संबंधी कर्तव्य, आदि कहेंगे, उनका आशय पुराने शब्दों में देव पितृ अतिथि आदि कार्य, और भूति, कुशल, और सर्वोपरि व्यापक शब्द धर्म के नाम से आचार्य ने सूचित किया। और उस "प्रिंसिपल् आफ् लिविङ् लेजिस्लेशन्" को भी, जिस जीवत जाग्रत् सिद्धांत के अनुसार नवीन धर्म की परिकल्पना, नवीन धर्म का व्यवसान, आम्नान, होना चाहिये, और जो ही सब राज्यप्रबन्ध का मूल है, सूचना कर दी। "मातृदेवो भव" से 'वन्देमातरम' का सूत्रपात, और "धर्मकामाः यथा वर्तेरंस्तथा वर्त्तेथाः" इससे 'स्वराज्य' के मूलमन्त्र का सूत्रपात, कर दिया।

इसके बाद ब्रह्मचारी घर जाय। पर इतना पठनपाठन भी पर्याप्त नहीं होता। कुछ और बाकी रह जाता है।

तर्कोऽप्रतिष्ठः, श्रुतयो विभिन्नाः।

शास्त्रों में बहुत से विकल्प, और परस्पर विवाद, विरोध, खंडनमंडन, देख पड़ते हैं। नवीनधर्म के परिकल्पन के उपाय के विषय में जो शंका उठती है उनकी चर्चा अभी ही की। कौन सच्चे विद्वान्, ज्ञानी, तपस्वी, धर्मकाम हैं, जिन पर विश्वास किया जाय, इसी का निर्णय कैसे हो। महाजनसमूह भी प्रायः वाद विवाद के अनन्तर किसी नेता के दिखाये पथ पर ही चल पड़ता है, उसको भी और उसके नायक को भी पथ निर्णय में किसी हेतु को देखना ही पड़ता है, उस हेतु के उचितानुचित भाव का निर्णय कैसे हो। इन शंकाओं का समाधान, इन अनंत विकल्पों का समन्वय, कैसे हो?

आत्मज्ञान की आवश्यकता।

इसका अन्तिम रहस्य, इसकी परमोपनिषत्, अभी बाकी ही है। ज्ञानकाण्ड के बिना कर्मकाण्ड भी ठीक ठीक नहीं सधता। यह मनु ने फिर फिर कहा है।

ध्यानिकं सर्वमेवैतद् यदेतदभिशब्दितम्।
न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते॥
सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं वा वेदशास्त्रविदर्हति॥
सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥

(मनु)

अर्थात्—'एतत्' 'इदम्' 'यह' शब्द से जो कुछ कहा जाता है वह सब 'ध्यानिक' है, परमात्मा का ध्यानमात्र है, सारा दृश्य जगत् आत्मा के ध्यान से ही कल्पित है। इसलिये अध्यात्मविद्या, आत्मसंबंधी ज्ञान, जिसको नहीं है वह कोई क्रिया ठीक नहीं करैगा, न किसी क्रिया से सत्फल पावैगा। क्योंकि उसको सद्-उद्देश्यों का ज्ञान नहीं, सच्चे पुरुषार्थों का ज्ञान नहीं, उनकी प्राप्ति के प्रकारों का ज्ञान नहीं, और वह शक्तियों का सत्-प्रयोग नहीं कर सकता। सेनापति का काम, राजा का काम, दंडनेता न्यायाधीश प्राड्विवाक का काम, अथ किं, सर्व संसार के अधिपति का काम भी, करने के योग्य वही है जो अध्यात्मशास्त्र को अच्छी रीति से जानता है। जो सब भूतों में, जीवों में, पदार्थों में, आत्मा को, "मैं" को, चेतना को, और आत्मा में, मैं में, सब को देखता है, और तदनुसार समान

रूप से आत्मा का यज्ञ करता है, सब के साथ यथोचित नीति-युक्त, धर्मयुक्त, व्यवहार करता है, वही स्वराट् की अवस्था को, स्वाराज्य को, आत्मवशता को, स्वाधीनता को, पाता है

छांदोग्य में भी यही कहा है—

"आत्मैवेदं सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड़ आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति। अथ येऽन्यथाऽतो विदुः अन्यराजानस्ते क्षय्य-लोका भवन्ति, तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति।"

(छांदोग्य उपनिषत्)

अर्थात्—आत्मा ही, "मैं" ही, यह सब कुछ है, क्योंकि बिना "मैं" की चेतना के, बिना देखने वाले के, यह सब दृश्य कुछ भी हो ही नहीं सकता है—ऐसा जो देखता है, मानता है, जानता है, आत्मा में ही सुख पाता है, आत्मा से ही खेलता है, आत्मा को साथी बनाता है, आत्मा से ही आनंद पाता है, वही स्वराट्, अपना राजा, आत्मवश, स्वाधीन, स्वतंत्र होता है। जो इसके विरुद्ध देखते हैं, "मैं" के बड़प्पन को नहीं पहिचानते, आत्मा से, "मैं" से, अतिरिक्त किसी दूसरे को बड़ा समझते हैं, उनके ऊपर दूसरे ही राजा होते हैं, उनके लोक, उनकी सामग्री, पराधीन और क्षीयमाण होती है, किसी लोक में, किसी देश में, इसी भूर्लोक के विविध खंडों में, तथा भुवः स्वः आदि अन्य लोकों में, वे मनमाने, आदर से, सम्मान से, नहीं घूम फिर सकते।

इसी से स्वराज्य का संभव।

स्वराट् का भाव स्वराज्य। यह किसी को धोखा न हो कि

स्वराज्य की चर्चा केवल "फलसफी" की बात है, खयाली पुलाव है, मनोराज्य है, उससे इस दुनिया के काम काज से कोई वास्ता नहीं। ऐसा किसी को धोखा न हो, इस वास्ते मनु ने स्पष्ट कहा कि अध्यात्मशास्त्र को जो नहीं जानता उसकी सब क्रिया निष्फल होती है, और जो जीव वेदशास्त्र अर्थात् अध्यात्मशास्त्र को जानता है वही सैनापत्य, दंडनेतृत्व आदि सब लोकव्यवहार के काम को ठीक ठीक कर सकता है।

इतिहास से इसकी पुष्टि।

सेनापतित्व से और अध्यात्मशास्त्र से क्या सम्बन्ध, ऐसी किसी को शंका हो सकती है, तो,

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रतरिष्यति॥

वेद का उपबृंहण, विस्तारण, व्याख्यान, संसार के इतिहास पुराण की सहायता से करना चाहिये। वेद का ठीक अर्थ करने के बहुत ज्ञान की आवश्यकता है। अल्प ज्ञान वाले से वेद बहुत डरता है कि यह मेरे अर्थ का अनर्थ करेगा, मेरे सच्चे अर्थ को धोखे में डालेगा, और झूठा अर्थ करके लोक को ठगेगा।

इस न्याय का अनुकरण करके मनु के श्लोक का उपबृंहण महाभारत के इतिहास के अन्तर्गत भगवद्गीता के उपाख्यान से कीजिये। पांडवों की सेना के मुख्य सेनापति अर्जुन नियुक्त किये गये थे, और वे ही, युद्धारम्भ के समय में ही सब सेना को छोड़कर भाग जाना चाहते थे। अध्यात्मशास्त्र से जब उनकी विषाद-ग्रस्त बुद्धि का उद्बोधन हुआ तभी सेनापति के कार्य के

योग्य हुए। नहीं तो यही न कहा जाता कि कहाँ तो लाठी सोंटे की तयारी कहाँ वेदान्त बूझना ?

इस वास्ते गीता में कहा है,

"अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥"

तथा उपनिषदों में,

स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्टपुत्राय प्राह।

(मुंडक)

अर्थात्, सब विद्याओं में से अध्यात्मविद्या मैं (आत्मा, श्रेष्ठ) हूँ। सब विद्याओं की प्रतिष्ठा, नींव, मूल, ब्रह्मविद्या है। राजनीति शास्त्रों में भी, जो प्रत्यक्ष ही व्यवहार के शास्त्र हैं, यही कहा है। राजा को, प्रबन्धकर्त्ता को, शास्ता को, चार विद्या जाननी चाहिये,

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती ॥

अर्थात् दर्शनशास्त्र, जिससे आत्मा के स्वरूप का ईक्षण हो, तथा त्रयी वेद जिससे धर्म अधर्म का ज्ञान हो, तथा वार्ता शास्त्र जिससे अर्थ और अनर्थ, धन और दरिद्रता के हेतु, कृषि, गोरक्ष्य, वाणिज्य का पोषण और तिरस्कारण आदि, तथा दंडनीति।

उसमें आन्वीक्षिकी सबसे पहिले है,

आश्रयः सर्वधर्माणामुपायः सर्वकर्मणाम।
प्रदीपः सर्वविद्यानां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता ॥

(न्याय भाष्य)

यह विद्या सब धर्मों की आश्रय, सब कर्मों की उपाय, सब अन्य विद्याओं के लिये दीपक है, क्योंकि,

आन्वीक्षिक्यात्मविद्या स्यादीक्षणात्सुखदुःखयोः ।
ईक्षमाणस्तया तत्वं हर्षशोकौ व्युदस्यति ॥

बिना इस विद्या के, संसार का और संसार के व्यवहार का, तथा अन्य शास्त्रों के विरोधपरिहारपूर्वक उपयोगिता के तारतम्य का और बलाबल का, तत्व ठीक नहीं समझ में आता, और उस व्यवहार को ठीक चलाते नहीं बनता। सुख दुःख ही सब व्यवहार के हेतु हैं। उनका सच्चा स्वरूप जानना परमावश्यक है। उसका निरीक्षण परीक्षण करती है और तत्त्व को, आत्मा के स्वरूप को, बताकर, जीव को सुख और दुःख दोनों के पार तार देती है, और शांत और स्थिर चित्त से सब व्यवहार करने की शक्ति देती है, इसीसे इसका नाम आन्वीक्षिकी है।

अकामस्य क्रिया काचित् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥ (मनु)

अर्थात्, जो निष्काम है वह निष्क्रिय है, कामरहित जीव की कोई क्रिया देखने में नहीं आती। वेद का पढ़ना पढ़ाना और वैदिक कर्म—सब ही काम से प्रेरित है।

सुख दुःख का साक्षात् सम्बन्ध काम क्रोध से है। सुखानुशयी रागः, दुःखानुशयी द्वेषः। सुख के पीछे राग चलता है, दुःख के पीछे द्वेष। इन राग द्वेष काम क्रोध के उचित प्रयोग से व्यवहार बनता है, अनुचित से बिगड़ता है,

धर्माविरुद्धो भूतानां कामोऽस्मि भरतर्षभ । (गीता)

अर्थात्, धर्म से अविरुद्ध काम भी मैं ही हूँ।

और,

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता ।
(मनु) इत्यादि ।

अर्थात् कामात्मा, काममय, काम के वशीभूत होजाना तो अच्छा नहीं, पर सर्वथा काम रहित होना भी इस लोक में संभव नहीं। और इस काम क्रोध का नियमन, नियंत्रण, आत्मदमन, आत्म-निग्रह, विना आत्मज्ञान के ठीक ठीक नहीं बनता । ऐसे आत्मज्ञान और आत्मनिग्रह के बिना कलह अनन्त होते हैं। किसी बात पर निर्णय निश्चय नहीं होता । परस्पर विश्वास नहीं पैदा होता । पदे पदे विवाद होते हैं। आदमी आदमी का साथ नहीं निभता। कोई भी "आर्गेनिजेशन", संग्रंथन, व्यूहन, नहीं होने पाता, अथवा यदि उसका आभास मिथ्या कारणों से हो भी जाता है तो सच्ची सूत्रात्मा के अभाव से थोड़े ही समय में भंग हो जाता है।

इन हेतुओं से भारतवर्ष में इस अध्यात्म शास्त्र को प्रथम स्थान दिया है, और सांसारिक व्यवहार का परमोपकारी कहा है। दूसरे देशों में इसको प्रायः ठाले समय का खेल समझा है, यद्यपि वहां भी विचारशील, शांतप्रकृति, लोकहितैषी, अक्षुद्र और अनुद्दंड वृद्ध, "स्पिरिचुएलिटी" अर्थात अध्यात्मभाव को ही, स्थिर सांसारिक अभ्युदय का हेतु समझते हैं। यह एक भारी विशेष दूसरे देशों से इस देश की प्राचीन सभ्यता का है । इसी विशेष के कारण इस प्राचीन शालीनता में इतना "सामान्य", सत्तासामान्य, इतनी व्यापकता है, कि यह सर्वलोकसंग्राहक, सर्वविरोधपरिहारक, सर्वसमन्वय करनेवाली रही, और फिर भी हो सकती है, यदि हम लोगों से इसका समुचित पुनरुज्जीवन करते बन पड़े ।

छांदोग्य में कहा है, श्वेतकेतु बारह वर्ष की उमर से चौबीस वर्ष की उमर तक गुरुकुल में रहकर बहुतसी विद्या सीखकर अपने पिता आरुणि उद्दालक के पास अपने को बड़ा पंडित समझते हुए वापस आये।

सर्वान् वेदानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्ध एयाय।

आज काल के पच्छिम के शब्द में "इलेट्, स्वेल्ड् हेडेड्, नो-आल, स्टिफ् विथ् प्राइड्" कहेंगे। यौवन में शरीर में बल का, बुद्धि में स्फूर्ति का, विकास होना, और इस हेतु से किंचित अहंकार की भी वृद्धि होना, स्वाभाविक ही है। श्वेतकेतु का कोई दोष नहीं। पर पिता का भी कर्तव्य था कि परमावश्यक परिशिष्ट शिक्षा दे। इसलिये उन्होंने पुत्र से पूछा, सब तो आपने पढ़ा, पर वह जाना या नहीं जिस एक के जानने से और सब वस्तु जानी जाती है? पुत्र ने कहा नहीं। तब पिता ने उनको आत्मा का उपदेश किया, जिससे सच्चा स्वाराज्य सिद्ध होता है। अन्य सब कुछ जाना, पर जानने वाले ही को न जाना, अपने ही को न जाना, तो क्या जाना? ईसामसीह ने भी कहा है, सब कुछ पावै और अपने को खो दे, तो क्या पाया?

ऐसे ही नारद सनत्कुमार के पास गये। सनत्कुमार ने पूछा क्या पढ़ा? कहा,

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि, यजुर्वेदं, सामवेदं, आथर्वणं
चतुर्थं, इतिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदं। इत्यादि,
(छांदोग्य)

चारों वेद और इतिहास पुराण रूपी पंचम वेद सब मैंने पढ़ा, पर मैंने आत्मा को नहीं जाना, केवल वाग्विलास को जाना,

और आप ऐसे वृद्धों से सुना है कि "तरति शोकमात्मवित्",
जो आत्मा को जानता है वह शोक के पार तर जाता है, सो
आत्मा को आप मुझे बताइये। तब सनत्कुमार ने उपदेश
किया। इस प्रकार की कथा पुनः पुनः उपनिषदों और पुराणों में
कही है। मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से, नचिकेता ने यम से, राम ने
वसिष्ठ से, ऐसे ही प्रश्न किये। रानी मदालसा ने अपने पुत्र
राजा अलर्क को यही समझाया। क्योंकि और सब ज्ञानों की भी
प्रतिष्ठा नहीं होती, नींव नहीं बंधती, उनका परस्पर संबंध, उनका
परस्पर बलाबल, उनका यथास्थान उपयोग, उनका हृदय, उनका
मूल तत्व, उनका मर्म्म, समझ में नहीं आता, जबतक यह
आत्मज्ञान नहीं होता। आत्मा के ही लिये तो, मेरे ही लिये
तो, सब शास्त्र हैं, मैं तो शास्त्रों के लिये नहीं। फिर जब मैं
को न जाना तो शास्त्रों को जान के क्या होगा?

जिसने अपने को नहीं जाना कि मनुष्य क्या वस्तु है, जीना
मरना, सुख दुःख, काम क्रोध, हर्ष शोक, क्या चीज है, जिसने
यह नहीं जाना कि हम क्या हैं, कहाँ से आये, किसलिये आये,
कहाँ जायँगे, जीने का क्या फल है, मेरा और दूसरे जीवों का
क्या सम्बन्ध है, परस्पर क्या कर्तव्य है, पुरुष क्या है, पुरुषार्थ
क्या है—जिसने अपने को ही नहीं पहचाना वह दूसरों को
क्या जानेगा? जिसने अपना रास्ता ठीक नहीं समझा वह
दूसरों को कैसे ठीक रास्ते पर चला सकता है? जीवन का
अर्थ ही जिसको नहीं मालूम वह दूसरों की जिंदगी को कैसे
सुधार सकेगा? वह क्या गृहराज्य का, क्या देशराज्य का,
क्या परराज्य का, क्या स्वराज्य का प्रबन्ध करेगा? मनुष्यों के

काम काज जीवन मरण का प्रबन्ध करने के लिये तो मनुष्यों की प्रकृति और मनुष्यों के पुरुष अर्थात् अंतरात्मा का ज्ञान होना चाहिये न ? फिर जिसको यह ज्ञान नहीं, जिसको अध्यात्म विद्या नहीं, वह कैसे एक छोटी गिरस्ती का अथवा एक बड़े राज का काज ठीक चला सकता है ? 'स्व' किसको कहते हैं यही जिसको मालूम नहीं, 'राज' का क्या सच्चा अर्थ और स्वरूप है इसका जिसको ज्ञान नहीं, वह 'स्वराज' 'स्वराज' पुकार कर काम बनावेगा नहीं किन्तु अधिक बिगाड़ेगा ही।

इसलिये इस देश की प्राचीन शिष्टता में आत्मज्ञान का बहुत प्रचार रहा। और कुछ लोगों का यह विश्वास है कि इसी बचे खुचे आत्मज्ञान के बल से ही यह शिष्टता, एक ओर दम्भ और दूसरे ओर अंध श्रद्धा और मूर्खता से नितांत जर्जर होकर भी, अबतक यथा-कथंचित् जीवित है। क्योंकि इसमें उस आध्यात्मशास्त्र की लोक-संग्रह करनेवाली, सच्चे "को-आपरेशन" अर्थात् सहयोग, सहकारिता, "संभूयसमुत्थान" की, शक्ति है, और जहाँ इस शास्त्र की छाया नहीं है वहाँ लोकविग्रह की, अन्धाधुंध "काम्पिटिशन्" और प्रतिद्वंद्विता, प्रतिस्पर्धा, परस्पर संमर्द, संघर्ष, और द्रोह की ही शक्ति अधिक होती है।

शंका-समाधान।

कुछ लोगों को ऐसी शंका यहाँ हो सकती है कि मनुष्य के चार पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनके साधन चार शास्त्र हैं, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, और मोक्ष-शास्त्र। तीन अर्थ और तीन शास्त्र सांसारिक व्यावहारिक

अभ्युदय सम्बन्धी हैं। चौथा अर्थ और शास्त्र तो संसारत्याग सम्बन्धी है, इसका अनुशीलन परिशीलन चौथेपन में, संन्यासावस्था में ही होना चाहिये। अध्यात्मविद्या, आत्मज्ञान, मोक्षशास्त्र का ब्रह्मचर्यावस्था ही में कैसे सञ्चय होसकता है?

इसका समाधान यह है कि विदेह मोक्ष के साक्षात् साधन के उपाय संन्यासावस्था में भले ही बरतना चाहिये। पर मोक्षशास्त्र अर्थात् अध्यात्मशास्त्र वा ब्रह्मविद्या के मूलतत्व तो अन्य शास्त्रों के अनंतर प्रथमावस्था में ही यथासम्भव जान लेना चाहिये। अभी जो उपनिषदों और पुराणों की कथा कही उनमें इस ज्ञान के प्रष्टाओं और श्रोताओं का वयस् नवीन ही है, वृद्ध नहीं। उपदेष्टा अवश्य वृद्ध हैं।

प्रत्युत मन्वादि में यह सूचना है कि यदि इस ओर प्रथमवयस् में यत्न न किया जाय तो पीछे इस ज्ञान का मिलना कठिन हो जाता है। इस प्रत्यक्चेतना के अधिगम को, अपने मन में क्या विकार हो रहे हैं उनकी जांच करने की इस शक्ति के लाभ को, ही द्वितीय जन्म कहते हैं। और यह गायत्रीमंत्र के श्रवण, और उसके अर्थ का ध्यान, आवाहन, मनन, निदिध्यासन, करने से होता है। इसी से गायत्री को ही सावित्री अर्थात् जन्माने वाली, नया जन्म देने वाली कहते हैं। और भी कारण इन नाम के हैं, पर यह एक मुख्य हेतु है।

आषोड़शाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।
आद्वाविंशात क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः॥
तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबंधनचिह्नितम्।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते॥ (मनु)

जैसे शरीर की व्यवस्था है वैसे ही बुद्धि की। जो कुर्ती के काम, घुड़सवारी, तैरना, निशानाबाजी, मल्लविद्या, नट की कसरत, प्राणायाम, योगासन, योगमुद्रा, छोटी उमर में आरम्भ कर ली जाती हैं, वे ही पीछे अच्छी तरह मनुष्य को आती हैं। शरीर के लोच की अवस्था बीत जाने के बाद फिर उनका सीखना कठिन हो जाता है। वैसे ही अन्तर्मुख प्रत्यक्चेतन, होकर विचार करने की शक्ति यदि क्रमशः कोमल उपायों से बाल्यकाल और यौवनावस्था में न जगायी जाय, तो पीछे, उमर बढ़ जाने पर और बहिर्मुखवृत्ति दृढ़ हो जाने पर, वह अन्तर्मुखवृत्ति मिलना, वह प्रत्यक् चेतना का अधिगम, दुष्कर हो जाता है। और जिसकी ज्ञानग्राहिणी बुद्धि अधिक तीक्ष्ण होगी उसकी यह शक्ति जल्दी लुप्त भी हो जायगी। प्रसिद्ध है कि तीव्र बुद्धिवाले बालकों और युवाओं के बिगड़ जाने का संभव भी अधिक होता है। शक्ति यदि अपने उचित काम में न लगायी जायगी तो अकर्मकृत् और निद्वन्द्व तो रहेगी नहीं, किसी अनुचित ओर लग जायगी। इसलिये जिस ब्रह्मचारी में सत्व की मात्रा अधिक है, जो ज्ञानप्रधान जीव है, जो इस हेतु ब्राह्मण कहलाता है, जिसका सम्बन्ध शब्दब्रह्म से और परब्रह्म से अधिक निकट है, उस युवा का संस्कार देर से देर सोलहवें वर्ष के पहिले हो जाना चाहिये, नहीं तो बिगड़कर "ब्रह्मराक्षस", "ब्रह्मपिशाच" आदि हो जाने का भय है। एवं रजःप्रधान क्रियाशील क्षत्रियप्रकृति के युवा का बाईसवें वर्ष के पहिले, एवं जो तमःप्रधान द्रव्यसंग्रहेच्छाशील इच्छार्थी वैश्य-प्रकृतिक युवा है उसका चौबीसवें वर्ष के पहिले। जो अनुद्बुद्ध-

बुद्धि हैं, जिनमें इन तीनों में से किसी एक गुण के विशेष अभिव्यञ्जन का इस जन्म में सम्भव नहीं है, और इस कारण "शुचा द्रवतीति" शूद्र कहलाते हैं, थोड़ी बात पर भी बहुत भय और शोक में, क्षोभ में, पड़ जाते हैं, उनके लिये यह संस्कार असम्भव है, और इसी वास्ते "न शूद्रे पातकं किंचित्" कहा है।

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥

अर्थात्, जो मूढ हैं, मोहग्रस्त हैं, उनके मन में दिन दिन सहस्रों शोक और सैकड़ों भय पैठा करते हैं, वे ही शूद्र कहलाने के योग्य हैं, जो आत्मज्ञ हैं, आत्मवान् हैं, सद्सद्विवेकिनी बुद्धिः पंडा-वाले पंडित हैं, धीर हैं, गंभीर हैं, उनको ऐसे क्षोभ नहीं होते। पातक का अर्थ वह काम जो करनेवाले को मानमर्यादा से नीचे पतन करावै, गिरावे। बालबुद्धि शूद्र को मानमर्यादा नहीं, पातक नहीं; उसका दंड शिक्षारूप है।

ऐसे हेतुओं से आत्मविद्या का बीजारोपण प्रथमावस्था ही में कर देना आवश्यक समझा जाता था। और सारे देश में सच्चे ब्रह्मवित् मनुष्यों की संख्या इतनी पर्याप्त रखी जाती थी कि उनके शान्तिसाधक विरोधबाधक प्रभाव से लोकसंग्रह का भाव सदा अधिक मात्रा से समाज में बना रहता था।

यदि इसमें फिर भी सन्देह बाकी रहे कि यह अध्यात्मज्ञान प्रथमावस्था के अनुरूप नहीं है तो मनु के इस श्लोक पर ध्यान करना चाहिये।

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचारमग्निकार्यं च सन्ध्योपासनमेव च॥ (मनु)

"उपनयन के अनंतर गुरु का पहिला कर्तव्य यह है कि शिष्य को शौच सिखावे, तथा आचार, तथा अग्निकार्य, तथा सन्ध्योपासन ।"

अब आप विचारिये कि यह शौच जो अक्षरारम्भ से भी पहिले बालक को सिखाया जाता है उसी का पर्यवसान योग में होता है। उसकी पराकाष्ठा है "शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैर-संसर्गः", अर्थात् शौच की बुद्धि बढ़ने से क्रमशः हाड़-मांस मल-मूत्र के बने अपने शरीर से घृणा होने लगती है और दूसरों से भी बराव बढ़ता है।

सदाचार की ही पराकाष्ठा योगोक्त यमनियमादि हैं।

अग्निकार्य, सहज में साधारण पार्थिव आग जलाने, आग बुझाने, की तर्कीब से लेकर वहाँ तक व्याप्त है जब अन्तसमय परलोकोन्मुख जीव दिव्य अग्नि से कहता है,

अग्ने नय सुपथा रायेऽस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥
(ईश उप०)

"हे अग्ने (अग्रे नयति) आगे ले चलनेवाले !, सब उत्तम ज्ञानों के जाननेवाले ! हमारे पापों को जलाकर हमको अच्छे मार्ग से उत्तम लोक को ले चलिये, हम आपको नमस्कार करते हैं।"

और—

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः
सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति ।

प्रियां वाचमभिवदंत्योऽर्चयंत्य :
एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥ (मुंडक उप०)

अर्थात्, वे चमकीली अग्नि की आहुतियाँ यजमान को द्युस्थानी अग्नि अर्थात् सूर्य की किरणों के रास्ते से उत्तम लोकों को ले जाती हैं और मीठी बोली से उससे कहती हैं कि आइये, आइये, यह आपके पुण्य से प्राप्त पुण्यमय ब्रह्मलोक है।

सन्ध्योपासन का तो स्पष्ट ही पर्यवसान योगसमाधि में होता है।

निष्कर्ष यह है कि जो कुछ आगे पूर्णरूप से साधना है उसका बीजारोपण प्रथमावस्था में उचित ही है।

समन्वयात्मक आध्यात्मिक मानवधर्म।

इस न्याय से अध्यात्मशास्त्र का प्रचार पुरा काल में बहुतायत से किया गया, और सब आर्य शालीनता, आर्य सभ्यता, ब्राह्म शिष्टता, वैदिक समयाचार, बौद्ध पद्धति, "आर्यन् सिविलिज़ेशन," "हिंद की तहजीब", इसकी नींव पर खड़ी की गयी, और लोक का संग्रह, "सोसाइज़टी" का "आर्गेनिजेशन", ऐसा किया गया कि सबको, सब जीवों को, और सब आचारों और विचारों को, अपने अपने गुण कर्मानुसार उसमें स्थान मिल सकता और मिला है। इस समय आप लोगों से इस विषय की चर्चा इस वास्ते की जाती है कि अब आप विद्यार्थी अवस्था को छोड़कर गार्हस्थ्य करने जा रहे हो, और आपको इस लोकसंग्रह, समाजनिर्माण, (सोशल रीकन्स्ट्रक्शन, सोशल रिफार्म, पोलिटिकल रिफार्म) आदि कार्य

में अवश्य परिश्रम करना होगा। तो आपको यह विदित रहना चाहिये कि ज्ञान का, वेद का, जो अन्तिम चरम और परम भाग वेदान्त अर्थात् आत्मविद्या है, उससे कैसे लोकसंग्रह में सहायता मिलती है।

प्रायः दस बारह वर्ष हुए एक अखबार ने यह प्रश्न निकाला था कि हिन्दू किसको कहते हैं, हिन्दुत्व का क्या विशेषक व्यावर्तक लक्षण है, किस आचार विचार वाले मनुष्य को हिन्दू कहना चाहिये। और इस प्रश्न को बहुत से जाने माने हिन्दुओं के पास भेजकर उत्तर मँगवाये और उनको छापा। कोई एक भी अव्यभिचारी विशेषक व्यावर्तक व्यापक आचार या विचार नहीं ही स्थिर हुआ। जो अपने को हिन्दू कहे वही हिन्दू, इतना ही सिद्ध हुआ।

जो लोग इस दशा को केवल दोषज्ञ दृष्टि से देखते हैं वे तो इसको दुर्दशा समझते हैं। जो केवल गुणज्ञ दृष्टि से देखते हैं वे इसको सुदशा जानते हैं। जो उभय दृष्टि से देखते हैं वे विवेक करना चाहते हैं कि इसमें कितना अंश सुदशा का है और कितना अंश दुर्दशा का है।

निष्कर्ष यह है कि जैसे मनुष्य के शरीर में बहुत विभिन्न कर्म, धर्म, रूप, आकार के अवयव हैं, पर जब तक जीवात्मा उन सबका संग्रह किये रहता है, तब तक वे सब अत्यंत भिन्न होते हुए भी मिलकर एक ही शरीर कहलाते हैं। पर जब वह सूत्रात्मा हट जाता है तब उनके आपस में तरह तरह के विकार और विरोध पैदा हो जाते हैं, और शरीर मृत होकर उसकी एकता नष्ट हो जाती है, और सब

अवयव छिन्न भिन्न हो जाते हैं, और सड़गल जाते हैं। जैसे माला के दाने सूत्र से बँन्धे रहते हैं, और शोभा देते हैं, पर उसके टूटने पर विखर जाते हैं। वैसा ही आत्मवत्ता का, बुद्धिमत्ता का, आत्मज्ञ बुद्धि का, और विविध आचार विचारों का है। जब तक आत्मज्ञान और आत्मज्ञानवान् जन विविध आचार विचारों को और विविध-आचार-विचारवान् जनों को, अपने साथ, और एक दूसरे के साथ, बांधे रहते हैं, तब तक वे सब एक एक अपनी हद के अन्दर अपना अपना कर्म धर्म करते रहते हैं, और समाज शरीर के शोभा सौंदर्य बल आदि की वृद्धि होती रहती है। पर जब ऐसा नहीं होता तब वे एक दूसरे से कलह करके मर मिटते हैं।

इसी लिये मनु ने कहा है,

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद्ध्यग्र्‌यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः॥

अर्थात्, सब कर्मों, धर्मों, ज्ञानों से अधिक अत्यंत श्रेयस्कर आत्मज्ञान है, क्योंकि अमरत्व उसी से मिलता है।

आत्मा ही में तो सब कुछ है, इसलिये आत्मज्ञान ही से, सब भिन्न अथवा विरुद्ध भी व्यक्तियों और धर्मों और वस्तुओं का, समन्वय हो सकता है। इसी का अनुवाद याज्ञवल्क्य ने भी किया है,

इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्।
अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्॥

अर्थात्, यज्ञ, आचार, दम, अहिंसा, दान, स्वाध्याय आदि सब कर्मों का अन्तिम लक्ष्य, सबसे बड़ा धर्म यह है कि योग करके आत्मा को देखै पहिचानें।

ऐसे आत्मज्ञानवान् मनुष्य को यह समझ हो जाती है कि कौन आदमी किस काम के योग्य है, और वह सबका यथास्थान प्रयोग करके सबसे यथोचित काम ले सक्ता है। जैसा मत्स्य पुराण में कहा है,

नामंत्रमक्षरं किंचिन्न च द्रव्यमनौषधम्।
नायोग्यः पुरुषः कश्चित् प्रयोक्तैव तु दुर्लभः॥

अर्थात, कोई अक्षर नहीं जिसमें कोई विशेष मंत्रशक्ति नहीं, कोई द्रव्य नहीं जिसमें विशेष औषधशक्ति नहीं, कोई पुरुष नहीं जो सर्वथा अयोग्य ही हो। पर उसकी विशेष शक्ति और योग्यता को पहिचान कर काम लेने वाला ही दुर्लभ है।

इस आत्मज्ञान पर प्रतिष्ठित सनातन, बौद्ध, आर्य, वैदिक, मानव धर्म ने जो लोकसंग्रह किया है उसके कुछ नमूने देखिये।

समन्वय का मुख्य उपाय।

विचार के विषय में, यह प्रसिद्ध है कि सब प्रकार के आस्तिक दर्शन और सब प्रकार के नास्तिक दर्शन इस वेदवेदांग रूपी ज्ञानसागर में मग्न हैं। जब यह सिद्धांत है कि परमात्मा की, परमेश्वर की, चेतना में, उसीकी इच्छा से, सब कुछ है, तो इन विविध विचारों को भी उसीने जगत् में स्थान दिया है, यह भी निश्चयेन होगा।

ब्रह्म...सर्वमावृत्त्य तिष्ठति।

ब्रह्मैव सर्वाणि नामानि सर्वाणि रूपाणि सर्वाणि कर्माणि बिभर्त्ति ।
सोऽयमात्मा सर्वानुभूः । (उपनिषत्)

अर्थात् सब पदार्थों को घेर कर, लपेट कर, ब्रह्म बैठा है । सब नाम, सब काम, सब रूप, उसी एक ब्रह्म के, ही के, "मैं" हैं। वह यह आत्मा "मैं" सब अनुभवों का अनुभव करने वाला है। (मुसलमानों के कुरान में भी ठीक यही बातें कही हैं, 'अल्लाहो बिकुल्ले शयीन् मुहीत्" "लाहुल् अस्मा उल् हुसना," "वसेआ क्वोना कुल्ले शयीन् इल्मा ।")

पुराणों में भी कहा है,

स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्वः ।
अहृत्त्वाननुभूतोऽर्थो न मनः स्प्रष्टुमर्हति ।
(भागवत)

सोऽयमात्मा सर्वविरुद्धकर्माणामाश्रयः ।
द्वंद्वमयोऽयं संसारः । इत्यादि ।

तो इन विरुद्ध धर्मों और विचारों का समन्वय कैसे हो ? इस समन्वय के मूल सूत्र रूप ये वाक्य हैं,

अधिकारिभेदाद् धर्मभेदः ।
देशकालनिमित्तानाम् भेदैर्धर्मो विभिद्यते ।
प्रस्थानभेदाद्दर्शनभेदः ।
स एव धर्मः सोऽधर्मस्तं तं प्रति नरं भवेत् ।
पात्रकर्मविशेषेण देशकालाववेक्ष्य च ॥
(म० भा०, शांति, अ० ३१४)

न धर्मः परिपाठेन शक्यो भारत वेदितुम् ।
अन्यो धर्मः समस्थस्य विषमस्थस्य चापरः ॥

(म० भा० शा० अ० २६६)

यस्मिन् देशे काले निमित्ते च यो धर्मोऽनुष्ठीयते
स एव देशकालनिमित्तांतरेष्वधर्मो भवति ॥

(शांकर-शारीरक भाष्य, ३. १. २५.)

अर्थात्, अधिकारी के भेद से धर्म में भेद होता है। देश, काल, निमित्त के भेद से धर्म में भेद होता है। जिस स्थान पर खड़े होकर देखते हैं उस स्थान के बदलने से दर्शन, अर्थात् दृश्य का रूप, बदल जाता है। जो ही एक देश काल पात्र निमित्त और कर्म के विशेष से एक आदमी के लिये धर्म है वही दूसरे आदमी के लिये दूसरे देश काल पात्रता निमित्त और कर्म के विशेष से अधर्म होता है। केवल एक दो ग्रंथ पढ़ लेने से धर्म का पता नहीं लगता, अच्छी अवस्था का धर्म दूसरा और विषम अवस्था का धर्म दूसरा होता है।

उपासनाओं का समन्वय।

बच्चों को मिट्टी का खिलौना ही अच्छा लगेगा। उनको रेखागणित और बीजगणित पढ़ाने का यत्न करना व्यर्थ है।

यही दशा मतों की, सम्प्रदायों की, पन्थों की है। "मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना।" "भिन्नरुचिर्हि लोकः।" इत्यादि।

जब बचपन बीत जायगा तब मिट्टी के खिलौने आप ही छूट जायंगे, और दूसरे प्रकार के खिलौनों में मन लग जायगा।

अप्सु देवा मनुष्याणां दिवि देवा मनीषिणाम्।
बालानां काष्ठलोष्टेषु बुधस्यात्मनि देवता ॥
उत्तमा सहजावस्था द्वितीया ध्यानधारणा।
तृतीया प्रतिमापूजा होम यात्रा चतुर्थिका ॥ इत्यादि।

अर्थात्, बालकों के देवता काठ पत्थर में, साधारण मनुष्यों के जल में, मनीषी विद्वानों के आकाश में हैं। बुध का, बोधवाले का, ज्ञानवान् का देव आत्मा ही है। सहज अवस्था, अर्थात् सब दृश्य संसार को ही परमात्मा का स्वरूप जानना, यह उत्तम कोटि है। विशेष विशेष ध्यान धारणा करना, यह उससे नीची दूसरी कोटि है। प्रतिमाओं की पूजा तीसरी कोटि है। होम और यात्रा चौथी है।

बालबुद्धि जीव, जिनकी बुद्धि सर्वथा बहिर्मुख है, जो इन्द्रियग्राह्य आकार ही का ग्रहण कर सकते हैं, वे अपने मन का सन्तोष काठ लोष्ठ की प्रतिमा से ही करें। यह बहिर्मुख माया-रोग मनुष्य का ऐसा बढ़ा हुआ है कि मुसलमान धर्म में भी, यद्यपि वह अपने को बड़ा भारी बुत्‌शिकन् यानी मूर्ति तोड़ने वाला कहता है, लोग देवालयों को तोड़कर मकबरे और कब्र बनाते और पूजते हैं। किसी उर्दू शायर ने ही कहा है "जिद्-गाहें तोड़ करके मुर्दगाहें भर दिया"। इसी बहिर्मुख माया का वर्णन उपनिषदों ने किया है।

> पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः
> तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
> कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
> दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥ (कठोपनिषत्)

अर्थात्, स्वयंभू ने, ब्रह्मा (सृष्ट्युन्मुख रजः प्रधान महत्तत्त्व, बुद्धितत्त्व, ने) सब इंद्रियों को, छिद्रों को, बाहर की ओर खोला, छेद कर के निकाला। इस लिये जीव बाहर की वस्तु देखता है, भीतर अपने को नहीं देखता। कोई कोई धीर विरक्त

जीव, संसार की दौड़ धूप आवागमन और मृत्यु से थक कर, विश्राम और अमरत्व को चाह कर, आंख भीतर फेरता है और प्रत्यगात्मा को देखता है ।

पर, हां, उन बालकों के जो रखवारे वृद्ध बुजुर्ग हैं, उनको यह फ़िक्र रखनी चाहिये कि बीच बीच में मिट्टी के खिलौनों के खेल के साथ साथ कुछ अक्षरज्ञान भी दिलाते जावें, कुछ पुस्तकों का शौक पैदा कराने का यत्न भी करते रहें । यह न चाहें कि लड़के सदा खिलौनों में ही खुश रहें, मूर्ख बने रहें, पोथी पत्रा कभी न छूएं, और हम उनको हमेशा बेवक़ूफ़ रखकर अपना गुलाम बनाये रहें ।

और भी, यदि ये वृद्ध सात्विक बुद्धिवाले और लोक-हितैषी हों तो इस खिलौनापूजा को भी बहुत शिक्षाप्रद, उत्तमसात्विकभाववर्द्धक, कलावर्द्धक, शिल्पवर्द्धक, शास्त्रप्रवर्त्तक बना सकते हैं । सुन्दर मन्दिरों से ग्राम की, नगर की, शोभा सौंदर्य बढ़ा सकते हैं, और उनसे पाठशाला, चिकित्सालय, पुष्पवाटिका, उद्यान, चित्रशाला, संगीतादिविविधकलागृह, सार्वजनिक सभामंडप, सम्मेलनस्थान व्याख्यानशाला, आदि का काम ले सकते हैं । योग साधनादि में भी ये मन्दिर सीढ़ी का काम दे सकते हैं । क्योंकि

तच्छून्यतामनाधारा धारणा नोपपद्यते ।

अर्थात् ध्यान धारणा प्रायः किसी मूर्त्त विषय के बिना नहीं सधती ।

और भी तरह तरह के उत्तम वैज्ञानिकशास्त्रानुकूल, आधिदैविक शास्त्रसम्मत आधिभौतिकशास्त्रसम्मत, काम लिये जा सकते हैं ।

पर जब उनके रखवारे अपने कर्तव्यपालन में चूके, स्वयं शास्त्रों से विमुख, सच्ची विद्या से शून्य, दुष्ट वासनाओं में मग्न हो गये और मन्दिरों को अपनी निजी जायदाद और दूकान बना डाला, तथा सरलहृदय उपासकों की बुद्धि को दिन दिन अधिकाधिक मूढ़ और कुण्ठित करने लगे, और झाड़ फूंक, टोना टोटका, जन्तर मन्तर, "भभूत" (विभूति-भस्म), फूंके थूंके पानी आदि में ही उनकी बुद्धि अटकाकर, और उनको हर तरह से बेवकूफ बनाकर, उनसे रुपया पैसा ठगकर, अपने ऐश आराम और बदमाशी पर खर्च करने लगे, तब आवश्यक हुआ कि इनका प्रतिरोध किया जाय । अन्यथा, "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे, मूर्तं चैवामूर्त्तं च" (उपनिषत्), यह याद रखते हुए, और यह समझते हुए कि सारा साकार जगत् ही उस जगदात्मा का रूप है, जनता को क्रमशः इस मूर्त रूप से अमूर्त रूप की ओर ले जाना उचित ही है, और मूर्तियों की और मूर्ति पूजा की आत्यंतिक निंदा करना अनुचित ही है ।

दूसरे दर्जे की बुद्धि के लिये जलमय तीर्थ, सरिता, सरोवर आदि की अनुज्ञा दी गयी । अदृष्ट फल वे हैं जिनसे सूक्ष्म शरीर, मनोमय अथवा विज्ञानमय कोष, अर्थात् अन्तःकरण, मन, बुद्धि, अहंकार, का संस्कार हो । दृष्ट फल वे हैं जिनका प्रभाव स्थूल शरीर पर पड़ता है । इन तीर्थों में भ्रमण करने से, देशाटन के जो शिक्षाप्रद, बुद्धि की उदारता बढ़ानेवाले, संकोच हटानेवाले, फल हो सकते हैं, वे होना चाहियें । यदि तीर्थरक्षक और पुजारी और भिखमंगे लोग कौआरोड़ करके यात्रियों की जान आपत्ति में न डाल दें, और तीर्थों के जलों में फल, फूल,

पत्ता, कच्चा और पक्का अन्न डलवा डलवाकर पानी को सड़ाकर घिन्नाटा न कर डालें। स्वयं पुराणों ने कहा है,

अत्युग्रभूरिकर्माणो नास्तिका रौरवा जनाः।
तेऽपि तिष्ठन्ति तीर्थेषु तीर्थसारस्ततो गतः॥
(भागवत माहात्म्य)

तीर्थ स्थानों का और यात्राओं का दृष्ट फल भी शरीर की स्वच्छता, दृढ़ता, शीतोष्णसहिष्णुता, आदि होने चाहिये। पर जब तीर्थों का पानी इस तरह गन्दा किया जाय तो शरीर में सफाई की जगह बीमारी ही आवेगी। हाल में मुझे एक ऐसे स्थान पर जाने का अवसर हुआ। सुन्दर पुराना मंदिर और सुहावना तालाव बना था। पर मन्दिर के पुराने अतिसुन्दर नकाशीदार पत्थर के छज्जों से नये अति कुरूप बेमेल टीन के सायवान लटकाये थे, और पुजारी लोगों ने अपने रहने के सुबीते के लिये मंदिर की दीवारों के सहारे मिट्टी की दीवारें और खपरैल डालकर मंदिर को नितान्त नेत्रपीड़क कर दिया था। तालाव की मछलियाँ पंडे लोग बेंचकर रुपया अपने खर्च में लाते थे, इस वजह से काई भर रही थी, और उसमें हर तरह की पानी को खराब करनेवाली चीजें भी डाली जाती थीं। पानी बदबू कर रहा था। पंडे लोग मुझसे जोर से रटने लगे कि "सर्धा हो तो आचमन करो, शङ्कल्प करो।" मैंने कहा "सर्धा बहुत है, पर आप तो यहाँ के पंडा पुजारी ही हो, आपको जितनी सर्धा होगी उतनी मुझको कहाँ हो सकती है; सो आप आगे रास्ता दिखाओ, एक लोटा भर आप आचमन करके शंकल्प करो, मैं भी करूंगा।" फौरन राग बदल

गयी, "क्या कहैं, तालाव की मछली लोग वेंच डालते हैं, इससे पानी गन्दा रहता है," इति। सर्वोपरि यह सदा याद रखने और रखवाने की वात है कि

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः।
तेषामेव निवासेन देशास्तीर्थीभवन्ति वै॥

(भागवत)

अर्थात्, जल से तीर्थ नहीं वनते, न देवता मिट्टी और पत्थर से वनते हैं। उनकी उपासना करने से वहुत काल में मन की शुद्धि होती है। पर सच्चे साधुओं के तो दर्शन और सत्संग से ही चित्त सद्यः शुद्ध हो जाता है। तीर्थ स्थानों में जो सच्चे साधु (साध्नोति शुभान् कामान् इति साधुः) तपस्वी विद्वान् वसते हैं वे ही तीर्थ के तीर्थङ्कर हैं, तीर्थों को तीर्थ वनाने वाले हैं। जो शोक के पार तारे वह तीर्थ (तरति शोकं येन सहायेन स तीर्थः)। सप्त पवित्र पुरी आदि तीर्थ इसी हेतु से तीर्थ थीं कि वे उत्तम विद्यापीठ का काम देती थीं। वहाँ की हवा में भक्ति, विरक्ति, ज्ञान भरा रहता था, क्योंकि इनके वताने और जगाने वाले साधु, तपस्वी, विद्वान्, पंडित, वहुतायत से वहाँ वास करते थे। जैसे आजकाल की यूनिवर्सिटियों में, किसी एक में एक शास्त्र की, किसी दूसरी में दूसरी विद्या की पढ़ाई, चर्चा, हवा, अधिक रहती है। किसी शहर में किसी विशेष व्यापार की, किसी में कल कारखानों की वहुतायत रहती है। और वहाँ जाने से उसके संवंध की विद्या सहज ही में आ जाती है। इसी तरह "काश्यांमरणान् मुक्तिः",

काशी में मरने से मुक्ति होती है, क्योंकि वहाँ आत्मज्ञान सहज में साधुओं से मिलना चाहिये, चारों ओर उसकी चर्चा होने से मानों हवा में भर रहा है. और "ऋते ज्ञानान् न मुक्तिः," बिना ज्ञान के छुटकारा नहीं, किसी प्रकार की भी गुलामी और बंधन से, सामाजिक से, अथवा राजनीतिक से, अथवा सांसारिक से। पर आजकाल इन पवित्र पुरियों की जो दुर्गति है वह प्रत्यक्ष है। जो मनुष्य "काश्यां मरणान् मुक्तिः" के अक्षरों ही को पकड़े रहते हैं, और उसके हेतु को नहीं पकड़ते, और आत्मज्ञान का संचय नहीं करते, उनके लिये मुक्ति की आशा नहीं है।

तीसरे दर्जे की बुद्धि के लिये "दिवि देवाः", सूर्य, चन्द्र, बुध, बृहस्पति आदि प्रत्यक्ष देवता हैं। इनकी उपासना गणितफलितात्मक अद्भुत ज्योतिष शास्त्र की उपासना, "मिटियोरालोजी", "आस्ट्रोनोमी" आदि, है। इनसे जो कुछ काल-ज्ञान में, कृषि में, समुद्रयात्रादि में, सहायता मिल सके वह सब इनकी उपासना का दृष्ट फल है। पर सहायता के स्थान में जो विघ्न ज्योतिषशास्त्र के कुप्रयोग से हो रहे हैं वह सबको विदित हैं।

चौथी और अन्तिम कोटि "बुधस्य आत्मनि देवता।" जिसको यह विचार उत्पन्न हो गया है कि यह देवता है या नहीं है, यह पुस्तक मानने योग्य है या नहीं है, यह ऋषिवत या अवतारवत् या रसूलपैगम्बरवत् या मसीहवत् या गुरुवत् मानने योग्य है या नहीं है, यह धर्म मानने योग्य है या नहीं है, यह छोड़ने योग्य है या ओढ़ने योग्य है, यह शास्त्र है या अशास्त्र है, यह वेद है या अवेद है, इसका अर्थ यह है या दूसरा है, अन्ततो

गत्वा कोई ईश्वर है या नहीं है, और है तो क्या है, उसका स्वरूप क्या है—इस सबका अन्तिम निर्णेता मैं ही हूँ, "मैं" ही है, आत्मा ही है—जिसको यह विचार दृढ़ हो जाता है उसके लिये "बुधस्य आत्मनि देवता", अर्थात् बुध का, बुद्धिमान् का, देव स्वयं आत्मा ही है। परम ईश्वर, ईश्वरों का ईश्वर, "मैं" ही है। इस काष्ठा को जो पहुँचा है उसके लिये सुरेश्वराचार्य ने बृहदारण्य कार्तिक में कहा है "एतां काष्ठामवष्टभ्य सर्वो ब्राह्मण उच्यते।" जो हो जीव इस काष्ठा को पहुंचा है वह ब्राह्मण है, और वही ब्राह्मण है, अथवा ब्रह्मस्वरूप है।

उसके लिये "काश्यां मरणान् मुक्तिः" की आवश्यकता नहीं, किंतु,

> भावना यदि भवेत् फलदात्री
> मामकं नगरमेव हि काशी।
> व्यापकोऽपि यदि वा परमात्मा
> तारकं किमिह नोपदिशेन नः॥

भावना ही यदि फल देने वाली है, तो जिसी स्थान पर मैं हूं वही काशी है। यदि परमात्मा व्यापक है तो यहीं पर तारक मंत्र का उपदेश कर सकता है। सूफ़ियों का भी यही कहना है कि जो कोई हक़ीक़त (=तत्त्व, सत्य, परमार्थ)-इ-मुहम्मदी (=श्लाघनीय, प्रशंसनीय, स्तवनीय, महनीय), अर्थात् ब्रह्मज्ञान को पहुंच गया है, वही मुहम्मद (=स्तुत्य, अर्हत्, पूज्य) है, रसीदा (पहुंचा हुआ) है, ऋच्छति, प्राप्नोति, (अंग्रेज़ी में "रीच," पहुंचना) इति ऋषिः है, वही ब्राह्मण है, पैग़म्बर

क्या बल्कि पैग़म्बिह भी हो सकता है और है, नये वेद (जैसे याज्ञवल्क्य ने), नयी इंजील (जैसे ईसा ने), नये क़ुरान (जैसे मुहम्मद ने) बना सकता है। विशेष अवस्थाओं के लिये विशेष नवीन कायदे क़ानूनों धर्मों की तो बात ही क्या है। और ऐसे ही मनुष्य के लिये याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा है कि वह स्वयं नयी आवश्यकता पड़ने पर नया धर्म बना सकता है।

चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत् त्रैविद्यमेव वा।
सा ब्रूते यं स धर्मः स्यादेको वाऽऽध्यात्मवित्तमः॥

अर्थात्, वेद पर, ज्ञानसमूह पर, प्रतिष्ठापित जो धर्म, उसके जानने वाले चार मनुष्यों की मंडली, अथवा अंगोपांग सहित तीन वेदों को अच्छी तरह जानने वालों की समिति, अथवा एक ही अध्यात्मवित्तम, ब्रह्मविद्वरिष्ठ, तत्त्वतः ब्रह्मज्ञान के हृदय में प्रविष्ट, ज्ञानी मनुष्य, जो निर्णय कर दे कि यह धर्म होना चाहिये, वही धर्म माना जाय।

दर्शनों का समन्वय।

यह प्रायः उपासनात्मक विचार के भेदों की चर्चा हुई। दर्शनात्मक विचारों की भी यही दशा है। प्रसिद्ध है कि न्याय वैशेषिक आरम्भवादी हैं, सांख्य-योग परिणामवादी हैं, पूर्व मीमांसा स्व-कृत कर्म को ही प्रधान बताती हुई "स्व" ही की प्रबलता दिखाती है, और इसकी पूर्ति उत्तर मीमांसा "स्व" को, "आत्मा" को, परम पदार्थ सिद्ध करके करती है। संसार को, जगत् को, परमात्मा की चाहे सृष्टि कहिये, चाहे परमात्मा की प्रकृति का, स्वभाव का, परिणाम कहिये, चाहे परमात्मा की लीला कहिये, स्वप्न कहिये, मनोराज्य कहिये,

अविद्या-विद्या कहिये, माया कहिये, विवर्त्त कहिये, आभास कहिये, अध्यास कहिये —ऐसा बताती है। इसी लिये अद्वैत वेदान्त को विवर्तवाद, आभासवाद, अध्यासवाद आदि भी कहते हैं। जीव की बुद्धि में इन दृष्टियों के उदय होने का क्रम भी यही बताया जाता है। पहिले कुछ दिनों तक उसको आरम्भवाद (और भक्ति) से सन्तोष होता है। फिर जब उससे असन्तोष होता है तब परिणामवाद (और कर्मप्राधान्य) में प्रवेश करता है। अन्त में विवर्त्तवाद (और ज्ञान) में आता है। अर्थात् जैसे बच्चा पहिले माँ बाप का भरोसा करता है, सदा उनकी गोद में रहना चाहता है, अपने ऊपर भरोसा नहीं कर सकता, पर क्रमशः वयस् और शक्ति बढ़ने से कुछ कुछ अपने पैरों पर खड़ा होने लगता है और माता पिता से भी सहारा सहायता लेता रहता है, और अन्त में बालिग, प्रौढ़, होकर बिलकुल अपने भरोसे खड़ा हो जाता है, वैसे ही जीव की "दर्शन" के विषय में क्रमशः यात्रा होती है। पहिले तो अपने और समग्र संसार के कर्ता धर्ता धाता विधाता स्रष्टा पालयिता को अपने से और संसार से अलग एक ईश्वर मानता है। यह आरम्भवाद की अवस्था है। फिर इस दृष्टि में शंका उत्पन्न होती है, क्या ईश्वर विषम है, क्या निर्घृण है, क्या अल्पशक्ति अल्पज्ञ है, जो किसी को सुख, किसी को दुःख देता है, और सभी को अधिकतर दुःख ही देता है, या उसको अपनी बनाई सृष्टि की भविष्य दुःखमयता का ज्ञान ही नहीं हुआ, और हुआ तो दुःख को और पाप को रोकने में, मूलतः नाश करने में, असमर्थ है? इस शंका में पड़कर आरंभवाद को छोड़ता है और

ऐसा समझने लगता है कि "मैं" तथा "मैं"-स्वरूप अन्य "पुरुष", और इन पुरुषों से अलग एक "प्रकृति", यह सब अकस्मात्, अचानक, "चान्स" से, मिलकर, पंगु-अन्ध न्याय से, संसार बनाते और चलाते हैं। इस दृष्टि में भी शंका होती है कि दो भी अपरिमित अनंत, अजर, अमर, विभु पदार्थ बिना एक दूसरे को बाधा किये नहीं रह सकते, अवश्य ही एक दूसरे की व्यापकता, विभुता, प्रभुता, सर्वशक्तिमत्ता, अविच्छिन्तेच्छता, प्राकाम्य, यत्रकामावसायिता आदि में विघ्न डालेंगे, अड़चन पैदा करेंगे। "द्वितीयाद् वै भयं भवति"। जब दूसरा कोई दार सर्वशक्तिमान् मौजूद है, तो मुझे क्या भरोसा कि किसी दिन मेरी अमरता का अंत न कर देगा। इत्यादि शंका परिणामवाद में उत्पन्न होती है। न न्याययुक्त्यभिलाषिणी बुद्धि को ही संतोष होता है, न उस हृदय को तृप्ति होती है जो उस "स्वःपद", "स्वाराज्य", "आत्मवशता" को चाहता है जिसका वर्णन पूर्व मीमांसा ने भी प्रायः वेदांत के पास ही के शब्दों में किया है,

यन्न दुःखेन संभिन्नं न चग्रस्तमनन्तरम् ।
अभिलाषोपनीतं च तत्पदं स्वःपदास्पदम् ॥

जिसमें लेशमात्र भी दुःख न मिला हो, जो कभी नष्ट न होय, जो हार्दिक इच्छा के अनुकूल हो, अभिलाषा के अनुसार प्राप्त हो। जब दो तुल्यों की यह दशा है, तो अनंत पुरुष और एक प्रकृति, सभी अजर अमर आदि कहाँ से माने जा सकते हैं? ऐसी शंकाओं में परिणामवाद डूब जाता है।

अन्त में जिज्ञासु यह निश्चय करता है कि "प्रकृति" अर्थात् "स्व-भाव" किसका हो सकता है सिवा मेरे,

सिवा "स्व" के, सिवा "मैं" के। जितने "मैं" हैं सब एक ही "मैं" है, एक ही "स्व" है। और उसीका "स्व-भाव" प्रकृति है। प्रकृति अर्थात् पुरुष की प्रकृति। लोकव्यवहार में भी कहते ही हैं कि इस पुरुष की प्रकृति अच्छी है, सात्विक है, साधु है, इसकी दुष्ट है, राजस-तामस है। माया अर्थात् ब्रह्म की, मायी की, मायावी की, माया। "मायां तु प्रकृतिं विद्यान् मायिनं तु महेश्वरम्"। माया, अविद्या-विद्या, प्रकृति, प्रधान, शक्ति, आदि सब इसी के पर्याय हैं। निष्क्रिय और सक्रिय का क्या संबंध और क्यों, निष्क्रिय में और निष्क्रिय से सक्रिय की उत्पत्ति स्थिति लय कैसे, चेतन में जड़ कहाँ से, "यो, यं, येन च, यस्मै च, यस्माद्, यस्मिश्च, यस्य च ?" यह बारीक कथा यहाँ नहीं उठाई जा सकती। दर्शनशास्त्र का यह अन्तिम प्रश्न है। और इसी प्रश्न के उत्तर से सभी प्रश्न एक साथ उत्तीर्ण हो जाते है।

प्रकृत में इतना ही कहना है कि आज काल जो प्रथा प्रचलित है उसके अनुसार यथा कथंचित् न्याय-वैशेषिक आरम्भवादी समझे जाते हैं, और इनमें ईश्वर और प्रकृति, दोनों, "स्व" (अर्थात् जब) के बाहर माने जाते हैं। योग-दर्शन में ईश्वर एक वैकल्पिक वस्तु, अन्यथासिद्ध, के ऐसा है (ईश्वरप्रणिधानाद्वा ।) सांख्य तो निरीश्वर करके प्रसिद्ध ही है। पर सांख्य योग का साथ भी प्रसिद्ध है। इसलिये यह कह सकते हैं कि पुरुषत्वेन कथंचित् ईश्वर इन दो दर्शनों में "स्व" के भीतर आता है, और प्रकृति बाहर रह जाती है। पूर्वमीमांसा में प्रकृति भी "स्वी-कृत", "स्व" की बनाई, जान पड़ने लगती है।

पूर्वजन्मजनितं पुराविदः
कर्म दैवमिति संप्रचक्षते ॥
सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ।
स्वयं कृतं स्वेन फलेन युज्यते
शरीर हे निस्तर यत्त्वया कृतम् ॥

(गरुड़ पुराण)

कर्मैव हि [illegible] ।

(देवी भागवत)

नमस्तत् कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति ॥

(भर्तृहरि) इत्यादि ।

स्पष्ट है कि ऐसी दृष्टि में जीव से पृथक् ईश्वर की आवश्यकता कुछ कम हो जाती है। यह पूर्व मीमांसा भी निरीश्वर करके प्रसिद्ध है। इसमें ईश्वर तो "स्व" के भीतर आजाता है, पर प्रकृति उससे कुछ बाहर रह जाती है। उत्तर मीमांसा अर्थात् वेदान्त में दोनों पुरुष और प्रकृति, पूर्ण रूप से "स्व" के भीतर आ जाते हैं। प्रचलित पूर्व-मीमांसा में कर्म और कर्मकाण्ड के छोटे छोटे विशेषों पर अधिक जोर दिया जाता है, उन कर्मों की "स्व"-कृतता पर कम। इसलिये पूर्व-मीमांसा का दर्शनत्व ही ठीक ठीक विदित नहीं होता और पूर्व और उत्तर मीमांसा का मेल नहीं मिलता। प्रत्युत कर्म और ज्ञान का विरोध ही दिखाया जाता है। दोनों में जो "स्व" है उस पर जोर देने से दोनों का समन्वय ठीक हो जाता है।

"प्रचलित" शब्द का प्रयोग ऊपर इस हेतु से किया गया है कि आर्ष सूत्रों और भाष्यों से छओं दर्शनों में आत्मा और मोक्ष के स्वरूप के विषय में वैसा भेद नहीं देख पड़ता जैसा आज काल माना जाता है। अद्वैत वेदांत को विवर्त्तवाद इसलिये कहते हैं कि जड़ दृश्य जगत् अनात्मा है, नित्य, शुचि, सुखमय आत्मा का उलटा विवर्त्त है, अनित्य, अशुचि, दुःखमय है। तथा यह भी कारण हो सकता है कि सांख्य में पुरुष अनेक और प्रकृति एक मानी है, उसको उलट कर अद्वैत वाद में पुरुष, द्रष्टा, चिति-शक्ति, चैतन्य, परमात्मा, एक, और प्रकृति अनेक, नाना, असंख्य अणु, भूत, ब्रह्मांडादि रूप की कही है।

मार्गों का समन्वय।

कर्ममार्ग, भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग का भी ऐसा ही समन्वय है। और प्रकृतिभेद से भी। यथा इच्छाप्रधान जीव को भक्ति, क्रियाप्रधान को कर्म, और ज्ञानप्रधान को ज्ञान ही अधिक प्रिय भी और उपयोगी भी है। यद्यपि भागवत भक्तिग्रन्थ करके प्रसिद्ध है, पर उसकी भी मार्मिक अंतिम शिक्षा ज्ञान ही की है।

> वदन्ति तत्तत्त्वविदः तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयं।
> ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥
> सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
> भूतानि भगवत्यात्मन्यसौ भागवतोत्तमः॥

अर्थात्,

> "मैं ही एक, नहीं दूजो, जग सब मेरो सपना रे"—
> याही कौ तौ तत्त्व कहतु हैं सत के जाननवारे।

यह दुजागरो रहित, शून्य दुविधा सों, अद्वयज्ञाना,
यही ब्रह्म, याही परमातम, याही है भगवाना ॥
जे भगवानहि कौ सब भूतन की सत्ता में भावत ।
और सब कौ भगवानहि में, ते ही भागवत कहावत ॥

जैनों का जो सूत्र है, "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः", (उमास्वामिकृत तत्त्वार्थाधिगमसूत्र), इसमें भी सम्यग्दर्शन का अर्थ शुभवासनात्मक भक्तिमार्ग, सम्यग् ज्ञान का अर्थ विशुद्धज्ञानात्मक ज्ञानमार्ग, और सम्यक्चारित्र का अर्थ सत्कर्मात्मक कर्ममार्ग ही है।

योगास्त्रयो मया प्रोक्ताः नृणां श्रेयोविधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु ।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ॥
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥

(भागवत)

अग्नौ क्रियावतो देवो हृदि देवो मनीषिणाम् ।
प्रतिमास्वल्पबुद्धीनां ज्ञानिनां सर्वतः शिवः ॥
शिवमात्मनि पश्यन्ति प्रतिमासु न योगिनः ।
आत्मस्थं ये न पश्यन्ति तीर्थे मार्गन्ति ते शिवम् ॥

अर्थात्—अवतारों में, महात्माओं में, विशेष कला से प्रादुर्भूत "मैं" ने, परमात्मा ने, मनुष्यों की भलाई के लिये, तीन प्रकार के योग, उपाय, बताये हैं। जिन जीवों को संसार से निर्वेद, वैराग्य, हो गया है, उनके लिये ज्ञान योग। जो

सांसारिक व्यवहार और कर्म से विरक्त नहीं, उनके लिये कर्म योग। जो न तो अति सक्त है, न अति विरक्त है, जिन्होंने "मैं" की कथा इधर उधर कुछ सुनी है, और जिनके मन में मैं की ओर कुछ श्रद्धा उत्पन्न हो गयी है, उनके लिये भक्ति योग।

सांसारिक कर्मों में रक्त के लिये देव अग्नि है, (यथा प्रत्यक्ष ही अंग्रेज़ आदि पश्चिमी जातियों का)। हृदयालु रसिक भावुक भक्त जीवों का इष्ट देव हृदय में कल्पन भावन किया जाता है। अल्पबुद्धि बालक का देव प्रतिमा में है। ज्ञानियों के लिये शिव अर्थात् सर्वशुभमय परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है। योगी जन आत्मा में, अपने में, ही शिव को देखते हैं, प्रतिमाओं में नहीं। जो बालबुद्धि जन अभी इस काष्ठा को नहीं पहुँचे हैं, वे तीर्थों में शिव को ढूँढते फिरते हैं।

ऊपर कहा कि सभी दर्शनों के ऋषि कृत ग्रन्थों में आत्मा का और मोक्ष का स्वरूप प्रायः एक सा कहा है। थोड़े विस्तार से यह एक बात इस स्थान पर कह देना चाहिये। जीव और जगत् से भिन्न सर्व जगत्स्रष्टा ईश्वर है, यह वाद आधुनिक न्यायवैशेषिक में प्रसिद्ध है। तिसमें भी जीव और मूल परमाणु अनादि ही हैं, ईश्वर के बनाये नहीं है। पर आर्ष सूत्र भाष्यादि में ऐसा नहीं देख पड़ता। न्याय में जहाँ प्रमेय गिनाये है वहाँ आत्मा ही कहा है, आत्मा से पृथक् ईश्वर की चर्चा नहीं की है। चतुर्थ अध्याय में जहाँ "अपर आह" करके प्रावादुकों के प्रवादों की चर्चा की है वहाँ पर ईश्वर के कारणत्व का भी एक वाद है ऐसी चर्चा कर दी है। निष्कर्ष

यह कि प्राचीन सूत्रों और भाष्यों में सभी दर्शनों में "आत्मा" ही प्राधान्येन आता है, और उनमें विरोध प्रायः नहीं देख पड़ता है। प्रत्युत क्रमशः विचार की और ज्ञान की सूक्ष्मता की वृद्धि सोपानारोहक्रमेण देख पड़ती है। अर्थात् सर्वव्यापिनी चेतना ही सब संसार की अधिष्ठानकारण भी, उपादानकारण भी, निमित्तकारण भी, सहकारिकारण भी, सभी कुछ है, यही वेद के अन्त में, वेदान्त का, निर्णय है। आधुनिकों ने जो परस्पर खण्डन पर ही ध्यान दिया है, मण्डन पर नहीं, इसका हेतु कलियुगोचित कलहप्रकृति ही समझना चाहिये। अंततः आत्मा में सबका पर्यवसान हो जाता है।

यथा, आजकाल, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा का, कर्मकांड का और ज्ञानकांड का, घोर विरोध ही विरोध पुकारा जाता है। पर पूर्वमीमांसा के मूल ग्रन्थ, जैमिनिसूत्र और शावर भाष्य, में पहिला ही सूत्र और भाष्य यह है। "अथातो धर्म जिज्ञासा। धर्मो हि निःश्रेयसेन पुरुषं संयुनक्तीति प्रतिजानीमहे।" अर्थात् अब धर्म की जिज्ञासा की जाती है, जिस धर्म के विषय में यह हमारी प्रतिज्ञा है कि वह पुरुष को निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष देता है, जो ही पदार्थ, विविध दर्शनों में, अपुनरावृत्ति, निःश्रेयस, अपवर्ग, कैवल्य, निर्वाण, आत्यंतिक दुःखनिवृत्ति, स्वरूपप्रतिष्ठा, इत्यादि विविध नामों से कहा है।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥
यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः।
यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः॥

सर्वेषु वेदेषु अहमेव वेद्यः वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहं।
ॐ अहम् ब्रह्मास्मि। सर्वं खलु इदं ब्रह्म। ॐ।

इन मार्गों, वादों, दर्शनों, उपासनाओं के अन्तर्गत अनन्त भेद हैं, सब में एक ही परमात्मा अनुस्यूत है, इस बात की याद बनाये रक्खे तो सबों से आत्मोत्कर्ष क्रमशः प्राप्त हो सकता है। यही सबका समन्वय है।

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्।
शिवमात्मनि पश्यन्ति प्रतिमासु न योगिनः। (मनु)
आत्मस्थं ये न पश्यन्ति तीर्थे मार्गन्ति ते शिवम्॥
(शिवपुराण)

यस्मिन्निदं यतश्चेदं येनेदं य इदं स्वयम्।
योऽस्मात्परस्माच्च परस्तं प्रपद्ये स्वयंभुवम्॥
(भागवत)

ईरान देश के वेदान्ती सूफी हाफिज ने भी यह पहिचाना है।

सालहा दिल् तलबे जामि-जम् अज् मा मी कर्द।
उन्चे खुद दाश्त जि बेगाना तमन्ना मी कर्द॥
हमा अन्दर ऊस्त, हमा अजानि ऊस्त,
हमा बराए ऊस्त, हमा अज् ऊस्त,
हमा व ऊस्त, हमा ऊस्त॥ (सूफी)

मनुष्य भेदों का समन्वय।

सनातन-वैदिक-आर्य-बौद्ध-मानव धर्म में अध्यात्मशास्त्र के बल से सब आचार विचारों का भी समन्वय किया है। इस

विषय में कहने को तो बहुत है, पर समय और शक्ति मेरे पास कम है, इसलिये दिग्दर्शन रूप से कुछ उद्देश मात्र कहूँगा।

वर्ण शब्द का अर्थ यदि रंग समझा जाय (आवृणोति, जो छाये रहता है, ढांके रहता है, वह वर्णः) तो पृथ्वी पर इस समय प्रत्यक्ष चार रंग की चार मुख्य जातियाँ मनुष्यों की मिलती हैं। अफग़ानिस्तान, ईरान, सरकाशिया, जार्जिया, यूरोप, उत्तर जापान, अमेरिका आदि में श्वेत। अमेरिका के कुछ भागों में लुप्तप्राय रक्त अथवा ताम्र वर्ण। चीन, जापान, बर्मा, स्याम, तिब्बत आदि में पीत। आफ्रिका में कृष्ण। भारतवर्ष में काश्मीर में श्वेत, राजस्थान में कुछ कुछ ताम्रवर्ण, बहुतेरे प्रांतों में भूरे, गोहूं के रंग के, अथवा पीले, तथा काले। चातुर्वर्ण्य की दृष्टि से इनका समन्वय पुराण के श्लोक में किया है।

ब्राह्मणानां सितो वर्णः, क्षत्रियाणां तु लोहितः।
वैश्यानां पीतकश्चैव, शूद्राणामसितस्तथा॥
(म० भा० शान्तिः अ० १८६)

पश्चिम देशों के शिष्टमान्य महाशय भ्रातृभाव और साम्यवाद (ह्यूमन ब्रदरहुड और डिमाक्रेसी) का डिंडिम करते हुए भी, अपने देशों में, तथा दूसरों से लूटकर अपने किये हुए देशों में, यथा यूरोप, अमेरिका, आस्ट्रेलिया, सौथ आफ्रिका, आदि में, पीले और काले आदमियों को रहने देना ही नहीं चाहते। रक्त मनुष्यों के वंश का तो इन पश्चिमी श्वेतों ने अमेरिका में हत्या से प्रायः उच्छेद ही कर दिया है। भारतवर्ष के आदमी छूआछूत की अति की दुर्बुद्धि

से ग्रस्त होकर भी यह नहीं कहते कि दूसरी जाति या दूसरे वर्ण के आदमी इस देश से निकाल दिये जायँ। आपस में लड़ते झगड़ते हुए भी किसी किसी तरह परस्पर निर्वाह कर ही रहे हैं।

गुण कर्म की दृष्टि से सांख्य के शब्दों में मनुष्यभेदों का समन्वय यह है।

सद्गुणो ब्राह्मणो वर्णः, क्षत्रियस्तु रजोगुणः।
तमोगुणस्तथा वैश्यः, गुणसाम्यात्तु शूद्रता॥
(भविष्य पुराण ३-४-२३)

इस जगह यह याद रखना चाहिये कि इस श्लोक का यह अर्थ नहीं है कि कोई एक वर्ण एक ही गुण का बना है और उसमें दूसरे गुण हैं ही नहीं। ऐसा नहीं। किंतु केवल प्राधान्य उस गुण का उसमें है। इतना ही अर्थ है। ब्रह्मसूत्र ही है,

वैशेष्यात् तु तद्वादस्तद्वादः।

जो लक्षण जिसमें विशेष रूप से देख पड़ै उसी के अनुसार उसका नाम पुकारा जाता है। यथा शिव-पार्वती तमोमय, विष्णु-सरस्वती सत्वमय, ब्रह्मा-लक्ष्मी रजोमय हैं, ऐसा पुराणों का संकेत है। अन्यथा "सर्वं सर्वत्र सर्वदा"।

और

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥ (गीता)

तथा सांख्यकारिका भी।

अन्योऽन्याभिभवाश्रयमिथुनजननवृत्तयश्च गुणाः।

अर्थात् तीनों गुण सर्वथा सर्वदा सर्वत्र एक दूसरे से मिले ही रहते हैं, अलग हो ही नहीं सकते। पर हाँ, एक समय एक

स्थान में एक प्रबल होता है, दूसरे दो दबे रहते हैं। और इसी आध्यात्मिक हेतु से "कर्मणा वर्ण:" और वर्णपरिवर्त्तन सिद्ध होता है। वायु पुराण, पूर्वार्ध, अ० ८, में स्पष्ट कहा है कि पूर्वकाल में

वर्णाश्रमव्यवस्थाश्च न तदाऽसन् न संकरः।

न वर्ण और आश्रम की व्यवस्था थी, न संकर जातियाँ थीं, तथा महाभारत में,

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्॥

ब्रह्मा का बनाया हुआ है, इस लिये सभी जगत् ब्राह्म अर्थात् ब्राह्मण है। वर्णों में कोई आत्यंतिक विशेष अर्थात् भेद नहीं है, ब्रह्मा ने सब मनुष्यों को आदि में ब्राह्मण ही बनाया, पर क्रमशः कर्म-भेद से वर्ण-भेद हुआ।

यही कथा दूसरे प्रकार से यों कही है कि

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।

सभी मनुष्य पैदा होते हैं शूद्र, पर भिन्न भिन्न संस्कार से भिन्न भिन्न प्रकार के द्विज, ब्राह्मण, वा क्षत्रिय, वा वैश्य, हो जाते हैं। मतलब यह कि पैदाइश से सब एकसे होते हैं, चाहे सब को ब्राह्म अथवा ब्राह्मण कहो, चाहे सबको शूद्र कहो। कर्म से, संस्कार से, पृथक् पृथक् नाम पीछे से पड़ते हैं। लौकिक व्यवहार की दृष्टि से इनका समन्वय ऐसा घनिष्ठ किया है कि इनको मुख बाहु ऊरूदर पादवत् अंगांगी बताया है। जिसके स्थान में आजकाल "छूओमत" "छूओमत" की भरमार मची है। इस आफत का मूल कारण अहंकारजनित दंभ है।

कृष्णमिश्र ने प्रबोध चंद्रोदय नाटक में इन्हीं नाम के पात्रों के, अर्थात् अहंकार और उसके पौत्र दंभ के, परस्पर वार्तालाप में इसका चित्र खींच कर दिखाया है। इस नाटक को लिखे प्रायः नौ सौ वर्ष हो गये। दंभ कहता है अहंकार से,

सदनमुपगतोऽहं पूर्वमम्भोजयोनेः
सपदि मुनिभिरुच्चैरासनेषूज्झितेषु।
सशपथमनुनीय ब्रह्मणा गोमयाम्भः-
परिमृजितनिजोरावाशु संवेशितोऽस्मि॥

"कुछ दिन हुए, मैं अपना दर्शन ब्रह्मा को देने के लिये उनके घर पर गया। वहां जो मुनि लोग बैठे थे वे मुझे देखते ही घबरा कर सहसा अपने ऊँचे ऊँचे आसन छोड़ कर उठ खड़े हुए और मुझे उन पर बैठने को कहने लगे। पर मैंने उनके छूए हुए, अपवित्र, आसनों पर बैठने से नाक सिकोड़ा। तब ब्रह्मा ने जल्दी से अपनी एक जांघ को गोबर से लीप कर, पवित्र किया, और, 'मेरी क़सम आपको, आप इसी जाँघ पर ज़रूर बैठिये' ऐसा मेरा अनुनय विनय करके मुझको मना के, अपनी जाँघ पर बिठाया"। हिन्दू समाज की बुद्धि की आजकाल यह दुर्दशा हो रही है कि जो मनुष्य चाहता है कि यह बौद्ध-सनातन आर्य-मानव-वैदिक धर्म फूले फले और फैले, और समस्त पृथ्वी तल के सब मनुष्य इसकी छाया के नीचे आवें और विश्राम पावें, वह नास्तिक, अश्रद्धालु, समाबाह्य, असभ्य, समझा जाता है। और जो चाहता है कि यह समस्त मानवधर्म पिंडीभूत होकर एक उसी के शरीर में जीर्ण शीर्ण हो जाय, और वही, अथवा उसका कुल हो, अथवा बहुत

दर्शन की ओर फेरा जाय। यह तो था प्राचीन आर्ष ग्रंथकारों और सम्प्रदाय प्रवर्त्तकों का उद्देश्य। सांख्य वेदान्त के ही शब्दों का अनुवाद सब शैव, शाक्त, वैष्णव आदि तंत्रों, सम्प्रदायों, पंथों ने, उपासकों की प्रकृति के अनुसार, सध्यम सात्विक, अथवा राजस, अथवा तामस रूपों से किया है। पर अक्षर को पकड़ने से, और तात्त्विक अर्थ को भुला देने से, भारी दोष पैदा हो गये हैं। उन प्राचीन अर्थों को ठीक ठीक पहिचानने से ही विरोधपरिहार होकर सब बातों का उचित रूप से समन्वय हो सकता है। और यह संशोधन और सुधार विना अध्यात्मशास्त्र के नहीं हो सकता, क्योंकि उसी की नींव पर यह समग्र मानवधर्म और वर्णाश्रमात्मक समाजनिर्माण प्रतिष्ठित है।

अध्यात्म शास्त्र की आधुनिक दुर्गति।

पर बड़े खेद का स्थान है कि इस अध्यात्मविद्या की ओर ठीक ठीक ध्यान आजकाल बहुत कम दिया जाता है। बहुत दिनों की बात नहीं है, काशी में बड़ा सम्मेलन हिन्दू महासभा का (संवत् १९८० में) हुआ था। सभापति की आज्ञानुसार मुझको इस विषय पर कुछ कहना पड़ा कि मानवधर्म और हिंदू समाज का जो संकोच और ह्रास हो रहा है उसको किस प्रकार से रोकना चाहिये। और मैंने यही कहने का यत्न किया कि जिस अध्यात्मशास्त्र और आत्मज्ञान के बल से प्राचीन ऋषियों ने धर्मशास्त्र के ग्रंथ, सूत्र, स्मृति आदि रचे, उसी बल से अब उनमें विद्वानों को देशकालनिमित्तानुसार घटाव बढ़ाव करना चाहिये, क्योंकि विना ऐसा किये हिंदू-

समाज का अधःपात नहीं रुकेगा और उसकी उन्नति नहीं होगी। एक अच्छे वृद्ध विद्वान् पंडित ने सच्चे हृदय से उठकर कहा कि "आप उचित कहते होंगे, पर हम तो ठीक नहीं जानते कि आत्मा किसको कहते हैं, हमारा हृदय दुर्बल है, और इससे हम तो उन पुराने लिखे हुए अक्षरों ही को देखते हैं और उन्हीं का अर्थ लगाते हैं और उन्हीं के अनुसार चलना चाहते है।" मुझे भारी दुःख हुआ। मैंने समझाने का बहुत यत्न किया, कि "आप जो प्राचीन अक्षरों का अर्थ करते हो यह भी तो आत्मबल ही से। व्याख्या बुद्धि-बलापेक्षा, बिना अपने ऊपर विश्वास किये, कि मैं जो अर्थ कर रहा हूँ वह ठीक है, आप अर्थ भी तो नहीं कर सकते। आपका यह कहना कि मुझको तो ज्ञान नहीं, शक्ति नहीं, मैं अपनी बुद्धि पर भरोसा नहीं करूंगा, दूसरे की बुद्धि अधिक श्रद्धेय है—यह भी तो आप ही की बुद्धि निर्णय करती है।

न बुद्धिरस्तीत्यपि बुद्धिसाध्यं ।
विचारस्य खंडनमपि विचारेणैव क्रियते।

बुद्धि का काम नहीं, बुद्धि नहीं चलती—यह निर्णय भी बुद्धि ही करती है। विचार व्यर्थ है, अशुद्ध है, निष्प्रयोजन है, अनुपयोगी है—यह भी विचार ही है। याज्ञवल्क्य के उसी एक श्लोक का अर्थ मिताक्षराकार ने कुछ किया है और जीमूतवाहन ने कुछ और ही किया है, जिससे उत्तरभारत में दायभाग का प्रकार दूसरा है और बङ्गाल में बिलकुल दूसरा हो गया। तो व्याख्या करना भी बिना आत्मबल के नहीं हो सकता। जिस बल से व्याख्या की जाती

है, उसी बल से नया धर्म बनाया जा सकता है, बल्कि यह कहना चाहिये कि बराबर अपने प्रयोजन के अनुसार नयी व्याख्या के व्याज से लोग धर्म को बदलते ही रहे हैं। अपनी बुद्धि के, अपने आत्मा के, पार तो किसी प्रकार से मनुष्य जा ही नहीं सकता। बीस, या दस, या पांच हज़ार बरस पहिले, वसिष्ठ, पराशर, वेदव्यास, याज्ञवल्क्य के समय में परमात्मा था, अब मर गया, यह तो आप भी नहीं कहेंगे। अथवा तब भारतवर्ष में आगया था और अब दूर चला गया, यह भी आप स्यात् कहने का उत्साह न करोगे। फिर अपने ऊपर क्यों इतनी अश्रद्धा? अथवा यदि आपको अपने ऊपर इतनी अश्रद्धा है कि हम तो आत्मा को नहीं ही जानते और न जान सकते है, तो फिर किस बल से आप धर्मव्यवस्थापक बन सकते हो? पद पद तो इन प्राचीन ग्रंथों में कहा है कि जो अध्यात्मज्ञान रखता है वही धर्म के विषय में बोलने का अधिकारी है। "एकोवाऽऽध्यात्मवित्तमः" इत्यादि याज्ञवल्क्य का वचन पहले उद्धृत कर चुका हूँ। हिम्मत बांधिये, अपने ऊपर श्रद्धा कीजिये, आप के भीतर आत्मा बैठा है, इस पर निश्चय लाइये, उस आत्मा का सच्चे मन से आवाहन कीजिये, उसका बल आपको अवश्य मिलेगा, और सच्चा ज्ञान सर्वलोकहितबुद्धिमय आपके हृदय में उदय होगा। तभी आप अपना भी और दूसरों का भी कल्याण कर सकोगे। जब आप ही को अपने आत्मा पर सच्ची श्रद्धा नहीं है तो दूसरे आप पर कैसे श्रद्धा करेंगे। और कुछ न बने तो, खैर, व्याख्या ही कर के समयोपयोगी नये रास्ते चलाइये।" यह सब कहने सुनने का यत्न मैंने किया, पर पंडित समाज पर इस सबका कुछ

असर हुआ या नहीं, इसमें बहुत सन्देह ही मेरे मन में रह गया। मैं तो समझता कि कुछ नहीं हुआ, पर एक बात से मुझे आशा हुई कि स्यात् कुछ हुआ। सभाविसर्जन के पीछे एक सज्जन मेरे घर पर आये और उन्होंने मुझसे कहा कि "तुम्हारे विषय में मुझको लोगों के अनसमझो बातें कहने से भूल हो गई थी, मैं समझने लगा था कि तुम इस प्राचीन धर्म में श्रद्धा नहीं रखते हो, सो अब मुझे निश्चय हुआ कि ऐसा नहीं है, तुम श्रद्धा सच्ची करते हो, और ये लोग जो तुम्हारी निंदा करते हैं वे ही इस धर्म में सच्ची श्रद्धा नहीं करते और उसका हास कर रहे हैं।" मुझे यह सुनकर बड़ा भारी संतोष हुआ, वे सज्जन और मैं गले गले मिले, और मैं उनका सदा के लिये कृतज्ञ रहूँगा। विशेष कारण यह है कि उन सज्जन ने सभा में पहिले मेरा व्यक्तिगत विरोध बहुत किया था। पर उनके चित्त की सात्विकता देखकर मुझे भारी आशा हुई है कि और लोग भी चेतेंगे। "स्वार्थेषु को मत्सरः"। मैं तो उन्हीं के सच्चे हित की बात कहता हूँ।

यह भी एक उत्तम प्रकार है कि प्राचीन लेख को यह न कहना कि अब यह बेकाम है, इसको हटा दो, इसके स्थान पर यह दूसरा नियम बना दो—जैसा कि पाश्चात्य देशों का आधुनिक प्रकार कानून बनाने का है। बल्कि यह कहना कि इस श्लोक का, इस सूत्र का, इस नयी अवस्था में, इस इस हेतु से, यह नया अर्थ करना ही ठीक है। इस प्रकार से प्राचीन वृद्धों का आदर भी सूचित होता है, समाजपरंपरा का उच्छेद भी नहीं होता है, और व्यवहार भी सधता है।

"कृणुध्वं विश्वमार्यम्"—यह वेद की आज्ञा है। सारे मनुष्य संसार को, विश्वमात्र को, आर्य बनाओ। इसके अनुसार पुराकाल में कितनी ही व्रात्य जातियाँ आर्यशालीनता के भीतर लाकर चातुर्वर्ण्यात्मक समाजव्यूह में यथास्थान रख दी गईं। व्रात्यस्तोम आदि संस्कार इसी काम के लिये बनाये गये थे। व्रातैः गच्छन्ति, व्रातेन (दैनंदिनेन लाभेन) जीवन्ति, शुद्ध्यर्थं व्रतमर्हन्ति, इति व्रात्याः'। जो झुंड के झुंड फिरते ही रहें, कहीं स्थिर रूप से टिकें नहीं जैसे आजकाल भी कंजर आदि, रोज रोज की कमाई से, जंगली शिकार आदि से, गुजर करें, और जो इस योग्य हैं कि उनको व्रत कराये जायँ, नियम पालन के व्रत बताये जायँ और मनवाये जायँ, और इस प्रकार से उनका आचरण आर्य और शुद्ध कराया जाय, वे व्रात्य आजकाल की अंग्रेजी भाषा में "नोमाड्ज्।" दूसरी ओर शालासु वसंति, शालिभिर्जीवन्ति, सदाचारैः शालंते, इति शालीनाः। स्थिर रूप से, मकानों में, बस्ती में, बसें, खेती के अन्न से जीवन निर्वाह करें, सदाचार से, शिक्षितता से, शिष्टता से, समायोग्यता से, सभ्यता से, विराजें, वे लोग शालीन। व्रात्य लोग शालीन किये जाते थे, शिक्षा के द्वारा, क्रमशः। यह क्रमशः शब्द याद रखने का है।

वर्णपरिवर्तन के विषय में बहुत से प्रश्न इस "क्रमशः" शब्द के बल से उत्तीर्ण हो सकते हैं। बाह्य धर्मपरिवर्तन, "औटर कन्वर्शन" तो एक क्षण में हो सकता है। बप्तिस्मा हुआ, ईसाई होगया। कलमा पढ़ा, मुसलमान हो गया। कोई भी अपने को कह दे कि मै हिंदू हूँ, अवश्यमेव हिंदू ही गया। किसको

अधिकार है कि कहे कि वह हिन्दू नहीं है। यह तो नाम रखने की बात है। पर सच्चा वर्णपरिवर्तन तो एक क्षण में नहीं हो सकता। व्रियते, स्वीक्रियते, उद्यम्यते, वृत्त्यर्थं, जीविकार्थं, इति वर्णः। जिस आदमी ने दस वर्ष अध्यापन का काम किया, और उसको मालूम हो गया कि मैं इस काम के योग्य नहीं हूँ, इसमें मेरा मन नहीं लगता, मेरा मन शस्त्रास्त्र प्रयोग की ओर अधिक है, अथवा दूकानदारी की ओर, वह कितना भी चाहे तो भी एक दिन में वह नये काम को, क्षत्रिय अथवा वैश्य के व्यवहार व्यापार को, नहीं ही सीख पावेगा। कुछ दिन में नया काम अच्छी तरह कर सकेगा। वर्णपरिवर्तन का तो यह अर्थ है। इस वास्ते मनु आदि में "शनकैः" "आसप्तमाद् युगात्" इत्यादि शब्द ("अन्यस्मिन् जन्मनि" नहीं) प्रयोग किये हैं। यथा—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च। (मनु)

अर्थात् विद्या सिखानेवालों से जब वे अलग पड़ गये, और उनकी बुद्धि और शरीर का यथोचित संस्कार नहीं हुआ, तो "धीरे धीरे" ये जातियाँ वृषल, अर्थात् शूद्र, हो गयीं।

अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्या सप्तमाद्युगात्।
शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्॥
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद् वैश्यात्तथैव च।

(मनु, अ० १०, श्लो० २६)

इसका अर्थ प्रचलित टीकाओं में तो दूसरी ही प्रकार से किया हुआ है, पर उससे "हठाद् आकृष्टता" देख पड़ती है

और वादविवाद का ठिकाना है। एक सीधा अर्थ पाँच वर्ष के युग का लेकर होता है, कि छत्तीस वर्ष तक जिस वर्ण की वृत्ति से, धर्म कर्म से, जीविका से, रहे, उस वर्ण का हो जाता है। दूसरे स्थान पर कहा है कि जिस वर्णवाले का अन्न बारह वर्ष तक खाय उस वर्ण का हो जाता है, इत्यादि।

यह बात तो थोड़ा सा, निराग्रह बुद्धि से, भारतवर्ष का इतिहास देखने से सिद्ध हो जाती है कि पुराकाल में, पौराणिक काल में भी, जिसकी चर्चा भागवतादि पुराणों में, शतपथब्राह्मण में (१०, ४, १, १०,), ऐतरेय ब्राह्मण में (७, २९), आपस्तम्ब सूत्र आदि में की है, ऐसा वर्णपरिवर्त्त न होता था।

> धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं
> वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ।
> अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णोऽधन्यं जघन्यं
> वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ॥
>
> (आपस्तम्ब २, ५, १०, ११)

"जातिपरिवृत्तौ" कहा है, "अन्यस्मिन् जन्मनि" नहीं।

यह वर्णपरिवर्त्तन, और बाहरी जातियों का आर्य समाज में कहिये, सनातन समाज में कहिये, मानव समाज में कहिये, (क्योंकि "हिंदू" शब्द उस समय पैदा नहीं हुआ था) सम्मेलन और व्यवस्थापन, बौद्ध और जैन काल में भी बहुत होता था, यह इतिहास से जान पड़ता है। और आज काल भी हमारे आँख के सामने हो रहा है। मेरे एक जान पहिचान वाले, जो स्कूल के दिनों में अपने को कलवार कहा करते थे, कई वर्ष बाद

वैश्यों की एक अवान्तर जाति का बताने लगे, और अब गवर्मेण्ट की नौकरी में पड़कर अपने को क्षत्रिय कहते हैं और क्षत्रिय कुलों से उनका विवाहादि संबंध होगया है। कितनी जातियाँ जो पहिले अन्य वर्ण की, शूद्र अथवा वैश्य, समझी जाती थीं, अब अपने को क्षत्रिय या ब्राह्मण कहने लगी हैं। कई वर्ष हुए काशी से "स्वार्थप्रकाशिका" नाम की एक छोटी पुस्तक (ता॰ ॥ प्रेस में) छपी थी। कहते हैं कि एक राजा ने, अपने पुरोहितों से बहुत पीड़ित होकर, उसको लिखा या लिखवाया और छपवाया। उसमें कितनी ही ऐसी उपजातियों का हाल लिखा था जो पहिले अपने को किसी दूसरे वर्ण को कहती थीं, अब ब्राह्मण कहने लगी हैं। "भार्गव" नाम की एक उपजाति वाले पहिले अपने को वैश्य कहते थे, अब ब्राह्मण कहते हैं। कूर्मी लोग अब कूर्मा-चली या कूर्म वंशी क्षत्रिय हो गये हैं। एक उपजाति कूर्मा-चली ब्राह्मणों की भी है। कायस्थ लोग अपने को अब क्षत्रिय कहते हैं। ठीक ही है। जो कोई, आत्मश्रद्धापूर्वक, अपना उत्कर्ष करेगा, उसको दूसरे भी मानेंगे ही। जो अपने ही में श्रद्धा नहीं करेगा, स्वयं नीचा बनेगा, उसको क्यों न दूसरे नीचा कहेंगे? पर यह हवा जो अब बह रही है, कि सब जाति की जाति का नाम, झुंड के झुंड का नाम बदल दिया जाय, और या "ठाकुर" बन जायं, या "बाह्मन" बन जायँ, (क्योंकि इन्हीं दो जातियों में बड़प्पन की ऐंठन अधिक है) इससे काम बनता नहीं, प्रत्युत बिगड़ता है, मिथ्या अहंकार और संघर्ष और प्रतिस्पर्धा बढ़ती है, और सामाजिक कार्य और परस्पर सहायता में विघ्न पड़ता है। इस औपजातिक

नाम परिवर्त्तन मात्र रूप मिथ्या उत्कर्ष से वर्ण व्यवस्था का मूल सिद्धान्त "कर्मणा वर्णः" चरितार्थ नहीं होता, प्रत्युत और भी मर्दित खंडित होता है। उक्त सिद्धांत के अनुसार तो प्रत्येक व्यक्ति के गुण कर्मानुसार उसका वर्ण नाम पड़ना चाहिए। भेड़ियाधसान के प्रकार से दल के दल और झुंड के झुंड का सच्चा वर्णपरिवर्त्तन नहीं हो सकता है।

गवर्मेण्ट की सेंसस (मनुष्य गणना) की रिपोर्टों से "हिन्दू" समाज की सहस्रों परस्पर अस्पृश्य, उपहास्य, बलहीन और तिरस्कार्य उपजातियों का बहुत हाल मालूम होता है। प्रत्यक्ष ही इस प्रान्त में एक जाति शाकद्वीपी ब्राह्मण है। उस जाति के लोग अपनी उत्पत्ति यही कहते हैं कि शाकद्वीप से आये। शाकद्वीप कहाँ है इसका पता नहीं। पर इतिहास से विदित होता है कि दो सहस्र वर्ष से पूर्व शक जाति के लोग भारतवर्ष में उत्तर की ओर से बहुत आये। उन्होंने यहाँ राज भी बनाये। उन्हीं में से अधिकांश अस्त्रशस्त्र के शौक़ीन क्षत्रिय हो गये, कुछ थोड़े से पोथी पत्रा के शौक़ीन ब्राह्मण हो गये। इतिहास की विस्मृति इस काष्ठा को पहुँची है कि व्याकरण ग्रंथों में "शाकपार्थिवः" का अर्थ 'शाकप्रियः पार्थिवः" किया जाता है। सीधा सीधा अर्थ, "शकजातीयः पार्थिवः", सर्वथा लुप्त हो गया है।

इन सब बातों को देखते हुए, अपने समाज के सुधार के लिये आप लोगों को, जो इस देश के भविष्णु गृहस्थ और कार्य-कर्ता हों, वर्ण के तत्व का विचार करना परम आवश्यक है। इस पर आप सबको बहुत ध्यान देना चाहिये। इसके संशोध

पर ही इस देश का भी, तथा दूसरे सब देशों का भी, कल्याण आश्रित है। यह वर्णधर्मतत्व किसी विशेष स्थानिक धर्म की बात नहीं है। किन्तु समस्त मानव समूह संबन्धी "समाज-शास्त्र" की, और उसके शाखाभूत अथवा फलभूत "राजनीति-शास्त्र", "राजशास्त्र," की, तथा उसके मूलभूत "अध्यात्म-शास्त्र" की बात है।

इस तत्व के भूल जाने से ही उस पदार्थ के लिये, जिसको अब "हिन्दू" धर्म के नाम से कहते हैं, पर जिसका ठीक नाम सनातन वैदिक आर्य बौद्ध मानव धर्म है, तथा उस वस्तु के लिये जिसको आजकाल "हिन्दू" समाज कहते हैं पर जिसका ठीक नाम "मानव समाज" है, "महद्भयमुपस्थितम्", भारी भय उपस्थित हुआ है। दोनों ही दिन दिन भ्रष्ट, धर्माभासग्रस्त, दीन, हीन, क्षीण, परस्पर विवदमान, परस्पर तिरस्कुर्वाण, जंघन्यमान, दंद्रम्यमाण, म्रियमाण ही देख पड़ते हैं। सौ फी सदी की जगह आज हिन्दुस्तान में "हिन्दू" सत्तर फी सदी से कम हो गये हैं। और दूसरे लोग तीस फी सदी से अधिक हो गये हैं, और रोज स्वयं बढ़ते और इन "हिंदू" नाम वालों को दबाते चले जा रहे हैं। इसका कारण क्या विचारणीय नहीं है? क्या "मुनिहि हरियरे सूझ" इसी न्याय का अवलंबन करना चाहिये? हमको अपनी ही, अथवा अपने कुल कुटुंब की, अथवा बहुत दिल बढ़ाया तो अपनी अवांतर जाति, गौड़ या कनौजिया या काश्मीरी या महाराष्ट्र या यदुवंशी या सोमवंशी या श्रीवास्तव या माथुर या अग्रवाल या महेश्वरी या अहीर या जाट इत्यादि इत्यादि की ही फिक्र बहुत है, सारे हिन्दू समाज से हमको क्या

मतलब ? शेख सादी ने कहानी लिखी है, बाजार में आग लगी, बहुत से दूकान मकान जल गये । एक दूकान किस्मत से बच गई। और सब तो सिर पाट पीट कर रो रहे थे, इसका मालिक, बेहया, बगलें बजा बजा कर हँस रहा था "कि दुक्कानि मारा गज़न्दे न बूद", पड़ोसी के मकान जल गये तो बला से, हमारी दूकान तो बच गई । क्या यही नीति ठीक है ? आज तो आपकी दूकान बच गई, पर कल जब आपकी दूकान में आग लगेगी तब पड़ोसी भी बचाने नहीं आवेगा, बल्कि खुश होगा, या जान बूझ कर, गुस्से के मारे, आप के घर में आग लगावेगा, और लगवावेगा, जैसा हिंदुओं ने, मध्यकालीन इतिहास में, और आजभी अपनी बिरादरी वालों से तिरस्कृत होकर, धर्म बदल कर दूसरे मजहब में जाकर, किया, और कर रहे हैं।

यदि हम लोग इस अल्पदृष्टि वाले स्वार्थ से अन्धे बने रहेंगे तो उस स्वार्थ को भी नसावेंगे, परार्थ तो नष्ट हुआ ही ।

आपका शास्त्र, आपकी सभ्यता, तो ऐसी है, कि यदि इसका अर्थ, यदि इसके मूल सिद्धान्त, ठीक ठीक समझे जायँ, तो यह न केवल अपनी सत्ता का आत्मधारण कर सकती है, बल्कि अन्य सब का भी उद्धारण कर सकती है, सब पतितों का उद्धार कर सकती है । आज काल जो अन्य धर्म चल रहे है वे तो किसी मनुष्य को अपने संप्रदाय और समाज के अन्तर्गत तब करते है जब वह दूसरे धर्म का नाम भी छोड़ दे । यह मानव धर्म तो ऐसा है कि किसी को अपने विशेष धर्म को छोड़ देने को न कहकर, सबको अपने सभामण्डप में बैठने

को स्थान दे सकता है, सबको अपना सकता है। बल्कि यह कहना चाहिये कि देता है और अपनाता है। बात सीधी है, प्रत्यक्ष है।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ (गीता)

राजाओं की विद्या, विद्याओं का राजा, राजों का रहस्य, रहस्यों का राजा, होते हुए भी रह अध्यात्मशास्त्र, और उसके ऊपर प्रतिष्ठित, उसकी नींव पर उठाया हुआ, धर्म, प्रत्यक्षावगम है, चमड़े की आँख से देखा जा सकता है। और इसके आचरण में सर्वथा सुख है, और व्यय और हानि कभी नहीं है। प्रत्यक्ष है कि "मानव धर्म" तो मानव मात्र के लिये है, किसी एक देश या काल या जाति के लिये नहीं है।

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पंचमः॥
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥
(मनु)

अर्थात्,

जितने मनुष्य पृथिवी मंडल पर हैं सब चार वर्णों में विभजनीय अथवा विभक्त हैं। तीन द्विजाति, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, चौथा एक जाति शूद्र। पांचवें प्रकार का मनुष्य संसार में है ही नहीं। और, इस देश में, भारतवर्ष में, आर्यावर्त में, ब्रह्मावर्त्त में, अध्यात्म शास्त्र की चर्चा अन्य स्थानों से अधिक, प्राचीन काल से, और बड़ी मात्रा में रही है, इस लिये उचित है कि इस देश में जनमें अग्रजन्मा से, जेठी

बुद्धि वाले, जेठी विद्या वाले, जेठे चरित्र वाले मनुष्य से, पृथ्वीमात्र के मनुष्यमात्र अपने अपने लिये उचित और उपयुक्त वृत्ति, जीविका, "धर्म, कर्म" चरित्र की शिक्षा लें। यह मनुस्मृति की प्रचलित पुस्तकों में लिखा है। जिस समय श्लोक लिखे गये थे उस समय अवश्य ही ऐसा लिखना उचित रहा होगा। पर अब तो इस देश में इस कोटि के सच्चे अग्रजन्मा जो दूसरे देशवालों को उचित चरित्र विषयक शिक्षा दे सकें प्रायः नहीं ही देख पड़ते। पवित्रम्मन्यता का, आभिजात्य का, "हम ऊँची जात वाले हैं," मिथ्या अहंकार ही रह गया है। रस्सी जल गई, ऐंठन रह गई। यदि सच्चे अग्रजन्मा इस देश में पर्याप्त मात्रा से होते तो मानव धर्म की और मानव समाज की यह दुर्दशा न होती।

यह भी प्रत्यक्ष है कि इस मानवधर्म ने अपने हजारों वर्ष के जीवन में, कितनी ही जातियों और उपजातियों और विशेष विशेष धर्मों को अपनी समन्वयशक्ति से वर्णाश्रम के ढांचे में ढाल कर उनका प्रणवीकरण कर दिया। प्रणव, अर्थात् ॐकार ध्वन्यात्मक शब्द, परमात्मा का निकटतर वाचक है, और इस के तीन अक्षरों में, संकेत से सब अध्यात्मशास्त्र भरा है। जो इस गूढ़ अर्थ को जान लेता है, उसका जीवन नवीन, नव. प्रणव हो जाता है, उसका द्वितीय जन्म हो जाता है। इसी से इसको प्रणव कहते है। इसके गर्भ में स्थित आत्मविद्या, दर्शनशास्त्र के बल से, नयी नयी जातियों को आर्य-मानव-समाज के भीतर लाकर उनका नवीकरण, प्रणवीकरण, पुरा काल में सच्चे अग्रजन्मा करते रहे। सात्विक राजस तामस के भेद से

सैकड़ों प्रकार के उपासक और उनकी सैकड़ों प्रकार की उपासना और उपास्यदेवता सब इसके भीतर यथा स्थान रख लिये गये, और "बुधस्यात्मनि देवता" यह तारक मंत्र सबको सुनाया गया।

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसंभवम्॥

यह विरोधपरिहार का मूलमन्त्र सबके सामने रखा हुआ है, छिपा नहीं है। हां, हमारी मोहांध आंखों ने अपने को ही सूर्य से छिपा लिया है, और हमको गहिरे गर्त में खींचे लिये जा रही है। नहीं तो आज हिन्दू समाज की यह दशा न होती। प्रत्युत हम लोग जानते और कहते होते कि "ईरान" देश और शब्द "आर्य" देश और शब्द ही का भाषांतर और रूपांतर है तथा "ऐरिन" (आयरलैंड) देश और शब्द तथैव "अर्ब" देश और शब्द तथैव स्यात्, "यूरोप" देश और शब्द। और, जैसे शैव, शाक्त, वैष्णव, सिख, जैन, बौद्ध आदि अपने अपने आचार्यों और तीर्थों सहित मानवधर्म के अवान्तर संप्रदाय बन गये हैं वैसे ही इस्लाम और क्रिश्चन आदि सम्प्रदाय भी इसके अन्तर्गत किये जा सकते हैं, और हैं। जैसे "हिन्दू" समाज में बर्मी, आसामी, बंगाली, बिहारी, उड़िया, मद्रासी, महाराष्ट्र, गुजराती, राजपूत, सिंधी, पंजाबी, काश्मीरी, नैपाली, भोटानी आदि अंतर्गत है वैसे ही चीनी, जापानी, अफ़गानी, ईरानी, अरबी, तुर्की, यूरोपी, आदि भी सब अंतर्गत किये जा सकते हैं और हैं, यदि हम "हिन्दू" का नवीन नाम छोड़कर प्राचीन गंभीर नाम "मानव" फिर से धारण करें। जब तक हमारे हृदय में इतना विस्तार और औदार्य नहीं होता

कि हम उनको अपनावें बल्कि उनसे छूआछूत, छूआछूत का परहेज करते हैं, तबतक वे भी हमसे द्रोह करते रहेंगे।

जब हमारे हृदय में यह सद्भाव और परमात्मा की सर्वसमन्वयकारिणी शक्ति का पुनर्वार उदय होगा, और जब यह पुनर्वार ठीक पहिचान लिया जायगा कि वर्णव्यवस्था में, समाजनिर्माण में, (समं अजंति जनाः यस्मिन् स समाजः), तपः और श्रुतं का कितना बल है और योनिः का कितना [तपः श्रुतं च योनिश्च द्विजत्वे कारणं स्मृतं । (मनु)] कर्मणा का कितना जन्मना का कितना, शीलं का कितना कुलं का कितना, वृत्तं का कितना जाति का कितना, जब यह लोग समझ लेंगे कि जन्म भी कर्म से होता है [विष्णुत्वं च शिवत्वं च कर्मणैव हि लभ्यते । (देवी भागवत)], कर्म मुख्य है और जन्म गौण है (वृत्तमेव तु कारणम्—यह युधिष्ठिर ने सर्प अर्थात नाग जातीय मनुष्य से निश्चय करके कहा है, क्योंकि तीनोंगुण प्रत्येक मनुष्य में वर्तमान हैं), तब ही यह वर्णव्यवस्था ठीक होगी और इसमें मानव मात्र का समन्वय, समावेश, संचय, संग्रह, हो सकेगा।

लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि।

और वर्णविभाग की व्यवस्था के साथ साथ कर्मविभाग और वृत्ति अर्थात् जीविकाविभाग (अर्थात किस प्रकृति का, किस विशेष स्वभाव-गुण-कर्म का, किस वर्ण का मनुष्य किस किस वृत्ति से जीविका करे और दूसरी वृत्तियों को न छुए), तथा शुल्क विभाग, अर्थात किस वर्ण को अधिक सम्मान आदर, किसको अधिक आज्ञाशक्ति, ईश्वरभाव, अधिकार, किसको अधिक धन, किसको अधिक क्रीड़ा विनोद आदि मिले), इसको भी

परमावश्यक व्यवस्था होगी। क्योंकि बिना इन सब बातों की व्यवस्था किये, केवल वर्ण की व्यवस्था, मनुष्य के शारीर मानस आदि प्रकृति को देख भाल कर भी, करना व्यर्थ है। इन दूसरी बातों की भी व्यवस्था साथ ही साथ होने से वर्णव्यवस्था सार्थक होती है, और शिक्षा-सम्बन्धी (एज्यूकेशनल), व्यवसाय-व्यापारसम्बन्धी (ईकोनामिकल), सामाजिक आदर सत्कार और उच्चावचता सम्बन्धी (सोशल), राजनीतिक (पोलिटिकल) आदि सभी जटिल प्रश्नों का उत्तर ठीक ठीक मिल सकता है।

इस विषय पर मैंने दूसरे स्थानों में चर्चा की है। यहाँ अधिक विस्तार करना ठीक नहीं। विषय के गौरव के कारण इतना भी कहा। क्योंकि विद्या आपने पढ़ी, उसकी सफलता, उसकी चरितार्थता, आपके सामाजिक जीवन में ही होगी, और जिस समाज में आपको रहना है उसको सुव्यवस्थित करने और रखने में सहायता करना, यह आपका एक परम कर्तव्य होगा, और इस कर्तव्य का आप, बिना आत्मज्ञान के, पालन नहीं कर सकेंगे।

प्रकृति की संस्कृति।

इस आत्मज्ञान और तदाश्रित मानवधर्म का मुख्य काम और मूलमंत्र इतना ही है कि जो कुछ प्रकृति में है (और सभी परस्पर विरुद्ध बातें इस द्वंद्वमय, दो दो विरोधी जोड़ा जोड़ा वाली, प्रकृति अथवा संसार में हैं) उस सबका यथाकाल, यथास्थान, यथा प्रयोजन, मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक

जीवन के सुख और उत्कर्ष के लिये, संस्कार, परिष्कार, और नियमन करके उपयोग किया जाय। किसी वस्तु को भी नितान्त बुरा कहके संसार के बाहर निकाल देने का निष्फल और मिथ्या प्रयत्न न किया जाय। मैला भी "खाद" के काम में आता है, उचित समय में उचित स्थान पर रखने से खेती के लिये, फूल फल के पौधे पेड़ों के लिए, "खाद्य," उत्तम पोषक भोजन हो जाता है। अति सत्य भी अप्रिय होकर लोक का अहितकर हो सकता है। यथा गर्मी के दिन में भी अपने शरीर को कपड़े से ढांकना, यह मिथ्या आचरण कहा जा सकता है, क्योंकि वस्तुस्थिति को छिपाना है। पर नहीं, यह मिथ्या आचरण ही शिष्टसम्मत सदाचार है। इसलिये,

आश्रयेन् मध्यमां वृत्तिमति सर्वत्र वर्जयेत्।
यल्लोकहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति नः श्रुतम्॥

अर्थात्, बीच का रास्ता पकड़िये, किसी भी बात की अति न कीजिये। जिस बात से, जिस उपाय से, अधिकांश लोक का अधिकतम हित हो, वही सत्य है। महाभारत के शांति पर्व के इस श्लोक ही की व्याख्या पाश्चात्य "यूटिलिटे-रियन"-वाद है।

यही इस प्रकृति की संस्कृति का, इसके संस्कार परिष्कार का, बीजमन्त्र है।

नामंत्रमक्षरं किंचिन् न च द्रव्यमनौषधम्।
नायोग्यः पुरुषः कश्चित् प्रयोक्तैव तु दुर्लभः॥

यह भी उसी बीज मन्त्र का साथी और पूरक है।

अर्थात, कोई अक्षर नहीं जिसमें मंत्रशक्ति नहीं, कोई द्रव्य नहीं जिसमें औषधशक्ति नहीं, कोई मनुष्य नहीं जिसमें कोई भी योग्यता नहीं। पर उस शक्ति, उस योग्यता को पहिचान कर उससे उचित काम लेने वाला ही दुर्लभ है।

आश्रम समन्वय।

ब्रह्मचर्य आश्रम।

जैसे मनुष्यों के भेदों का, कर्मों का, वृत्तियों का, जीविकाओं का, शुल्कों का समन्वय, वर्ण के नाम से, मानव धर्म में किया है, वैसे ही मनुष्य के जीवन के प्रकारों के भेदों का भी समन्वय आश्रम के नाम से किया है। सहस्रों प्रकार से मनुष्य अपना जीवन बिता रहे हैं। कोई कुछ कर रहा है, कोई कुछ, तो भी विचार से देखिये तो आप इन अनंत प्रकारों को चार मुख्य राशियों में बाँट सकेंगे। अर्थात्, (१) जीवनोपयोगी, जीविकोपयोगी, पुरुषार्थचतुष्टय-साधनोपयोगी ज्ञानसंग्रह, (२) जीविकासाधन, धनोपार्जन, विवाह, संतान, कुटुम्बपोषण, (३) परार्थ कर्म, (४) परलोक की चिन्ता और तयारी। याद रखना चाहिये कि "वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः" का नियम, जिसे पहिले कह आये हैं, यहाँ भी जैसे अन्य सभी स्थानों में, अनुस्यूत है। चारों प्रकार के काम जीवन में मिश्रित मिलते हैं, पर एक समय में एक प्रकार का विशेष व्यंजन होता है। पहिले दो आश्रमों में स्वार्थ को प्रधान, दूसरे दो में परार्थ को प्रधान होना चाहिये।

आदौ वयसि नाधीतं द्वितीये नार्जितं धनम्।
तृतीये न तपस्तप्तं चतुर्थे किं करिष्यसि॥

पहिली उमर में पढ़ा नहीं। दूसरी में कमाया नहीं। तीसरी में तप नहीं किया, तो चौथी में संन्यास कठिन है।

बाल्यावस्था और यौवनारंभ में अधिकांश मनुष्य, क्या सभी मनुष्य, ज्ञानसंग्रह में, विद्योपार्जन में, लगे रहते हैं। खली, पटिया, कलम, कागज, रोशनाई, पुस्तक आदि से ही विद्या नहीं आती। किसी भी प्रकार से ज्ञानसंग्रह होना चाहिये। पशु-पक्षी भी अपनी सन्तान को आहार खोजने और आत्मरक्षा करने के उपायों की शिक्षा देते हैं। शिक्षा का उद्देश्य यही है कि उस ज्ञान की सहायता से अपना, अपने कुल कुटुम्ब का, अपने समाज का, भला कर सके। इहलोक और परलोक सम्बन्धी भला भी, और परमार्थ निश्रेयस संबंधी भला भी—जहाँ तक जिसके ज्ञान की गति हो वहाँ तक।

ब्रह्मचर्य की अवधि।

जितना ही अधिक ज्ञान का सञ्चय इस पहिली अवस्था में मनुष्य कर लेगा उतनी ही उसकी स्वोपकार और परोपकार की शक्ति अधिक होगी। पर सबकी शक्ति सबकी सामग्री, सबकी अवस्था, एकसी नहीं होती। इसलिये इस विषय में समन्वय मनु ने यों किया है,

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणांतिकमेव वा॥

गुरुकुल में छत्तीस वर्ष रह कर "त्रिवेद" शब्द से सूचित समग्र ज्ञानसमूह प्राप्त करे। इतना न बने तो इसका आधा। नहीं तो चौथाई। अथवा अपनी कुलपरम्परा के अनुसार, अथवा जो जीविका, वृत्ति, व्यवसाय, व्यापार, आगे करना इष्ट हो उसके उपयोगी, जिस विशेष ज्ञान की इच्छा हो, उसके शास्त्र का ग्रहण जब तक सम्पन्न न हो जाय तभी तक। जिससे जितना बन पड़े उतना ही सही। पर कुछ न कुछ विद्यासंग्रह करना।

ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ।

इस अवस्था का नाम ब्रह्मचर्य रखा है। "सम्यक्-कृत" "संस्कृत" भाषा के मुख्य मुख्य प्राचीन शब्दों में बहुत अर्थ रखा है।

बृहत्वाद् बृंहणत्वाद् चाऽऽत्मैव ब्रह्मेति गीयते।

आत्मा ही का नाम ब्रह्म भी है। क्योंकि बृहत् है, परम महान्, महतो महीयान् है, ब्रह्मा के रूप से समस्त संसार का बृंहण प्रसारण करता है, और यद्यपि छोटे से शरीर में बँध गया है, तौ भी जितना चाहता है बढ़ जाता है। "हम गुरुकुल निवासी" कहने से इस संस्था से सम्बन्ध रखने वाले जितने भी सैकड़ों मनुष्य हैं उन सबमें "हम" रूपी आत्मा व्याप्त हो गया। "हम काशीवासी" कहते ही दो लाख आदमी के बराबर हो गया, और इसकी सत्ता केवल दो लाख मनुष्यों ही में नहीं, किंतु उनकी जायदाद मिल्कीयत मकान असवाब सबमें अहंता ममता रूपेण व्याप्त हो गई। "हम भारतवासी"

कहते ही यह बत्तीस करोड़ मानवों के तुल्य हो गया। "हम मनुष्य" कहा और डेढ़ सौ करोड़ मनुष्य इसके विराट् बौद्ध शरीर में आ गये। "हम चेतन जीव" कहते ही अनन्त हो गया। "अचैतन्यं न विद्यते", ऐसा कोई परमाणु नहीं जो चैतन्य रहित हो। यह तो हुआ बौद्ध बृंहण।

शारीर बृंहण की शक्ति भी इसमें है। "एकोऽहम् बहु स्याम्"। अपने सदृश सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति प्रत्येक परमाणु में है। मनुष्य समाज के अनंत, संख्यातीत, माता पिता, मातामह मातामही, पितामह पितामही, हो गये, और उसके आगे भी अनंत पुत्र पुत्री, पौत्र पौत्री, नप्ता नप्त्री की परम्परा प्रलयकाल तक चली जायगी। इस अनंत सन्तानोत्पादक शक्ति का स्वरूप कहिये, इसका बीज कहिये, ब्रह्म ही है।

इन सब ब्रह्मों का, ज्ञानरूपी, वेदरूपी, शास्त्ररूपी, बुद्धिरूपी, ब्रह्म का, तथा अन्नरूपी, बीजरूपी, शुक्ररूपी, ब्रह्म का, मूलरूप वही चेतनामय आत्मा है। आत्मा शब्द का भी अर्थ वही होता है।

> अत्ति सर्वांश्च विषयानत्येत्यपि च तांस्तथा।
> सर्वत्रातति सर्वेषु देहेष्वपि च सर्वथा।
> यस्माच्चास्याततो भावस्तस्मादात्मेति कथ्यते॥

सब विषयों का विषयी है, स्वाद लेने वाला है, सब भोगों को भोगता है, तो भी सबसे अतीत है, सबसे परे है, सब स्थानों में सब देशों में सब देहों में सब प्रकारों से भ्रमण भी सदा करता रहता है, और सब में एक साथ ही आतत और व्याप्त भी है—इसलिये इसको आत्मा कहते हैं।

ज्ञानब्रह्म और शुक्रब्रह्म का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वैद्यक शास्त्र का सिद्धांत है कि आहार के परिपाक से क्रमशः सात धातु स्थूल शरीर के बनते हैं,—रस, रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा, शुक्र। आहार का सातवां परिपाक अथवा परिणाम सप्तम और सर्वोत्तम धातु शुक्र है, जिसमें नवीन प्राणिशरीर आरम्भ करने की शक्ति है, ईश्वर सदृश सृष्टि शक्ति है। उसका निरोध और अधिक परिपाक होने से अष्टम परिणाम सूक्ष्म-शरीरांतर्गत ओजस्, सहस्, बल, तेजस्, अर्थात् क्रमशः शरीर की मांसपेशियों का, इन्द्रियों का, हृदय का, बुद्धि का, बल, वीर्य, शक्ति रूप होता है।

ब्रह्मचर्यावस्था में इन दोनों ब्रह्मों का, अर्थात् ज्ञानब्रह्म और शुक्रब्रह्म का, जितना सञ्चय करते बने उतना ही पीछे काम देगा, उतना ही अधिक बुद्धि का बल और शरीर का बल अपने लिये, अपने कुल कुटुम्ब के लिये, अपने समाज के लिये, सुख साधने के वास्ते पास रहेगा। इसीसे इस अवस्था का नाम ब्रह्मचर्य है, अर्थात् ब्रह्मसञ्चयानुकूल चर्या, आचरण।

जो मनुष्य, जो जाति, जो धर्म, ऐसे ब्रह्मचर्य का आदर नहीं करते, वे शीघ्र ही बल वीर्य बुद्धि से हीन हो जाते हैं, और संसार में उनका स्वयं अनादर होने लगता है। अन्नब्रह्म से शुक्रब्रह्म, शुक्रब्रह्म से ज्ञानब्रह्म, मनुष्य के स्थूल और सूक्ष्म शरीर में व्यक्त होता है, इससे इन तीनों का समान आदर करना उचित है। एक ही ब्रह्मशक्ति के अनन्तरूप हैं, स्थूल भी, सूक्ष्म भी, शारीर भी, मानस भी। महत् बुद्धि की परिणति विकृति सांख्योक्त महाभूतादि हैं, और इनका प्रतिप्रसव पुनः

बुद्धि में और मूल प्रकृति में। इसीलिये मनु ने कहा है,

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन् ।
पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति ।

तथा अन्य ऋषि ने,

पाके रसस्तु द्विविधः प्रोच्यतेऽन्नरसात्मकः ।
रससारमयो भागः शुक्रं ब्रह्म सनातनम् ॥

अर्थात्, भोजन को पूजाबुद्धि से, आदरदृष्टि से, देखै। तब उससे शरीर में बल और ऊर्ज (फुर्तीलापन, अँग्रेज़ी में "एनर्जी") उत्पन्न होते है। अन्न के रस का जो सारतम अंश है वह शुक्ररूप सनातन ब्रह्म है। सात्विक भोजन, शुद्धभाव से, इस प्रार्थना से, इस भावना से, इस धारणा से, ब्रह्मचारी को करना चाहिये, कि यह भोजन मेरे शरीर में सात्विक बल-वीर्य-ज्ञान उत्पन्न करे। सात्विक राजस तामस भोजनों के भेद गीता में तथा वैद्यक के ग्रंथों में बताये हैं। अन्न के रस के परिपाक का जो सार है वह साक्षात् सनातन ब्रह्मस्वरूप शुक्र है, जिसका व्यर्थ क्षय नहीं करना चाहिये।

खानपान के बारे में "छूओ मत" को जो अंधाधुन्ध आफत आजकाल इस अभागे देश में मची है उसके असद् अंश को छोड़कर जो सद् अंश बचता है उसका तात्त्विक हेतु, असल मतलब, यही है कि भोजन शुद्ध और सात्विक होना चाहिये, स्वच्छ शुचि आदमियों के हाथ का बना और परोसा होना चाहिये, स्वच्छ शुचि आदमियों के साथ बैठ के खाया जाना चाहिये। सो तो होता नहीं, स्वच्छता सात्त्विकता, भोज्य पदार्थ की अथवा बनाने परोसनेवाले अथवा साथ खाने

वाले को, तो देखी नहीं जाती, जाति का नाम ही देखा जाता है, "छूओ मत", "छूओ मत", यही पुकार पुकार कर पवित्र-मन्यता और दम्भ और अहंकार का सन्तोषण पोषण किया जाता है, तथा इस परस्पर अस्पृश्यता से परस्पर स्नेह और तज्जनित संघ शक्ति का हत्या की जाती है, और दूसरों को निमन्त्रण दिया जाता है कि ऐसे छिन्न भिन्न हिंदुओं को रोज जूतियां लगावें। कबीर ने यही देखकर गाया और रोया था,

चौका भीतर मुर्दा पाकं, न्हाय धोयके जेवं।

पशु का मुर्दा तो पेट के भीतर डालेंगे, इसमें अपनी परम अशुचिता नहीं देखेंगे। पर यदि उसी मुर्दे को पकाते समय दूसरी अवान्तर जाति का जीवन्मनुष्य, अपने से रूप रंग में अधिक स्वच्छ भी, छू दे, तो "छू गया", "छू गया" का हौरा नचावेंगे। इस दम्भ का फल सिवा विनाश के और क्या हो सकता है।

शिव-शक्ति-पूजा का भी ऐसी दुर्दशा हो रही है, और ऐसे ही उसका भी असल मतलब भूला हुआ है। असल मतलब यह था कि परमात्मा की अनंत-रूप-धारणशक्ति, बहुत्वशक्ति, प्रजनन-शक्ति, पितृत्व-मातृत्वशक्ति का परम आदर किया जाय, और कभी दुरुपयोग न किया जाय। उत्तम विवाह, उत्तम दाम्पत्य, उत्तम गार्हस्थ्य में उसका सत्प्रयोग और सदुदाहरण हो। हो क्या रहा है? शिव-पूजा के नाम से केवल पिंडिका पर कुछ दाने अक्षत, दो चार पत्ते फूल, एक लोटा जल फेंकना, पुजारियों की पुकार पर पैसे भी फेंक देना, मन्दिरों के भीतर धक्कमधुक्का करना। और शक्तिपूजा के नाम से वाममार्ग के

सी पंचमकार के आचार विचार कर डालना। गार्हस्थ्य के सम्बन्ध में विवाह के विषय पर और कहा जायगा।

ब्रह्मचर्य के विषय को समाप्त करते हुए यहाँ इतना और वक्तव्य है कि कहावत ही है कि पहिले कमा ली तब खर्च करना। जितनी कमाई पहिले अधिक कर ली जायगी, उतना ही ऐश्वर्य पीछे निबाहते बनेगा। पर यहाँ भी "अति सर्वत्र वर्जयेत्" का सिद्धान्त याद रखना चाहिये। बहुकाल पर्यन्त, अथवा नैष्ठिक, ब्रह्मचर्य, इने गिने ही जीव कर सकते हैं। ठीक ठीक नैष्ठिक ब्रह्मचारी पुराणेतिहास में चार सनत्कुमारादि ऋषि, हनुमान् और भीष्म, और संशयित रूप से नारद, सरस्वती, आदि, ऐसे बहुत थोड़े ही दिखाये हैं। सब शरीर ऐसे नहीं होते कि चिरकाल तक ब्रह्मचर्य के तपस् को कर सकें, सच्चे ऊर्ध्वरेतस् हो जायँ, और आहारजनित समस्त शुक्र का परिणमन उन सूक्ष्मतर रसों में कर डाले जिनसे मस्तिष्क के तथा शरीर-नाड़ी-व्यूह के अभी सुप्तप्राय चक्रों का तर्पण पोषण और जागरण होता है, और सूक्ष्म शरीर की इन्द्रियों का विकास होकर योगसिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। साधारण शरीरों में, अतिकाल और अतिमात्र ब्रह्मचर्य करने से बीमारी और तरह तरह के विकार, शारीर और मानस, पैदा हो जाते हैं। जैसे कृपण सूम के घर में धन का अति सञ्चय होकर, समाज में सञ्चार न होने से, सामाजिक उपद्रव पैदा हो जाते हैं। काम को अतिमात्र रोकने से काम का सगा छोटा भाई क्रोध प्रबल हो जाता है। "बालब्रह्मचारी अति कोही" इस वाक्य में तुलसीदास ने आध्यात्मिक वैद्यक की बात दिखाई है। सच्चे तपस्वी, "स्वयं-

दासास्तपस्विनः", अक्सर चिड़चिड़े होते हैं। पुराण की कथा में है कि विष्णु की डेवढ़ी पर जय और विजय ने सनत्कुमार आदि कुमार ऋषियों को ज़रा सा कहा "कि आप यहाँ थोड़ा आराम कर लें, कुर्सियों पर बैठ जायँ, सरकार अभी प्रातःकृत्य से निवृत्त नहीं हुए, ज्यों ही मिलने के कमरे में आवेंगे आपको ले चलेंगे।" पर इतने ही से "कामानुजेन सहसा त उपाप्लुताक्षाः", काम के अनुज क्रोध से उन कुमारों की आँखें लाल हो गईं, शापाशापी की नौबत आ गई, जय विजय को भी तीन जन्म लेने पड़े, कितने ही सनत्कुमारादि के भाई भतीजे ऋषियों को दैत्य-राक्षस रूप से भोजन कर गये, विष्णु जी को भी एक ओर भक्त ऋषियों और एक ओर मुँहलगुए नौकरों के बीच में निपटारा करते करते तीन अवतारों की दुर्दशा भोगनी पड़ गई। इसलिये साधारण जीव को ब्रह्मचर्य में भी "अति" बचाने की आवश्यकता है कि वातव्याधि, उन्माद, अपस्मार, अतिक्रोध, अतिलोभ, प्रमेह, क्षय, आदि न उत्पन्न हो जायँ।

गार्हस्थ्याश्रम

इसलिये ब्रह्मचर्य को यथा शक्ति उत्तम प्रकार से निवाह कर विवाह करना उचित है।

अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्। (मनु)

इस आश्रम की महिमा पहिले कह चुका हूँ।

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।
एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः॥
सर्वेषामपि चैतेषां वेद श्रुतिविधानतः।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्त्ति हि॥ (मनु)

चारों आश्रम गृहस्थ ही से उत्पन्न होते हैं। वेद का निर्णय है कि सब आश्रमों में श्रेष्ठ गृहस्थ ही है। यही अपना भी और अन्य तीनों का भी भरण पोषण करता है। आदि जायापती प्रकृति-पुरुष हैं। अन्तिम भी। और सार्वकालिक, शाश्वत, दम्पती भी ये ही हैं। पुरुष-प्रकृति को, स्व और स्व-भाव को, ब्रह्म-माया को, शिव-शक्ति को जीव-देह को, आत्मा-बुद्धि को, चाहे एक कहिये, चाहे दो अर्धाङ्ग, दो दक्षिण-वाम अर्द्ध, कहिये, चाहे दो कहिये, जाया-पती, जोड़ा कहिये, चाहे अनन्तानन्त अनेक कहिये, बात प्रत्यक्ष है। फारसी की प्रसिद्ध गीत है।

मन् तू शुदम् तू मन् शुदी,
मन् जाँ शुदम तू तन् शुदी।
ता कस् न गोयद् बाद् अज् ईं,
मन् दीगरम तू दीगरी ॥

अर्थात,

मैं तू हुआ तू मैं हुई, मैं जान हुआ तू तन हुई।
अब तो न कोई फिर कहे—मैं दूसरा तू दूसरी ॥

वेदोपनिषत् के सारमय शब्दों में सृष्टि का मूल कारण हो यही कहा है कि अकेले परमात्मा का मन नहीं लगा।

"एकाकी नारमत, आत्मानं द्वेधा व्यभजत, पतिश्च पत्नी चाभवत्।" मनु ने पूर्ण मनुष्य का स्वरूप ही त्रिमूर्त्यात्मक कहा है।

एतावानेव पुरुषो यज्जायात्मा प्रजेति ह।
विप्राः प्राहुस्तथा चैतद् यो भर्त्ता सा स्मृताङ्गना ॥

पति, पत्नी, सन्तान, तीनों मिलकर पूर्ण पुरुष होता है। पौराणिक त्रिमूर्ति, ईसाई मत की "ट्रिनिटी", मनुष्य के तथा

सूर्य के तीन शरीर स्थूल-सूक्ष्म-कारण—इन सब के मूल में समानता है। पर इसके विशेष विवरण में पड़ने का यह अवसर नहीं है।

व्यक्ति-कुल-जाति आदि समस्त मानववंश का समन्वय

इस श्लोक के आशय को एक बात ध्यान में रखने की है। पश्चिम के समाजशास्त्रियों और राजशास्त्रियों ने व्यक्ति रूप मनुष्य को, "इंडिविज्युअल" को, समाज का आरम्भक अवयव अथवा "अणु", "यूनिट्", केंद्र, माना है। भारतवर्ष के ऋषियों ने त्रिमूर्त्यात्मक कुल को, "फैमिली" को, ऐसा आरम्भक अवयव माना है। इसी कारण से, जैसा केन्द्र में भेद है वैसा परिधि में भी भेद है। जैसा व्यष्टि में वैसा समष्टि में। पश्चिम की सामाजिक परिधि "जाति", "नेशन्", "राष्ट्रीयता", "नैशनलिज्म", इत्यादि है। भारतवर्ष के लिये यह परिधि "मनुष्य जाति", "ह्यूमन् रेस्", "विश्वजनीनता", "ह्यूमनिज्म" है। और इसी विश्वजनीन भाव को लेकर वर्ण-व्यवस्था एक ऐसा साँचा, आध्यात्मिक सिद्धांत के अनुसार, बनाया गया है, कि इसमें मनुष्य मात्र की अनन्त जात्युप-जातियाँ, समग्र पृथिवीमण्डल के सब देशों की, अपनी अपनी गुण कर्म योग्यता के अनुसार यथास्थान समाविष्ट की जा सकती हैं, और उनके परस्पर विवादों को मिटा कर, सबको मिलाकर, एक चातुर्वर्ण्यात्मक मानव महासमाज बनाया जा सकता है। ऐसा कोई देश नहीं और कोई काल नहीं, जिसमें

बीसियों, सैकड़ों, अथवा हजारों, छोटी बड़ी जातियाँ, विविध नामों से पुकारी जाती हुई न पाई जायँ। पर अध्यात्म विज्ञान के सिद्धांतों के बल से सबको एक समाज में गूँथने का उपाय और प्रयत्न विशेषतः मानवधर्म ही ने प्राचीन काल में किया। पर आज उस धर्म को और आध्यात्मिक सिद्धांतों की ऐसी दुर्दशा है कि अन्य देशों से अत्यधिक इस देश में जात्युप-जातियों में परस्पर विश्लेष है। जाति शब्द का अर्थ दूसरा है, वर्ण का अर्थ दूसरा। इन दोनों अर्थों और शब्दों का सङ्कर कर देने से वर्तमान अव्यवस्था और निर्मर्यादता उत्पन्न हुई है। जन्मना जातिः। स्वभाव-गुण-कर्मानुसार आजीविकार्थं वृत्त्युपायः व्रियते इति कर्मणा वरणाद् वर्णः। जाति का अर्थ जात। वर्ण का अर्थ जीविकोपाय, पेशा, रोजगार, जो अपने अपने स्वभाव गुण कर्म के अनुसार वरण किया जाय, चुन लिया जाय। सिंह जाति की सन्तान सिंह जाति। बकरी जाति की सन्तान बकरी जाति। हाथी जाति की सन्तान हाथी जाति। पर अध्यापक (ब्राह्मण) वर्ण की सन्तान तो सिपाही (क्षत्रिय) वर्ण अथवा दूकानदार (वैश्य) वर्ण अथवा बोझा ढोने वाले, मिहनत मजदूरी करने वाले (शूद्र) वर्ण के, तथा इसके विलोम, प्रत्यक्ष, लक्षशः, देख पड़ते है।

स्त्रीपुरुष-तुलना-समन्वय

अस्तु, पूर्वोक्त श्लोक से यह तो स्पष्ट ही है, कि स्त्रीपुरुष की आदरणीयता तुल्य मानी है। अथवा स्त्री का आदर अधिक किया है।

जीर्णे भोजनमात्रेयः गौतमः प्राणिनां दया ।

बृहस्पतिरविश्वासः भार्गवः स्त्रीषु मार्दवम् ॥

चार ऋषियों के चार मुख्य उपदेश हैं । एक बार भोजन किया हुआ अन्न जब जीर्ण हो जाय, अच्छी तरह पच जाय, तब ही दूसरी बार भोजन करना । प्राणिमात्र पर दया करना । विश्वास करते हुए भी अत्यन्त रूप से श्रद्धान्ध और परप्रत्ययनेय न हो जाना, विश्वासपात्र को जाँच करके उस पर विश्वास करते हुए भी स्वयमप्रज्ञ बने रहना, और स्त्रीमात्र से मृदुता, नम्रता, प्रश्रय का व्यवहार करना, रुखाई, तिरस्कार, क्रूरता का व्यवहार कदापि न करना । शिष्टों का आचार भी यही है । नामोच्चारण में पहिला स्थान पत्नी को, दूसरा पति को, देना । यथा सीताराम, शारदाचतुर्मुख, लक्ष्मीनारायण, गौरीशंकर, इत्यादि । परमात्मा की प्रकृति के ये तीन जोड़ आद्य आविष्कार हैं । और लक्ष्मी, ब्रह्मा, रजःप्रधान, सरस्वती और विष्णु, सत्त्वप्रधान, उमा-महेश्वर तमःप्रधान । रजः-कर्म का विवाह सत्व-ज्ञान से किया जाता है । बिना कर्म के ज्ञान निष्फल, बिना ज्ञान के कर्म व्यर्थ और अनर्थ । तमस्-इच्छा तो ज्ञान और कर्म दोनों की प्रेरक, शिव-रुद्र, भव-हर, गौरी-काली, राग-द्वेष, काम-क्रोधात्मक, सदासम्बद्ध अंगार्धद्वयरूपिणी है । ये ही आद्य तीन जोड़े, महागृहस्थ, संसार के सब कार्य चलाते हैं, और सब महर्षि परमर्षि यति सन्यासी आदि के परम पितामह हैं ।

गिरामाहुर्देवीं द्रुहिणगृहिणीमागमविदो

हरेःपत्नीं पद्मां हरसहचरीमद्रितनयां ।

तुरीया कापि त्वं दुरधिगमनिस्सीममहिमे
महामाये विश्वं भ्रमयसि परब्रह्ममहिषि ।

(आनन्दलहरिः)

मानवधर्म में स्त्रियों का आदर इतना है कि, पुरुष से तुलना की कथा दूर, स्त्रीपुरुष परस्परार्धांग माने हैं । दोनों मिल के ही शरीर पूर्ण होता है ।

स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।

यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः ॥ (मनु)

स्त्री का नाम ही गृहलक्ष्मी, गृह की अन्नपूर्णा है । जहाँ स्त्रियों का आदर होता है वहाँ देवता प्रसन्न रहते हैं । जहाँ स्त्रियों का आदर नहीं वहाँ सब क्रिया कर्म, सब यत्न परिश्रम, निष्फल और व्यर्थ हो जाते हैं । मातृत्वेन तो स्त्री का स्थान उपाध्याय, आचार्य, पिता आदि सबसे सहस्र गुण ऊँचा है, यह पहिले कह आये हैं । वस्तुस्थिति यही है,

मातृवात्सल्यपूर्णाभिः सतीभिर्धार्यते जगत् ।

बच्चों के लिये माता का जो स्नेह है वही जगत् को धारे है । माता का स्नेह और प्राण ही दूध के रूप से मूर्तिमान होकर नयी नयी पुश्त का पालन पोषण करता है, नहीं तो मनुष्य जाति उच्छिन्न हो जाय ।

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणां ।

न तस्यापचितिः शक्या कर्त्तुं वर्षशतैरपि ॥

बच्चे के पालने में जो क्लेश माता पिता उठाते हैं उसकी, अपचिति, उसका प्रत्युपकार, उसका ऋणनिर्मोचन, सैकड़ों वर्ष के

परिश्रम से भी पूरा नहीं कर सकता है। उसका ऋणनिर्मोचन का अकेला उपाय यही है कि वह अपनी संतान के लिये वैसा ही क्लेश उठावे जैसा उसके माता पिता ने उसके लिये उठाया।

जैसे बहुतेरे पुराने श्लोकों के अर्थ का अनर्थ किया जाता है, वैसे इस संबंध में भी मनु के एक श्लोक की दुर्दशा हुई है। "व्याख्या बुद्धिबलापेक्षा", यदि सात्विक बुद्धि से अर्थ किया जाय तो सात्विक अर्थ निकलेगा, यदि राजस तामस बुद्धि से तो राजस तामस। जैसा चश्मा वैसा दृश्य का रंग।

पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने।
पुत्रो रक्षति वार्धक्ये न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति॥

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जैसे किसी बहुमूल्य वस्तु की रक्षा की जाती है, रखवारी की जाती है, उस प्रकार से स्त्रियों की रक्षा करनी चाहिये, क्लेश और दुःख से उनको बचाना चाहिये, इस लापरवाई से छोड़ न देना चाहिये कि अपनी फिक्र आप कर लेंगी, अपनी मुसीबतें आप झेल लेंगी। "न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति" का यह अर्थ नहीं है कि स्त्री को गुलाम बना लेना चाहिये, पिंजरे में बंद कर देना चाहिये। यदि बांधना ही है तो परस्पर प्रेम की रस्सी से बाँधो; लोहे की सिकड़ी से नहीं।

पश्चिम के शिष्टतम और स्वच्छन्दतम समाज में भी यही प्रथा है कि जहाँ कहीं जाने आने में किसी प्रकार के तिरस्कार, अपमान, या शारीरक्लेश का भय हो, वहाँ स्त्रियों के साथ उनकी रक्षा करने के लिये रिश्तेदार या जाने पहिचाने विश्वास-पात्र पुरुष साथ जाते हैं। हाँ, सब उत्सर्गों के लिये अपवाद

होते हैं। जो विशेष विशेष स्त्रियाँ ऐसी हों कि अपनी रक्षा स्वयं कर सकती हों, उनके लिये यह श्लोक नहीं है। पश्चिम में यदि कोई कोई स्त्रियाँ सिंह का शिकार उत्तम बन्दूक आदि की सामग्री के बल से कर लेती हैं, तो भारतवर्ष में तो प्रायः जंगलों में अथवा जंगलों के आस पास रहने वाली जातियों में, ऐसी स्त्रियाँ अक्सर पाई जाती हैं जो वन्य पशुओं का मुकाबला और उनसे अपनी और अपने बालकों की रक्षा बहुत साधारण हथियारों के बल से कर लेती हैं। ऐसी स्वयंरक्षित स्वतन्त्र स्त्रियों के भाव का अभाव भारतवर्ष के साहित्य और इतिहास में नहीं है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण पुराणों की सिंहवाहनी दुर्गा के स्वरूप से तथा राजपूताने के इतिहास से सिद्ध है। स्वयंरक्षितता का तो कहना ही क्या है, जगद्रक्षकता का काम दुर्गा देवी के सुपुर्द है। महिषासुर और शुंभ निशुंभादि के वध का जो काम देवों से नहीं बना वह देवियों ने किया। अपने बालकों की रक्षा के लिये मनुष्य जाति की कोमलतम स्त्रियाँ भी सिंहिनी हो जाती हैं। अन्यथा, स्त्री का साधारण स्वभाव ही है कि रक्षा चाहती है, रक्षक का आश्रय लेना चाहती है ("सीक्स् प्रोटेक्शन्") —यह पश्चिम के स्त्री-पुरुष-स्वभावतत्त्वगवेषकवैज्ञानिकों ने भी निश्चय किया है।

> देव्या यया ततमिदं जगदात्मशक्त्या
> निःशेषदेवगणशक्तिसमूहमूर्त्या ।
> तामम्बिकामखिलदेवमहर्षिपूज्यां
> भक्त्या नताः स्म विदधातु शुभानि सा नः ॥
>
> (सप्तशती)

अर्थात्, आत्मा की शक्ति रूपिणी जिस देवी ने "इदं", "यह", "दृश्य" नाम वाले सारे जगत्, गमनशील, परिवर्त्तन-शील, संसार को बनाया और फैलाया है, जो अनंत देवनामक शक्तियों की समूहरूपिणी है (आत्मैव देवताः सर्वाः), जिसकी ही उपासना हृदय से सब देव और सब महर्षि करते हैं, उस अम्बिका को, जगत्सावित्री, जगद्धात्री, शक्ति को, भक्तिपूर्वक नमस्कार है, वह हम सबका भला करे।

देवताभेद-समन्वय

जैसा मैं फिर फिर कहा करता हूँ, असल में देवता तीन ही है, जिन्हीं की पूजा सब देश और सब काल में, सब जाति और सब धर्म के सब मनुष्य, सदा करते आये, करते हैं, और करते रहेंगे, चाहे वे ईसाई हों या मुसलमान, यहूदी या पारसी, जैन या बौद्ध। संस्कृत शब्दों का व्यवहार करने वाले भारतीयों का तो कहना ही क्या है। अर्थात् सरस्वती, ज्ञान की देवता, लक्ष्मी, धनदौलत, शानशौकत, शोभासम्पत्ति, ऐश्वर्य, तुजुकोहश्मत, की देवता तथा गौरी, प्राण की, अन्न की, प्रेम की, रूपसौन्दर्य, दाम्पत्यसुख और सन्तान की देवता, जिनके अनन्त रूपान्तर, (रागद्वेष के अनन्त रूपान्तरों और विकारों के अनुसार), अन्नपूर्णा, पार्वती, उमा, दुर्गा, चंडी, काली, आदि है। ये ही तीन, परमात्मा की शक्ति की तीन मुख्य रूप हैं। इन्हीं शक्तियों की उपासना संसार मात्र कर रहा है। और सब स्त्रियाँ और सब विद्या शक्तिस्वरूप ही हैं। शक्ति ही की भेद और कला हैं।

विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः
स्त्रियः समस्तास्सकला जगत्सु ।

इन्हीं गृहसरस्वती, गृहलक्ष्मी, गृहगौरी, गृहान्नपूर्णा के प्रसन्न रहने से गृह समृद्ध, सम्पन्न, हँसते, खेलते, नीरोग, हृष्ट-पुष्ट बालकों से पूर्ण रहता है, जिनके दर्शन से नेत्र तृप्त होते हैं और घर घर में राम कौसल्या, कृष्ण-यशोदा, ईसा-मर्यम, फातिमा-हसन-हुसेन की दिन दिन झाँकी होती है। इन्हीं के अप्रसन्न होने से और गृहचण्डी और गृहकाली बन जाने से, गृह नष्ट हो जाता है।

या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेषु, अलक्ष्मीः
पापात्मनां, कृतधियां हृदयेषु बुद्धिः ।
श्रद्धा सतां, कुलजनप्रभवस्य लज्जा,
तां त्वां नताः स्म परिपालय देवि विश्वम् ॥
मेधासि देवि विदिताखिलशास्त्रसारा,
दुर्गाऽसि दुर्गभवसागरनौरसङ्गा ।
श्रीः कैटभारिहृदयैककृताधिवासा,
गौरी त्वमेव शशिमौलिकृतप्रतिष्ठा ॥ (सप्तशती)

हे देवि ! पुण्यवान् सुकृती के घर में श्री, शोभा, पापी के घर में अप्रसाद, निश्श्रीकता, धीमान् के हृदय में सात्विक बुद्धि, सज्जन के मन में सत्कार्य करने की साध, सर्धा, श्रद्धा, सत्कुलीन के मन में ह्री, लज्जा, अर्थात् अहंकाराभाव, आत्म-प्रदर्शनाभाव, यह सब कुछ तू ही है, सो तुझे प्रणाम है। सब शास्त्रों का सार जाननेवाली मेधा, धारणावती बुद्धि, धीः तू ही है। दुर्गम भवसागर के पार करने वाली नाव

असङ्गरूपिणी, अनासक्तिरूपिणी, बुद्धि, अकेली तू ही है। कैटभारि के, (क्रोध को दमन करने वाले के) हृदय में बसने वाली प्रसन्नतारूपिणी श्री तू ही है। शशिमौलि, चन्द्रशेखर (चन्द्रमा से अलंकृत व्योम) का गौरी शोभा गुप्ता तू ही है। जैसे सांसारिक सुख के वास्ते, प्रवृत्ति मार्ग पर चलते हुए मनुष्य, इन तीन शक्तियों की उपासना अभ्युदय सम्बन्धी त्रिवर्ग, अर्थात् धर्म अर्थ काम (सरस्वती-लक्ष्मी-गौरी, ज्ञान-क्रिया-इच्छा, विष्णु-ब्रह्मा-शिव, सत्व-रजस्-तमस्), की प्राप्ति के लिये करते हैं, वैसे संसार से विमुख होने पर, निवृत्ति मार्ग पर आरूढ़ होने पर, मोक्षार्थी होने पर, भी, इसी देवी शक्ति के चरम और परम रूप अर्थात् महाविद्या, आत्मविद्या, ब्रह्मविद्या, की उपासना उनको करनी पड़ती है।

या मुक्तिहेतुरविचिन्त्यमहाव्रता त्व-
मभ्यस्यसे सुनियतेन्द्रियतत्वसारैः।
मोक्षार्थिभिर्मुनिभिरस्तसमस्तदोषैर्
विद्याऽऽसि सा भगवती परमा हि देवि॥

निष्कर्ष यह है कि जो सम्बन्ध पुरुषप्रकृति का, शिवशक्ति का, है, वही स्वभावतः पतिपत्नी का है और होना चाहिये।

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पंदितुमपि।
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरिंच्यादिभिरपि।
प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति॥

(आनन्द लहरी)*

---

*इस श्लोक का अर्थ पहिले, पृष्ठ ५० पर लिखा जा चुका है।

शंकरः पुरुषाः सर्वे स्त्रियः सर्वा महेश्वरो ।
स्त्रीपुंसप्रभवं विश्वं स्त्रीपुंसात्मकमेव च ॥
(शिवपुराण)

इस दाम्पत्य सम्बन्ध में अन्य सब स्नेह प्रीति के, माता, पिता, पुत्र, पुत्री, भाई, बहिन, इत्यादि, सम्बन्ध अन्तर्गत हैं, सब इसी से पैदा होते हैं और इसी में फिर लीन हो जाते हैं।

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

ऐसा कहीं राम के प्रति सीता का वाक्य है। दशरथ ने भी कैकेयी की गर्हणा करते हुए कहा है,

किं मां वक्ष्यति कौसल्या राघवे वनमास्थिते ।
किं चैनां प्रतिवक्ष्यामि कृत्वा विप्रियमीदृशम् ॥
यदा यदा हि कौसल्या दासीवच्च सखीव च ।
भार्यावद्भगिनीवच्च मातृवच्चोपतिष्ठति ॥
सततं प्रियकामा मे प्रियपुत्रा प्रियंवदा ।
न मया सत्कृता देवी सत्कारार्हा कृते तव ॥
इत्यादि ।

अर्थात्, जब राम वन को चले जायँगे, तब कौसल्या मुझको क्या कहेंगी, और मैं उनको क्या उत्तर दूँगा ? दासी के, सखी के, भार्या, भगिनी, माता के समान, सभी भाव से कौसल्या ने सदा मेरा हित और प्रिय किया, और मैंने उनका सत्कार न किया। तथा वशिष्ठ ने भी कैकेयी की भर्त्सना करते हुए कहा है,

अनुष्ठास्यति रामस्य सीता प्रकृतमासनम् ।
आत्मा हि दाराः सर्वेषां दारसंग्रहवर्त्तिनाम् ।
आत्मेयमिति रामस्य पालयिष्यति मेदिनीम् ॥

इत्यादि ।

यदि राम जङ्गल को जायँगे, तो उनके स्थान में राज-सिंहासन पर सीता बैठेगी । पति की आत्मा ही पत्नी है । इस-लिये यही पृथ्वी का पालन और राजकार्य का चालन करेगी ।

निचोड़ यह कि जो उत्तम निदर्शन प्राचीन ग्रन्थों में दिखाये हैं उनमें पतिपत्नी की अन्योऽन्यात्मता ही दिखाई है, और यही कहा है कि एक दूसरे के लिये इनको सर्वस्व होना चाहिये । गौरीशंकर का अन्योऽन्याऽर्धांगित्व भी इसी भाव की पराकाष्ठा का पौराणिक रूपक है । स्त्रीपुमानुभयात्मक उभयलिंग जीव भी संसार में होते हैं, यह वैज्ञानिक बात भी इस रूपक से द्योतित होती है, इत्यन्या कथा । वनस्पति वर्ग सभी उभयलिंग हैं, तथा मानववर्ग में भी पुरुषों में अव्यक्त-रूप से स्त्री चिन्ह, और स्त्रियों में अव्यक्त रूप से पुरुष चिन्ह, वर्तमान है, और यदा कदा, लाखों में से एक दो में, दोनों व्यक्त भी पाये जाते हैं, यह पाश्चात्य आधुनिक वैज्ञानिकों का कहना है । तिस पर भी, मातृत्वेन स्त्री का गौरव भारतीय शालीनता सभ्यता में कितना सर्वश्रेष्ठ कर दिया है, यह पहिले आपसे कह चुका हूँ ।

उपाध्यायान् दशाचार्यः शताचार्यांस्तथा पिता ।
सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते ॥

आप लोगों को ब्रह्मचर्य समाप्त करके गार्हस्थ्य में प्रवेश करना है, इसलिये यह सब पुराने आदर्श आप लोगों के सामने रखे जाते हैं। इतना यहाँ और कह देना चाहिये कि किसी प्राचीन काल में स्त्रियों को भी विधिवत् उपनयनादि करके वेदाध्ययन रूप ब्रह्मचर्य कराया जाता था, पर समय बदलने से यह प्रथा बन्द हो गयी है। यदि पुनः बदलकर प्राचीन अवस्था के सदृश अवस्था पुनः उत्पन्न हो जाय, तो वह प्रथा भी पुनः प्रचलित करनी पड़ेगी। जैसा पच्छिम में देख पड़ता है कि लड़कियों की भी विधिवत् शिक्षा होती है। भारतवर्ष में भी इस ओर समाज का ध्यान बढ़ ही रहा है। और उपनयन संस्कार का तात्विक अर्थ तो शिक्षा ही है, गले में सूत डाल देना मात्र नहीं। बालक को गुरु के "उप", समीप, "नयन", ले जाना, इसलिये कि गुरु उसको "ब्रह्म" के, ज्ञान के, आत्मज्ञान के, आत्मा के, "उप", समीप, "नयन" करे, ले जाय—यह उपनयन-संस्कार का तत्व है। ऐसी शिक्षा का अधिकार सभी बुद्धिमानों को है। क्या बालक, क्या बालिका। इसी आशय से गौतम-स्मृति में कहा है,

पुराकाले तु नारीणां मौंजीबन्धनमिष्यते।
अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवचनं तथा॥

हारीत [२१—२०] में भी कहा है,

तस्माच्छन्दसा स्त्रियः संस्कार्याः।

वाल्मीकि रामायण में कौसल्या के वेदमंत्रों से अग्नि में हवन करने की चर्चा की है। सब पात्रभेद अधिकारभेद की बात है। सिंहिनी की प्रकृति संस्कृति दूसरी, गाय की प्रकृति

संस्कृति दूसरी। आज काल के हिन्दू की स्त्री पति के पीछे चलती है। अँग्रेज़ की स्त्री, पति के बग़ल में, साथ साथ, शिव की पार्वती ऐसी। पर्वतवासियों पार्वतीयों का वर्णन कालिदास ने "वनितासखानां" शब्द से किया है।

विवाह भेद समन्वय।

अब विचारणीय बात यह है कि ऐसे पति-पत्नी के गार्हस्थ्य के लिये विवाह आवश्यक है। पर विवाह के विषय में संसार में बहुविध आचार विचार चले आते हैं। और देखने में परस्पर अति विरुद्ध हैं। पर इनका भी समन्वय अधिकारि-भेदेन अध्यात्मविद्या के बल से मानवधर्मशास्त्र में किया है।

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥

ज्ञानप्रधान सत्त्वप्रधान प्रकृति के लिये ब्राह्म आर्ष आदि प्रकार उपयुक्त हैं। क्रियाप्रधान रजोऽधिक क्षत्रिय प्रकृति के लिये गान्धर्व अर्थात् स्वयंवर, और वीर्यशुल्क वाले युद्धपूर्वक राक्षस प्रकार भी, उपयुक्त हैं। इच्छाप्रधान, द्रव्यसञ्चयी, अतः तमोऽधिक जीव के लिये पूर्वोक्त में से कई उपयुक्त है, तथा शुल्क देकर आसुर प्रकार भी यथाकथंचित् उपयुक्त पर निंदनीय है। अश्रमजीवों में पैशाच प्रकार जारी है। पर इन आठ प्रकारों में कुछ धर्म्य हैं बाकी अधर्म्य। यथा आसुर निन्द्य और पैशाच तो अधम और पापिष्ठ ही हैं। अर्थात् कई प्रकार ऐसे हैं जो शिष्ट शालीन सभ्य समाज में पापात्मक और दण्डनीय समझे जाते हैं। और शिष्टों के लिये अनुचित हैं भी। पर सब मनुष्य

तो यकसाँ नहीं। असभ्य ब्रात्यादि ("सावेज") जातियों के लिये, जिनमें ये अधम प्रकार प्रचलित हैं ही, इन्हीं को मर्यादा मान लिया है, जिसमें उनकी अव्यवस्थितता और भी अधिक न बढ़ जाय।

भारतवासियों का अक्सर यह विचार है कि पश्चिम में, यूरप अमेरिका में, श्वेतवर्णों में, स्वयंवर ही का प्रकार प्रचलित है। यह विचार ठीक नहीं। "सैक्सन" (अर्थात् जर्मन, अंग्रेज, और तद्वंशज अमेरिकन आदि) जातियों में यह प्रकार कुछ अधिक प्रचलित है, सर्वथा नहीं। "लैटिन" (अर्थात् इटालियन, फ्रेंच, स्पानिश् आदि) जातियों में अधिकतर विवाह माता पिता ही तय कर दिया करते हैं। विवाहशास्त्र और सन्ततिशास्त्र के (जो कामशास्त्र के परमावश्यक अंग हैं) निचोड़ और मूल मन्त्र को मनु ने अध्यात्मविद्यानुसार एक श्लोक में कहा है।

अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान् विवर्जयेत्॥

जो विवाह के प्रकार निन्दित हैं, उनका स्वरूप ही ऐसा है कि उनमें पतिपत्नी का भाव परस्पर शुद्ध स्नेहमय नहीं होता। इस हेतु से जो प्रजा इन विवाहों से उत्पन्न होती है वह भी निन्दनीय प्रकृतिवाली, अशुद्ध स्वभाव की, राजस तामस, दुर्देह और दुर्बुद्धि, ही होती है। पर जो विवाह के प्रकार प्रशंसनीय हैं वे ऐसे हैं कि उनमें जायापती की बुद्धि परस्पर शुद्ध और प्रीतिमय होती है, और इस कारण उनकी सन्तान भी उत्तम शरीर और उत्तम बुद्धि वाली सात्त्विक प्रकृति की होती है।

विवाह की संख्या के विषय में भी इसी प्रकार स्वभाव भेदेन समन्वय होता है। पर उत्तम कोटि में एक-पतिपत्नीव्रत ही सदा कहा है। नलोपाख्यान में महाभारत में कहा है।

विशिष्टाया विशिष्टेन संगमो गुणवान् भवेत् ।

रामायण की समग्र कथा में एकपत्नीव्रत और एकपतिव्रत की महिमा कही है । अन्यथा, एक स्त्री से बहु पुरुषों का विवाह, यथा पांडवों और प्राचेतस ऋषियों का, भी पुराणों में कहा है, और आज भी तिब्बत आदि प्रदेशों में होता है। एक पुरुषों के बहुत स्त्रियों से विवाह का तो कुछ कहना ही नहीं । विधवाविवाहादि के भी विषय में हेतुपूर्वक अधिकारिता देखकर मर्यादा बांधी है, पर उस मर्यादा का आजकाल प्रायः तिरस्कार ही हो रहा है। संसार में यही प्रसिद्ध है कि "हिंदू धर्म" का निचोड़ इतना ही है कि दूसरी जाति वाले के साथ खाओ मत, और विवाह मत करो। और जिसका जाति नाम तुम्हारा जाति नाम हो, उसके साथ खाओ और विवाह करो। इस प्रथा का मूलहेतु तो बहुत उचित आध्यात्मिक और वैज्ञानिक है। अर्थात् भोजन की शुद्धि से शरीर का बल और आरोग्य, और विवाह की शुद्धि से संतति की दिनों दिन उत्तमता। पर सच्ची शुद्धि और विशिष्टता को तो कोई देखता नहीं, जातिनाम ही देखा जाता है, और इस जातिनाम की आड़ में अशुद्ध से अशुद्ध भोजन और दुष्ट से दुष्ट और अनुचित से अनुचित विवाह बराबर होते हैं।

पुत्र-भेद-समन्वय ।

पुत्रों के विषय में भी द्वादश प्रकार के पुत्र अवस्था भेद से गिनाये हैं। किसी किसी गिनती से अठारह उनीस तक भी हो जाते हैं, (जैसा मेरे ज्येष्ठ भ्राता श्री गोविंददास जी ने अपनी "हिन्दुइज्म" नामक अँग्रेज़ी पुस्तक में दिखाया है) पर उत्तम प्रकार औरस पुत्र ही कहा है, जो अनिंदित विवाह से उत्पन्न हुआ हो।

अंगादंगात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा वै पुत्र नामासि वर्धस्व शरदां शतम् ।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥

पिता अपने पुत्र को आशीर्वाद देता है, हे पुत्र, मेरे एक एक अङ्ग से तेरा एक एक अङ्ग बना है, विशेष कर मेरे हृदय से तू उत्पन्न हुआ है। पुत्र के नाम से तू मेरी आत्मा ही है। जाया का जायात्व इसी हेतु से है कि पति उसके शरीर में से पुनर्वार पुत्ररूप से जायमान होता है।

यह सब भाव, एक एक बड़े गंभीर, बड़े सात्विक, बड़े उदार हैं। यदि समाज में इनका ठीक ठीक प्रचार हो तो आज समाज का स्वरूप ही दूसरा हो जाय।

यहाँ यह बात भी कहनी चाहिये कि जैसे शारीरब्रह्मचर्य को किये हुए, सच्चे सुपरिपक्व परिपुष्ट शुद्ध शरीर वाले माता पिता की शारीर संतान उत्तम और सच्ची होती है, और कच्चों की कच्ची, वैसे ही कच्ची बुद्धि विद्या वालों की बौद्ध संतान शास्त्र-ग्रन्थ-निबंध-काव्यादिरूपिणी भी कच्ची होती है। इस-लिये जैसे शारीर ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है वैसे बौद्ध ब्रह्मचर्य

की भी परमावश्यकता है। आज काल यह बहुत देख पड़ता है कि जैसे स्कूल में पढ़ने वालों के भी लड़के लड़की पैदा होते रहते हैं, वैसे ही वे पुस्तकें और लेख लिखकर छपाते भी रहते है। फल यह हुआ है, जैसा तुलसीदास ने कहा है,

भूमि हरित तृन संकुल सूझि परै नहिं पंथ ।
जिमि पाखंड विवाद ते लुप्त भये सद्ग्रंथ ॥

कच्चे आदमियों से और कच्चे लेखों और ग्रंथों से देश भर गया है। चिरसंयमी स्त्री पुरुष शरीर को और बुद्धि विद्या को अच्छी तरह परिपुष्ट करके शारीर भी और बौद्ध भी सन्तान उत्पन्न करें तो देश का बहुत उपकार और कल्याण हो।

ज्ञानं शौर्यं महः सर्वं ब्रह्मचर्ये प्रतिष्ठितं ।

ज्ञान देना भी गृहस्थ ही का काम है ।

यस्मात्त्रयोऽन्याश्रमिणः ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज् ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥

विधवाविवाहादि-समन्वय ।

गार्हस्थ्य के सम्बन्ध में विधवा-विवाह का भी प्रश्न उठता है। आप लोगों को गुरुकुल से समावृत्त होने के बाद समाज में जाकर समाज-सुधार के सम्बन्ध में इस प्रश्न का भी सामना करना होगा। तो देखिये कि मानव धर्म में इस प्रश्न का भी उत्तर उसी प्रकार दिया हुआ है जैसा और प्रश्नों का। अर्थात् सब प्रकार के भिन्न भिन्न प्रकृति के जीवों के लिये भिन्न भिन्न मर्यादा, बुद्धिपूर्वक, विवेकपूर्वक, देशकालावस्था-विचारपूर्वक, बाँधी है। जब परमात्मा ने सभी प्रकारों

को संसार में स्थान दिया है तो मानव धर्म क्यों न स्थान दे ? हाँ, उचित स्थान प्रत्येक वस्तु को देना चाहिये। इसलिये उत्तम कोटि तो यही है कि एकपत्नीव्रत और एकपतिव्रत किया जाय। पुरुषों में राम का एकपत्नीव्रत प्रसिद्ध है। स्त्रियों का तो कहना ही क्या है। पर जिनकी प्रकृति में रजस् तमस् की मात्रा अधिक हो उनके लिये अनुमति है कि पुनर्विवाह करें। पर वैसे आदर की पात्र न समझी जावें जैसी पुनर्विवाह न करनेवाली विधवा, जो अपने को साधु और तपस्वी बनाकर परोपकार में प्रवृत्त हो जायं, और ऐसा समझें कि मानो समय से पहिले ही वानप्रस्थ और संन्यास हमको मिल गया। जैसा भागवत में कुन्ती ने कृष्ण से कहा है,

विपदः संतु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम ॥

हे जगद्गुरो, मुझे संपत् नहीं चाहिये, विपत् ही चाहिये, जिससे तीव्र स्मरण और ध्यान करके आपका दर्शन पाऊँ और पुनर्जन्म का दर्शन छोड़ूँ। और कृष्ण ने भी ईश्वर भाव से कहा है,

यस्यानुग्रहमिच्छामि तस्य सर्वं हराम्यहम्॥

जिसका मैं सच्चा कल्याण करना चाहता हूँ उसकी सारी सांसारिक सुख संपत्ति छीन लेता हूँ। ऐसी उत्तम सती स्त्रियों के लिये ही कहा है,

सतीभिर्धार्यते जगत्।

खेद का स्थान तो यह है कि जैसा और विषयों में वैसा इसमें, बुद्धि उलटी हो गयी है।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥

जहाँ किसी बाला या युवती स्त्री पर, विशेष करके जो निस्संतान हो, यह आपत्ति आई कि वह विधवा होगई, तो बजाय इसके कि उसके ऊपर अधिक दया करें और सहानुभूति करें, सब घरवाले उसको और कोसने लगते है, और तरह तरह से महा कष्ट देते हैं, यहाँ तक कि साधुता और तपस्या की ओर तो उसका मन बढ़ने नहीं पाता, दुःख क्रोध और शोक से ही जलता रहता है, और वह अकसर अपना आत्मघात भी कर लेती हैं, और उसके शाप से और अपनी क्रूरता के पाप से वह कुल भी नष्ट हो जाता है। चाहिये कि ऐसी दुःखिता की गोद में जो कोई छोटा बच्चा घर में हो वही डाल दिया जाय, कि तू इसको अपना बच्चा समझ, और इसमें प्राण अटका, इसका भी पालन पोषण कर, और इसके स्नेह से अपने दिन काट, घर में सब की दयापात्र तथा तपस्विनी साध्वी होकर सहाय करने वाली और आदरपात्र भी बन। यदि इस प्रकार से उसका मन ऊँचा रखा जाय, उसका आश्वासन किया जाय, तो घर में चारों ओर प्रेम प्रीति बनी रहे, उस हतभागिनी का भी दुःख कम हो, घर में दूसरों की सहायता के लिये एक अपना स्नेही जन सदा प्रस्तुत रहे, ऐसा जन जिसको स्वार्थ बहुत थोड़ा और परार्थ ही की फिक्र अधिक हो। और संसार में उसके शरीर से मनुष्य संख्या की वृद्धि भी न हो। इस संख्या के नियमन की भी आवश्यकता है क्योंकि अन्नवस्त्रादि आवश्यक प्राणधारणोपयोगी वस्तुओं की मात्रा

कम और मनुष्यों की संख्या अधिक होने से, परस्पर संघर्ष, द्रोह, ईर्ष्या, मत्सर, युद्ध बढ़ते हैं। इस विषय के संबंध में बहुत कुछ कहने सुनने की गुञ्जाइश है, जो यहाँ नहीं कहा सुना जा सकता। थोड़े में यही, कि प्रकृतिभेद से नियमभेद होना चाहिये। किन किन अवस्थाओं में विधवा का पुनर्विवाह होना चाहिये, वे सब स्मृतियों में गिनायी हैं। न सब धान बाईस पसेरी के हिसाब से बिकना चाहिये, न सब भेंस एक ही लाठी से हाँकी जा सकती हैं। प्रत्येक विधवा के विषय में शांत मन से उसके पतिकुल और पितृकुल के वृद्धों को विचार करना चाहिये। जब तक वह स्वयम् शांति से, तपस्या से जीवन व्यतीत करना पसन्द करै, तब तक उसको इसमें सहायता देनी चाहिये, पर यदि पुनर्विवाह करने के लिये उसकी इच्छा उत्कट हो तो उसका यथायोग्य पुनर्विवाह प्रायः विपत्नीक पुरुष से कर देना चाहिये।

वानप्रस्थ।

गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यापि चापत्यं तदाऽऽरण्यं समाश्रयेत॥ (मनु)

गृहस्थ जब अपने शरीर पर भुर्रियाँ, बालों में सफेदी, और लड़के की गोद में लड़का देखै, तब घर, शहर, दुनियावी रोजगार, धन दौलत, कमाने की फिक्र, स्वार्थ बुद्धि, सब छोड़कर, किनारे, पास के उपवन में, अथवा दूर के वन में, अरण्य में, जा बसे। और परार्थ में लग जाय, समाज-सेवक हो जाय, जो पहले धन सञ्चित किया है उससे अपना और अपनी पत्नी का भी जीवननिर्वाह करे, और दूसरों की भी

यथासम्भव सहायता करे। नवीन अर्जन की बुद्धि छोड़ दे, क्योंकि इनसे अवश्य परस्पर द्रोह होता है। वानप्रस्थ होकर किसी से कुछ ले नहीं, दूसरों को ही केवल दे। सदा यज्ञ करता रहे, और अपने ज्ञान की भी वृद्धि नित्य करे।

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद् दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः॥ (मनु)

बहुविध-यज्ञ-समन्वय।

यही यज्ञ का असली अर्थ है। यज्ञ बहुत प्रकार के हैं।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
(ब्रह्मयज्ञाः दैवयज्ञाः आत्मसंयमयाजिनः।
इन्द्रियेष्वपि होतारः प्राणायामपरायणाः॥)
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञाः योगयज्ञास्तथैव च।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥ (गीता अ० ४)

ब्रह्म के मुख में, वेद के उदर में, शास्त्रग्रन्थों के पृष्ठों पत्रों पर, ज्ञान के भीतर, बहुत प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया है। यथा, सब में आत्मभावना रूपी सर्वोत्तम ब्रह्मयज्ञ, प्रकृति की विविध देवरूपी शक्तियों का विविध प्रकारों से आवाहन और लोकहितार्थ प्रयोग दैवयज्ञ, आत्म-संयम अर्थात् इंद्रियनिग्रहरूपी यज्ञ, निरहंकारभाव से इंद्रिय-तर्पण, प्राणायाम, द्रव्यों का दान, तपस्या, योग, ज्ञानसंग्रह-प्रचार—सभी यज्ञ हैं। पर सब में यह भाव समान है कि स्वार्थ छोड़े, परार्थ साधे, जिससे जितना जैसे अपनी अपनी प्रकृति गुण के अनुसार बन पड़े।

पर जैसे अन्य विषयों में तैसे यहाँ भी, सात्विक बुद्धि को तामस बुद्धि ने विपरीत कर डाला है। भीष्म ने (शान्तिपर्व में) युधिष्ठिर से क्षात्र धर्म की प्रशंसा करते हुए सबसे बढ़कर उसका गुण यह कहा,

आत्मत्यागः सर्वभूतानुकम्पा
प्रत्यक्षं ते भूमिपाला यथैते।

अर्थात्, धर्मपालन द्वारा सर्वभूतों की अनुकम्पा के लिये अपने शरीर और प्राण का भी त्याग देना, जैसा इन सहस्रों भूमिपालों और लक्षशः योद्धाओं ने धर्मयुद्ध में तुम्हारा साथ देकर प्रत्यक्ष दिखा दिया है। पर आत्मत्याग तो किया नहीं जाता, अपने प्राण क्या अपनी सम्पत्ति का अंश भी परार्थ छोड़ते नहीं बनता, मूक निर्दोष निर्बल पशुओं का प्राण यज्ञ के नाम से लिया जाता है, और इस उद्देश्य से कि यज्ञकर्त्ता को ऐहिक और आमुष्मिक स्वार्थलाभ हो, परार्थ का तो स्वप्न भी नहीं। तथा, दुर्गासप्तशती का पाठ तो लाखों ब्राह्मण, आदि, हिन्दू नामधारी करते हैं, पर बलिदान के लिये बकरा ही काटते है, या इतनी हृदय में दृढ़ता और क्रूरता न हुई तो कूष्मांड, कोंहड़े, को हलाल कर डालते हैं। सुरथ राजा और समाधि वैश्य ने अपने मांस और रुधिर की बलि दुर्गा को दी थी, इसको भूल जाते हैं।

ददतुस्तौ बलिं चैव निजगात्रासृगुक्षितम्।

हे भाई! बलि का अर्थ आत्मबलि है, परबलि नहीं। यज्ञ का अर्थ निज स्वार्थ का त्याग और तपस्या, पर के प्राण और पर के अर्थ का अपहरण नहीं।

स्वार्थ-परार्थ-समन्वय ।

इस प्रकार से गार्हस्थ्य के बाद वानप्रस्थता रखकर मानवधर्म में स्वार्थ और परार्थ का समन्वय किया है, और "इण्डिविड्युआलिज़्म" और "सोशालिज़्म" के, व्यक्ति और समाज के, व्यष्टि और समष्टि के, विरोध का परिहार साधा है। शुरू उमर से आधी उमर तक स्वार्थ अधिक, पिछली उमर में परार्थ अधिक ।

महाभारत में एक स्थान पर कहा है,

न जानपदिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हति ।

भागवत में एक स्थान पर कहा है,

एतावानव्ययो धर्मः नित्यं सद्भिरनुष्ठितः ।
यल्लोकशोकहर्षाभ्यामात्मा शोचति हृष्यति ॥

अर्थात्, दुनिया भर की फ़िक्र एक आदमी अकेला कहाँ तक करे । तथा, "दया धर्म को मूल है, पाप मूल अभिमान", मूलधर्म हो "अनुकम्पा" है, लोक के दुःख से दुःखी और सुख से सुखी होना । इन विरुद्ध बातों का समन्वय भी इसी सम्बन्ध में होता है । पहिली उमर में अपनी और अपने कुल कुटुम्ब की चिन्ता अधिक, पिछली उमर में लोक की चिन्ता अधिक । तथा यह भी, महाभारत के श्लोक का यही अर्थ समझिये कि दूसरों की चिन्ता उसी हद तक करनी चाहिये जहाँ तक सहायता करने का सम्भव हो ।

चिता चिंता समाख्याता तयोश्चिंता गरीयसी ।

और,

तस्मिन्नपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ (गीता)

बहुधा वृद्ध लोग अपने कारबार को, धनदौलत को, दाँतों से पकड़े रहते हैं, जिसका फल यही होता है कि उनके सन्तान भी उनसे असन्तुष्ट रहते हैं, और लोक में भी उनका अपवाद होता है। यह सब दोष बच जाय, और समाज को वृद्ध, अनुभवी, उदार हृदय, निस्स्वार्थ, लोकहितैषी, सहायक और नेता सदा पर्याप्त संख्या में मिलते रहें, जो सब प्रकार के पञ्चायती काम, यथा "अदालती" मामिलों मुकद्दमों का पञ्चायती निपटारा, या डिस्ट्रिक्टबोर्ड, म्युनिस्पिलबोर्ड आदि का काम, या धर्मसभा, लेजिस्लेटिव कौंसिल, आदि में नये कानूनधर्म बनाने का काम, उत्तमता से, बिना शुल्क के, चला सकें, यदि वानप्रस्थ आश्रम की प्रथा फिर से जागे। ऐसे निर्लोभ, निःस्वार्थ, परिपक्वबुद्धि आदमियों की कमी के कारण सब प्रकार के "पब्लिक" सामाजिक सार्वजनिक काम की जो दुर्दशा आज काल हो रही है वह हम सबकी आँखों के आगे है।

संन्यास

प्रवृत्ति-निवृत्ति-समन्वय।

वनेषु तु विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान् परिव्रजेत् ॥
ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य तान्येव मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ॥ (मनु)

आयु का तीसरा भाग वनस्थावस्था में बिताकर, चौथेपन में सब संगों को छोड़कर परिव्रजन करें।

तीनों आश्रमों के कर्तव्य का पालन करके, और उसके द्वारा तीनों ऋण, ऋषि ऋण, पितृ ऋण, देवऋण, चुकाकर, जब देखे कि उक्त रूप से समाज की सेवा का भी बल अब शरीर में नहीं है, तब सर्व संन्यास करके परिव्रजन करे। केवल शरीरयात्रामात्रोपयोगी प्रयत्न करे, और सर्वदा आत्मचिंतन और सर्वलोक का शुभध्यान। यदि तीनों ऋण चुकाये बिना मोक्ष की ओर मन दौड़ावेगा तो ऊपर उठने के बदले और नीचे गिरेगा। भक्तिमार्ग की साकारोपासना में भी कहा है,

स्वधर्मकर्मविमुखाः केवलं नामराविणः।
ते हरेर् द्वेषिणो मूढा धर्मार्थं जन्म यद्धरेः॥

अर्थात् अपने धर्म कर्म से विमुख, केवल हरि का नाम जोर जोर से चिल्ला कर दूसरों को सुनाने वाले मनुष्य, हरि के भक्त नहीं, प्रत्युत द्रोही हैं, परम मूढ़ हैं। क्योंकि हरि का जन्म इसलिये नहीं हुआ कि लोग उनका नाम मात्र रटैं, किंतु इसलिए कि धर्म का पुनः व्यवस्थापन हो और लोग धर्माचरण करैं। तो ऋण चुका कर परिव्रजन करना, और आत्मचिंतन द्वारा ऊंचे नीचे जीवों में अंतरात्मा की सूक्ष्म गति को ध्यानयोग से पहिचानना चाहिये।

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः।
ध्यानयोगेन संपश्येद् गतिमस्यांतरात्मनः॥

अपना भी मन बहलाता रहे, किसी एक गृहस्थ पर कई दिन तक भिक्षा देने का बोझ भी न हो, विविध देशाटन से

जो ज्ञान की पूर्ति होती है और जो पूर्वाश्रमों में बाकी रह गयी हो वह भी हो जाय, विविध देश देशान्तर के आचार विचार देखकर और सब में आत्मा की गति पहिचान कर बुद्धि का संकोच और मन की गांठ और आग्रह के बंधन भी जो कुछ रह गये हों वे सब दूर हो जायँ, और आत्मज्ञान, ब्रह्म-ज्ञान, पूर्णरूप से सम्पन्न हो जाय, इसलिये परिव्राजक होना, एक स्थान से दूसरे स्थान को बने तक चलते रहना। भागवत में शुक के विषय में कहा है,

स गोदोहनमात्रं हि गृहेषु गृहमेधिनाम्।
अवेक्षते महाभागस्तीर्थीकुर्वंस्तदाश्रमम्॥

अर्थात्,

वह पुराणबालक घरबारन के घर उतनिहि बेरि रहै।
जब लौं गौ को दूध दुहानो अंजुरिन नाहिं गहै।
उन गेहन को भाग्य बढ़ावत तीर्थ बनावत फिरत रहै॥

सम्मान की इच्छा और अनिच्छा का समन्वय।

यह सभी संन्यासियों के अनुरूप है कि साक्षात् आशीर्वाद स्वरूप होकर, सारे देश में शुभवासना, शांति, प्रीति, अध्यात्म चर्चा, फैलावें, जिस स्थान पर थोड़ी देर के लिये भी बैठें उसी को तीर्थ बना दें, सब के आदरपात्र बनें, और यदि उनके मन में छिपी हुई लोकैषणा भी कुछ बची हो, अर्थात् आदर सम्मान पाने की इच्छा तो उसकी भी पूर्ति कर लें। पर संन्यासी के लिये नियम यही है कि,

प्रतिष्ठा शौकरी विष्ठा गौरवं घोररौरवम् ।

यद्यपि गृहस्थ के लिये इसके विपरीत है,

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः ।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥

अर्थात् सन्यासी के लिये प्रतिष्ठा की लालच करना तो ऐसा पतन है मानों शूकर होकर विष्ठा की लालच करना। पर गृहस्थ के लिये महात्मता यह है कि विपत्ति में धीरज धरे, अभ्युदय में दर्प न करे प्रत्युत क्षमाशील सहनशील हो, सभा में वाग्मी हो, युद्ध में विक्रमी, वेदाभ्यास का व्यसनी, और सच्चे यश का, उदार पुण्यकर्मों से पाई हुई कीर्त्ति का, अभिलाषी हो।

समाहार ।

इस प्रकार से पदे पदे देश-काल-निमित्त-अवस्था-पात्रता-अधिकार-गुण-स्वभाव आदि के भेदों से धर्म का भेद करके, सब भेदों का समन्वय, सब विरोधों का परिहार, इस मानव-धर्म में अध्यात्मविद्या के बल से किया हुआ है। "विभज्य वचनीयं", "विविच्य वक्तव्यम्"।

पहिले कह आये हैं, अध्यात्म-विद्या कोई परलोक ही की छिपी ही बात नहीं है। चमड़े की आँख से भी देखी जा सकती है।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ (गीता)

पर, हाँ, उसकी ओर आँख फेरने की आवश्यकता है।

यदि उस ओर आँख ही न घुमायी जाय तो कैसे देख पड़े ? अध्यात्म का अर्थ आत्मा-सम्बन्धी, आत्मा का स्वभाव, आत्मा की प्रकृति, जिसमें तीन गुण हैं। वेदान्त के शब्दों में चित्, आनन्द, सत्। सांख्य के शब्दों में सत्व, तमस् रजस्। न्याय के शब्दों में ज्ञान, इच्छा, क्रिया। वैशेषिक के शब्दों में गुण, द्रव्य, कर्म। इनके ज्ञान के अनुसार, मानवधर्म में, मनुष्य समाज को चलाने के लिये नियम बाँधा गया है, और सब प्रकार के मनुष्यों के लिये चातुर्वर्ण्य और चातुराश्रम्य के द्वारा समाज में स्थान निर्णय किया गया है, यदि उनका अर्थ ठीक समझते बन पड़े।

कुरु कर्म त्यजेति च।

अर्थात्, कर्म करो, और कर्म का त्याग करो, कर्म मत करो—यह दोनों तरह की बात, परस्पर अत्यंत विरुद्ध मानव धर्म में कही है। पर अधिकारिभेद से कही है, इसलिये विरोध कुछ नहीं है। यौवन के लिये 'कुरु", वार्धक्य के लिये "त्यज," प्रत्यक्ष ही उचित है।

प्रकृति के विरुद्ध कोई बात करने का, या विभिन्न प्रकृति के मनुष्यों को जबरदस्ती से एक ही रास्ते पर चलाने का, मिथ्या प्रयत्न नहीं किया है। प्रकृति के नैसर्गिक नियमों का केवल परिष्कार मात्र कर दिया है।

यदि "मदीयशास्त्रे लिखितं" का हठ और आग्रह छोड़कर, अध्यात्मविद्या के अनुकूल तर्क से, यथायोग्य, आवश्यकतानुसार, धर्मों में संशोधन, संयोजन—वियोजन, प्रवर्त्तन-निवर्त्तन, किया जाता रहे, तो आज यह आर्यमानवसमाज

जिसको देशनाम से हिन्दू (सिंधु) समाज कहने लग गये है, फिर से उन्नति पर आरूढ़ हो सकता है। और "शास्त्री" लोग भी अपने काम के लिये "शास्त्र" के संशोधन-परिवर्त्त के सिद्धांत को मानते भी हैं। दूसरे पक्ष को यही सुनाते हैं कि "शास्त्र की यह आज्ञा है, और वह आज्ञा है", पर अपने मतलब के समय, यथा कलिवर्ज्य प्रकरण में, पढ़ते हैं कि,

एतानि लोकगुप्त्यर्थं कलेरादौ महात्मभिः।
निवर्त्तितानि विद्वद्भिर्व्यवस्थापूर्वकं बुधैः॥

अर्थात् कलियुग के आदि में विद्वानों ने लोकहितार्थ शास्त्र को बदला। तो अब भी वैसा क्यों नहीं हो सकता?

विरोध-परिहार।

इस स्थान पर एक विशेष विरोध का परिहार कर देना उचित होगा। उसकी चर्चा इस व्याख्यान के आरम्भ में की गई है। अर्थात् यह भी कहा है,

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाऽज्ञानामुदितोऽयुतैः॥

अर्थात्, एक भी अध्यात्मवित्तम मनुष्य जो निर्णय करे वही धर्म जानना, और दस हजार भी अज्ञ आदमी जो कहें उसको धर्म नहीं जानना। और यह भी कहा है,

महाजनो येन गतः स पन्थाः।

"बहुतायत आदमी जिस ओर जायँ वही रास्ता ठीक है।"

कोई तो सहज में इस विरोध का परिहार इस प्रकार

करते हैं कि महाजन शब्द का अर्थ ही श्रेष्ठ पुरुष, वेदवित्, अध्यात्मवित् है। पर यह अर्थ उस स्थान पर किसी प्रकार नहीं सधता। पूरा श्लोक तो यह है,

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः
नैको ऋषिर्यस्य वचः प्रमाणं।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां,
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

(कहीं पाठ है, "श्रुतयो विभिन्नाः स्मृतयोऽपि भिन्नाः", आशय वही है।) जब श्रुतियों की चर्चा कर दी, और मंत्रकृत् और मंत्रद्रष्टा वेद वेदांत प्रवर्त्तक ऋषियों की भी चर्चा कर दी, तब इनसे बढ़कर और कौन श्रेष्ठ व्यक्ति होगा जो "महाजन" शब्द का अर्थ हो सकता है? अन्यत्र, प्रायः श्रेष्ठ पुरुष के वास्ते "महापुरुष" शब्द का प्रयोग संस्कृत में होता है, "महाजन" का नहीं। और भी। महाभारत के जिस उद्योगपर्वान्तर्गत विदुरप्रजागरपर्व, अथवा विदुरनीति, में उक्त श्लोक है, उसी में ये दो श्लोक भी मिलते हैं,

एकः पापानि कुरुते फलं भुंक्ते महाजनः।
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्त्ता दोषेण लिप्यते॥
देशाचारान् समयान् जातिधर्मान् बुभूषते यः स परावरज्ञः।
स यत्र तत्राधिगतः सदैव महाजनस्याधिपत्यं करोति॥

पाप तो एक मनुष्य करता है, उससे जो लाभ होता है उसको महा-जन-समूह भोगता है। लाभ को भोगने वाले तो छूट जाते है, करने वाले को ही दोष लगता है। देश, देश के समयाचार को, विविध जातियां के धर्मों को, जाननेवाला,

आगा पीछा विचारनेवाला, जहाँ कहीं भी जा बैठे वहीं वह महा-जन-समूह का अधिपति हो जायगा। इस श्लोक में महाजन का अर्थ जनसमूह के सिवा और कुछ हो हो नहीं सकता, और मराठी गुजराती भाषाओं में आज तक भी महाजन शब्द का प्रयोग इसी जन-समुदाय के अर्थ में होता है।

तो अब विरोध-परिहार कैसे हो ? दो प्रकार से। एक तो यह कि जब विद्वान् बुद्धिमान् को भी बुद्धि विद्या काम नहीं देती, तब जो सांख्योक्त महत्-बुद्धि, अव्यक्तबुद्धि जन-समूह में व्याप्त है, जिसीको सूत्रात्मा, विश्वात्मा, बृहत्वात् ब्रह्मा, विसिनोति व्याप्नोति विश्वं इति विष्णुः, सर्वेषु शेते इति शिवः, इत्यादि कहते हैं, जिसको पश्चिम के शब्दों में "कास्मिक् इंटेलिजेंस्", "यूनिवर्सल् माइंड्" "कलेक्टिव माइंड्", "कामन् सेंस्", "मास् माइंड्" "पब्लिक् ओपिनियन्" "अन्-कान्शस सेंड" आदि कहते हैं, जिसको सूफी भाषा में "अक़्लि-कुल्", "लौहि-महफ़ूज़," "हक़ीक़ति-मुहम्मदी" आदि शब्दों से कहते है, उसीका भरोसा करना ही पड़ता है। कोई दूसरा चारा ही नहीं। दूसरा परिहार यह है कि यह व्यक्ति अध्यात्मवित् है, इसकी बात मानना चाहिये, ऐसा विश्वासरूपी निर्णय भी तो जनसमूह महाजन ही करेगा। नहीं तो कितना भी वह अध्यात्मवित् हो, पर जनता उसको ऐसा न माने जाने, तो उसका उपदेश व्यर्थ हो जायगा, कोई न सुनेगा। इसलिये अध्यात्मवित्तम के उपदेश की सिद्धि भी जनता पर ही आश्रित है, जनता के ही अधीन है। एवम् अन्योऽन्याश्रय है, अध्यात्मवित् जनता का शुभचिन्तन करे और जनता

उसमें विश्वास करें, तभी धर्म का आम्नान, व्यवसान, संस्थापन, प्रवर्त्तन, संशोधनादि उचित प्रकार से हो सकता है। इसलिये प्राचीन काल से यह प्रथा चली आई है कि जब कोई नया और जटिल प्रश्न उपस्थित हो, जिसके उचितानुचित समाधान पर जनसमुदाय के हिताहित का आश्रय हो, तो उस जनसमुदाय की सभा में, सदस् में, समिति में, एकत्र कर के, उस प्रश्न के पक्ष-प्रतिपक्षों का, विविध प्रकार के उसके उत्तरों के गुण-दोषों का, विचार, मुखियों, वृद्धों, वाग्मियों, विद्वानों, बुद्धिमानों द्वारा किया जाय, और जिस पक्ष को, जिस उत्तर को, जिस समाधान को, जिस नये कार्यप्रकार को, अंतरात्मा की प्रेरणा से, उस समुदाय के भूयसीय लोग उचित जानें, अध्यात्मवित्तम का कहा हुआ समझें, उसी का स्वीकार और प्रयोग किया जाय। इस प्रकार से अध्यात्मवित् के निर्णय का और महाजन के निर्णय का समन्वय हो जाता है।

कुछ अन्य समन्वय।

राष्ट्रप्रकारभेदों अथवा शासनपद्धति-भेदों का समन्वय।

हाल में एक पुस्तक मेरे देखने में आई। "अलमोड़ा-निवासी श्री बद्रीसाह ठुलघरिया ने उसका संकलन किया है। नाम उसका "दैशिक शास्त्र" रखा है। पुस्तक छोटी है पर बहुत उत्तम और सारभूत है। उपोद्घात में उन्होंने लिखा है कि पुराने ग्रंथों से विषय का संग्रह किया है। पर

खेद है कि ग्रंथकर्त्ता ने इन प्राचीन ग्रंथों के नामों का उल्लेख नहीं किया। यदि किया होता तो पाठकों को उस विषय के अन्वेषण गवेषण में सहायता मिलती। अस्तु। इस पुस्तक का विषय राजशास्त्र, राजनीति, राजधर्म, दण्डनीति आदि नाम से प्रसिद्ध विषय है, जिसको पश्चिम की बोली में "पालिटिक्स" "सिविक्स" आदि कहते हैं। पुस्तक में राज्यों के दो मुख्य प्रकार कहे हैं, स्वराज और परराज। फिर एक एक के कई कई भेद कहे हैं, और उनके नाम बहुत अर्थगर्भ सांकेतिक शब्दों से बताये हैं। यथा, ब्राह्म, दैव, प्राजापत्य, गांधर्व, याक्ष, मानव (जैसे मनु ने विवाहों के), और हस्तिक, व्याघ्रक, आदि। और इन सब प्रकारों के समन्वय के लिये सिद्धान्त यह दिखाया है कि जहाँ जहाँ ऐसी ऐसी (सात्त्विक, अथवा राजस, अथवा तामस, अथवा संकीर्ण) प्रकृति की अधिकांश प्रजा होती है, वहाँ वहाँ इस इस प्रकार का राज होता है और उपयुक्त ही है। श्री काशीप्रसाद जायसवाल जी ने भी हाल में एक पुस्तक "हिन्दू पालिटी" के नाम से अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित की है जिसमें उन्होंने वेद पुराण स्मृति धर्मशास्त्र अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों से सिद्ध किया है कि प्राचीन समय में इस भारतवर्ष में विविध प्रकार के राष्ट्रप्रबंधों की परीक्षा मानव-धर्म की परिधि के भीतर हो की गई है, यथा राज्य, भौज्य, वैराज्य, द्वैराज्य, साम्राज्य, स्वाराज्य, उग्रराज्य, संघराज्य, गणराज्य। और इनके अंतर्गत पौर, जानपद, श्रेणी, पूग, आदि के प्रबन्ध भी होते थे। इनको आज काल के अंग्रेजी शब्दों में "मानर्की, डायर्की, रिपब्लिक, एम्पायर, फेडरेशन,

आलीगार्की, म्युनिसिपलबोर्ड, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, ट्रेडगिल्ड" आदि शब्दों से कहेंगे।

समस्त सजीव-निर्जीव पदार्थों का सत्त्वादि गुणभेदेन समन्वय।

इसी तरह, प्राचीन शिल्प के विषय में, कांगड़ी के गुरुकुल की जो "वैदिक मैगेजीन" नामकी मासिक पत्रिका निकलती है, उसमें कुछ काल से श्री क० वि० वजे महाशय प्राचीन भारतीय शिल्प पर बड़े उत्तम लेख लिख रहे हैं, जिनसे बहुत-सी लुप्तगुप्त विस्मृत बातें फिर से प्रकाश हो रही हैं। इन लेखों मे तरह तरह के नगरों के, ग्राम, खेट, खर्वटों के, गृहों के, सड़कों के, पत्थरों के, धातुओं के, मणियों के, वृक्षों के, लकड़ियों के, वाहनों के, पशुओं के, भेदों का वर्णन करके, उनकी सत्त्वप्रधानता अथवा रजःप्रधानता अथवा तमःप्रधानता भी प्राचीन ग्रन्थों के श्लोकों का उद्धरण करके दिखाया है। सजीव निर्जीव सभी पदार्थों का इन्हीं तीन गुणों के अनुसार विभाग किया है। अर्थात् ये ये भेद सात्त्विक हैं, ये ये राजस, ये तामस। और इस हेतु से यह यह वस्तु वास्तुकर्म में, शिल्पकर्म में, इस इस कार्य के लिये, और इस इस प्रकृति के मनुष्य के लिये उपयुक्त है। इस प्रकार से अवस्था-भेदेन बुद्धिपूर्वक भिन्न भिन्न वस्तुओं का प्रयोग करने से सबका समन्वय हो सकता है।

आत्मगति-भेदादि-समन्वय।

आत्मा की अनंत गतियों का समन्वय और समाहार

दो रीतियों में कर दिया है—प्रवृत्ति-निवृत्ति, संचर-प्रतिसञ्चर, प्रसव-प्रतिप्रसव, आरोह-अवारोह, सृष्टि-लय, जन्म-मरण, ईहा-उपरम, व्युत्थान-निरोध, बन्ध-मोक्ष। अनन्त इच्छाओं का चार पुरुषार्थों में—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। अनंत शास्त्रों का इन्हीं चार पुरुषार्थों के साधक चार शास्त्रों में—धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, मोक्षशास्त्र, जिन चारों का कुछ न कुछ ज्ञान ब्रह्मचर्यावस्था में सभी विद्यार्थियों को संग्रह करना चाहिये। जीवन के अनंत प्रकारों का समन्वय चार आश्रमों में। मनुष्यों के अनंत प्रकारों का समन्वय और लोक-संग्रह चार वर्णों में है। जीविका के अनंत प्रकारों का चार वर्णानुसार चार मुख्य प्रकार की वृत्तियों में। अनंत एषणाओं का समन्वय चार मुख्य एषणाओं में (आदर अथवा लोक की, बल अथवा दार-सुत की, वित्त की, विनोद की)। इस प्रकार से इस अध्यात्मविद्या से अधिष्ठित, उस पर प्रतिष्ठित, उसमें निष्ठित, मानव-आर्य-वैदिक-बौद्ध-सनातनधर्म में सबका यथास्थान यथाकाल यथावस्था समावेश कर दिया है। अंग्रेजी में भी कहावत है "इट टेक्स आल् काइंड्ज़ टु मेक् ए वर्ल्ड।" अर्थात् जब सब प्रकार एकत्र हों तब एक जगत् बने।

पक्ष-प्रतिपक्ष अथवा उत्तर-प्रत्युत्तर-समन्वय।

प्रत्येक प्रश्न पर पक्ष-प्रतिपक्ष के, वादी-प्रतिवादी के, दो दो विरुद्ध विचार और उत्तर उठते हैं। अंग्रेज़ी में कहावत है

"एवरी क्वेश्चन् हाज़ टू साइड्ज़्" । "पक्षप्रतिपक्षाभ्यां निर्णीतः अर्थः सिद्धांतः भवति" । दोनों विरोधी पक्षों में कुछ अंश सत् का भी और कुछ असत् का भी अवश्य होता है । सारा संसार ही सत् और असत् के समुच्चय से प्रत्यक्ष ही बना है। सभी परिमित वस्तु अभी है और अभी नहीं है । ऐसी अवस्था में, "आश्रयेन् मध्यमां वृत्तिमति सर्वत्र वर्जयेत्", अति के वर्जन से, मध्यमवृत्ति के आश्रय से, देश-काल-निमित्त का विचार करके, हेतुपूर्वक विभजन करने से, "विभज्य वचनीयम्", मनुष्य के व्यक्ति-जीवन-संबंधी, तथा समाज-जीवन-संबंधी-जितने कुछ प्रश्न उठे हैं या उठ सकते हैं-शिक्षाविषयक, गार्हस्थ्यविषयक, स्त्रीपुरुषसम्बन्धविषयक, भर्ताभृत्यविषयक, जीविकाविषयक, युवा-वृद्ध विषयक, आर्थिक, शिल्पसम्बन्धी, राजनीतिक, धार्मिक, आदि—इन सब प्रश्नों का उत्तरण अधिकतर सुख और अल्पतर दुःख के साथ हो सकता है।

शौच ।

सामाजिक व्यवहार के साधनार्थ शौचाभाव की यहाँ तक अनुज्ञा दी है कि कुत्ते के जूठे को भी खा जाना आदमी के लिये जायज़ कर दिया है "श्वा मृगग्रहणे शुचिः", "शकुनिः फलपातने" "पण्ये यच्च प्रसारितम्", "कारुहस्तः सदा शुद्धः," "पथि शूद्रवदाचरेत्", इत्यादि । अर्थात् शिकार में कुत्ते का पकड़ा मृग शुचि है, मांसाहारी क्षत्रियवृत्ति वाले के लिये । तथा पक्षी का जूठा किया या गिराया फल । तथा दूकान बाजार में फैलाये भोज्य पदार्थ शुद्ध हैं । तथा कमेरे का, शिल्पी का, हाथ सदा शुद्ध

है। तथा यात्रा में, राह चलने में, आवश्यकता पड़ने पर, शूद्र के ऐसा (अर्थात् बिना बहुत यम नियम के) व्यवहार करे, इत्यादि। दूसरी ओर, सांसारिक व्यवहार को छोड़ कर, जब मनुष्य मोक्ष के साधन में लगे, तो उसके लिये शौच की पराकाष्ठा यहाँ तक दिखाई है कि "शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः", दूसरों के स्पर्श का तो कहना ही क्या है, अपने शरीर से भी घृणा करके विदेहमुक्ति प्राप्त करना चाहिये।

स्थानाद् बीजादुपष्टम्भान निस्स्यदान् निधनादपि।
कायमाधेयशौचत्वात् पंडिता ह्यशुचिं विदुः॥

इस मनुष्य शरीर का बीज, इसके पोषण का स्थान अर्थात् गर्भ, इसके धारण के उपाय, भक्षण पान आदि, इससे निकले मल, इसकी मृत्यु—सभी इसकी परम अशुचिता के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। नित्य नित्य इसकी अशुचिता को हटाते रहने से ही इसमें मिथ्याशुचिता का आभास हो जाता है।

एक नियम, अथवा नियम की शिथिलता, क्षत्रियवृत्तिवाले तथा अन्य गृहस्थों के लिये है। दूसरा नियम, अतिकठिन, संन्यासी के लिये है। पर आज काल के हिंदू समाज में इन नियमों का कैसा पालन हो रहा है यह सब ही जानते हैं। प्रायः संन्यासीवेशधारी जीव तो शौच की फिक्र ही नहीं करते, और साधारण गृहस्थ दूसरों के दिखाने के मौके पर महामहर्षि से भी अधिक शौचाचार और छू छू का ढोंग रचते हैं।

भक्ष्याभक्ष्य-समन्वय।

मद्यमांसादि का निषेध करते हुए भी युद्धादि के समय

क्षत्रियवृत्ति मनुष्य के लिये अनुमति दे दी है। मनुष्य की प्रकृति देखते हुए, इनका सर्वथा निषेध अशक्य समझते हुए, इन पर केवल कुछ रोक रखने ही का यत्न किया है।

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा
नित्यास्तु जंतोर्नहितत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तासु विवाहयज्ञ-
सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा॥ (भागवत)

अर्थात् स्त्रीपुरुष प्रसंग की, मांस की, मद्य की, सेवा करने की तो आपही मनुष्य की प्रवृत्ति होती है, इनके लिए उपदेश देने का प्रयोजन नहीं। प्रत्युत इनकी अति सेवा और दुरुपयोग को रोकने का प्रयोजन बहुत है, इस लिये विवाह और यज्ञ आदि के द्वारा इनका नियमन किया है। इनसे जहाँ तक हो सके निवृत्ति ही अच्छी है।

सत्यासत्यसमन्वय।

सत्य की परम प्रशंसा करते हुए भी, साधारण मनुष्य की प्रकृति को देखकर, विशेष विशेष अवसर पर यदि कोई असत्य बोल जाय तो उसको भारी पाप नहीं गिनना, ऐसा प्रबन्ध कर दिया है। यथा प्राणात्यय में अपने प्राण बचाने के लिये। मनु के इन वाक्यों पर लोग जल्दबाज़ी से आक्षेप कर बैठते हैं। उनको याद करना चाहिये कि मनु ने तो प्राणसंकट में यह अनुमति दी है। पर आज काल के पच्छिमी क़ानून में किसी भी छोटे से छोटे जुर्म के मुलज़िम को हलफ़ न देकर झूठ बोलने की साफ़ इजाज़त दी है। तथा वकील को मुवक्किल से

जो बात हुई, डाक्टर की रोगी से जो बात हुई, पत्नी की पति से जो बात हुई, उस बात की गवाही साक्षी देने की मनाई करके इस क़ानून ने उनसे यदि सरीही झूठ नहीं बुलवाया तो सच को छिपवाया, जो भी झूठ बोलने के बराबर है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि आजकाल के क़ानून में जो ऐसे नियम हैं वे अनुचित हैं। ऐसा नहीं। वे सहेतुक हैं। तथा मनु के नियम भी सहेतुक हैं।

हिंसा-अहिंसा-समन्वय।

हिंसा और अहिंसा का विरोधपरिहार—कृष्ण की शिक्षा, "तस्माद् युध्यस्व भारत," और क्राइस्ट की शिक्षा "एक गाल पर कोई थप्पड़ मारे तो दूसरा गाल उसके आगे फेर दो"—इन दोनों का समन्वय सीधे सीधे नियमों से कर दिया है। प्रवृत्ति-मार्ग पर चलने वाले गृहस्थ के लिये, अपनी तथा अपने आश्रितों की रक्षा के लिये, हिंसा अर्थात् युद्ध उचित है, धर्म्य है, विशेष कर क्षत्रियवृत्ति जीव के लिये, जिसका मुख्य काम उसके नाम ही से द्योतित होता है, कि दुर्बलों को

क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः
क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।

अर्थात्, ऊँचे सिर वाला क्षत्र शब्द संसार में इसी लिये प्रसिद्ध है कि उसका अर्थ ही है कि क्षत से, चोट से, दुर्बलों का त्राण करता है।

इस प्रकार के आत्मरक्षणार्थ और स्वाश्रितरक्षणार्थ युद्ध की आज्ञा यहाँ तक दी है कि,

गुरुं वा बालवृद्धं वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायांतं हन्यादेवाविचारयन् ॥ (मनु)

अर्थात् जानलेने की नीयत से जो अपने ऊपर झपटे उसको, आततायी को, बिना विचारे मार ही देना चाहिये, चाहे वह गुरु हो, चाहे बालक, चाहे वृद्ध, चाहे बहुत पढ़ा लिखा ब्राह्मण । आज काल का अंग्रेजी दंड विधान तो इस से बहुत अधिक अनुमति देता है ।

दूसरी ओर, निवृत्तिमार्गी योगी संन्यासी के लिये "देश-कालानवच्छिन्ना महाव्रतम्" रूपिणी अहिंसा ही उचित है ।
(योगसूत्र)

राष्ट्रप्रबन्ध-तत्व-रहस्य ।

विविध प्रकार के राष्ट्र प्रबंधों का समन्वय यह है कि क्रियाप्रधानजीव क्षत्रिय अधिकार के काम करे, और ज्ञान-प्रधानजीव ब्राह्मणहृदय और ब्राह्मणबुद्धिवाला जीव, उसका नियमन नियंत्रण करे । इच्छाप्रधान जीव, द्रव्यसंचयशील, वैश्य प्रकृतिवाला जीव इन दोनों का तथा शूद्रों का भरण-पोषण करे । और अनुद्बुद्धबुद्धि, अव्यक्तगुण का, अर्थात् शूद्र प्रकृति का जीव अन्य तीनों की सहायता करे ।

ब्राह्मणैः क्षत्रबंधुर्हि द्वारपालो नियोजितः ।
(भागवत)

प्रजानां पालनाद्राजा विष्णोरंशः प्रकीर्त्तितः ।

अर्थात्,

ब्राह्मण कर्म वालों ने क्षत्रिय कर्म वाले को प्रजा का

चौकीदार पहरुआ मुकर्रर किया है। प्रजा का पालन करता है इससे विष्णु का अंश राजा माना जाता है। तथा प्रजा उसको करके रूप से भृति, मजदूरी काम का दाम, देती है, इससे प्रजा का दास भी राजा ही है।

स्वभागभृत्या दास्यत्वे प्रजाभिस्तु नृपः कृतः।

इत्यादि (शुक्रनीति)

अभिवाद-भेद-समन्वय।

साधारण शिष्टाचार, दुआ सलाम, के भी जितने प्रकार सभ्य जातियों में प्रचलित हैं, सबका संग्रह इस मानवधर्म-व्यवस्थापति आर्यशालीनता में पाइयेगा। सिर का इशारा, या इसका झुकाना (अंग्रेजी "नाड्"), मुस्कराना, हाथ मिलाना, हाथ हिलाना (हैंड-शेक), सुप्रभातम्, (गुड् मार्निङ्ग), स्वागतम् (वेल्कम्), दहिने हाथ से सलाम, दोनों हाथ जोड़ना, गले मिलना, पैर छूना, साष्टांग दण्डवत्—सभी प्रकारों के लिये अधिकारभेदात् स्थान यहाँ रखा है।

भगवांस्तत्र बंधूनां पौराणामनिवर्तिनाम्।
यथाविध्युपसंगम्य सर्वेषां मानमादधे॥
प्रह्वाभिवादनाश्लेषकरस्पर्शस्मितेक्षणैः।
आश्वास्य चा श्वपाकेभ्यो वरैश्चाभिमतैर्विभुः॥

(भागवत)

ततोऽवतीर्य गोविन्दो रथात् स च युधिष्ठिरः।
भीमो गांडीवन्धवा च यमौ सात्यकिरेव च।
ऋषीनभ्यर्चयामासुः करानुद्यम्य दक्षिणान्॥

(शांति पर्व)

अहारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यो गुरोः सदा ॥

(मनुः) इत्यादि ।

अर्थात् कृष्ण भगवान् इन्द्रप्रस्थ से लौटकर द्वारका आये, तो बड़ों को झुककर प्रणाम किया, अति स्नेही बराबर वालों को गले लगाया, औरों से हाथ मिलाया, किसी की ओर मुस्कुराये, किसी को दयादृष्टि से देखा । श्वपाक चांडाल पर्यन्त सबका आश्वासन किया ।

शरशय्या पर पड़े भीष्म के दर्शन को गये, तो कृष्ण, पञ्च पांडव, और सात्यकि ने रथों से उतर कर, वहाँ एकत्र ऋषियों को अपने दाहिने हाथ उठाकर सलाम किया । अध्ययन के आरम्भ और अन्त में गुरु के पैर छूने चाहिये । इत्यादि ।

अन्त्यक्रिया-भेद-समन्वय ।

अन्त्य संस्कार में भी सभी प्रकारों का समन्वय देखिये । "तिस्रो गतयः, विडन्ता वा, रसान्ता वा, भस्मांता वा ।" यह वाक्य 'पञ्चत्वं गतः" की टीका रूप है । पाँच तत्व का बना पुतला फिर उन्हीं पाँच में लीन हो जाता । उसमें आकाश ऐसा सूक्ष्म है (तथा वायु भी) कि इसके द्वारा संस्कार किया असम्भव है । इसलिये तीन (अथवा चार भी) प्रकार के मरण संस्कार कहे हैं । एक यह कि तपस्वी वानप्रस्थ जंगल में अनशनादि व्रत से अपने शरीर का त्याग करे और उसे पशुपक्षी खाकर तृप्ति पावें । यह वायु संस्कार कहा जा सकता है, क्योंकि दूसरे जीवों के प्राणवायु में शरीर लीन हो जाता है । अथवा रसा अर्थात् पृथ्वी में निखनन करना,

गाड़ देना। इसको पहिले प्रकार का अवांतर प्रकार भी समझ सकते हैं। अथवा रस अर्थात् जल में प्रक्षेप करना, प्रवाह कर देना। अथवा अग्नि में दाह करके भस्म कर देना। ये सभी प्रकार मानवधर्म्म में अधिकारभेदेन वर्त्ते जाते हैं। अग्निदाह तो प्रसिद्ध ही है। अधिकांश मनुष्यों के लिये यही उचित है, वैज्ञानिक दृष्टि से भी, और बड़ी बस्ती के पास ज़मीन की कमी तथा शुद्धि के विचार से भी। यहाँ तक कि अब पच्छिम के बड़े बड़े शहरों में यही प्रकार वर्तने लगे हैं। मृत शरीर का भस्म लेकर मंजूषा में रख कर, उसके ऊपर चैत्य, छतरी, आदि के नाम से मक़बरे बनाने की भी प्रथा पुरानी चली आती है। सन्यासियों को समाधि दी जाती है, अर्थात् गाड़े जाते है, इस विचार से कि इनका शरीर तपस्या से, ब्रह्म ध्यान से, लोकहित-चिन्तन से, इतना पवित्र हो गया है कि इसके किसी स्थान पर पड़े रहने से उनका प्रभाव कुछ दिनों तक उस स्थान को और आस पास को पवित्र करता रहेगा, और जो उसके पास आवेंगे उनका हृदय पूत पावित होगा। बुद्धदेव की अस्थियाँ कितने स्तूपों में रखी हुई हैं। अति बाल्यावस्था में मृत, तथा विशेष विशेष रोगों से मृत, शरीर का, तथा सन्यासी का भी, जल में प्रवाह किया जाता है। वाल्मीकि रामायण में कथा है कि राम ने विराध नाम राक्षस का, उसकी इच्छा के अनुसार, निखनन संस्कार किया, तथा कबन्ध नाम राक्षस का और जटायु नाम गृध्र का अग्नि संस्कार किया। (दूसरी जात का है, इसको कैसे छुएं, इस शङ्का को उठाया ही नहीं।)

व्यक्तिधर्म-समाजधर्म-समन्वय ।

एक और समन्वय की चर्चा करना आवश्यक है, अर्थात् वैयक्तिक स्वार्थ और सामाजिक परार्थ की । आजकाल के पश्चिम के अंग्रेज़ी शब्दों में, "इंडिविजुअलिज़्म" और "सोशलिज़्म" को । इस पर कुछ पहिले भी कह आये हैं। इस विषय पर पश्चिम के देशों में बड़ी बहस चल रही है, और प्रश्न बड़ा जटिल समझा जाता है। पर मानवधर्म में इसका उत्तर, इस ग्रन्थि का भेदन, सहज में किया है। पहिले दो आश्रमों में स्वार्थ की मात्रा अधिक रहे, और पिछले दो आश्रमों में परार्थ की मात्रा यहाँ तक बढ़ायी जाय कि मनुष्य निष्परिग्रह हो जाय, कुछ भी निज की जायदाद, अपना मालमता, न रखे, ममता बुद्धि को छोड़ दे, अथ किं अहन्ता बुद्धि को भी छोड़ दे, अपने शरीर को भी 'अहं मम' करके न समझे। इससे बढ़ के और क्या 'कम्यूनिज्म' 'कलेक्टिविज्म' 'साम्यवाद' अथवा 'सर्वसमानसत्तावाद' हो सकता है ? मोक्ष का अर्थ ही अहन्ता और ममता से मोक्ष, सब जगह सबमें एक ही परामात्मा को देखना । पर देखिये, इसके संबन्ध में भी कैसी भयानक दुर्बुद्धि इस देश में फैल रही है।

अधर्मं धर्मामिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥

(गीता)

स्वार्थ और मोक्ष ।

भागवत में ही लिखा है कि जो परम परमार्थ स्वरूप मोक्ष है उसी को लोगों ने भ्रम से स्वार्थ कर डाला है । 'मेरा' मोक्ष हो,

और चाहे किसी का हो या न हो, अथवा यदि औरों का न हो तो अच्छा ही है ! परम अभेदबुद्धिरूप मोक्ष को भी भेद-भावपूर्ण कर दिया है ! अहन्ता के नाश को भी तीव्रतम अहन्ता का विषय बना डाला है ! प्रह्लाद की उक्ति है, भगवान् के प्रति,

प्रायेण देवमुनयः स्वविमुक्तिकामाः
स्वार्थं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः ।
नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको
नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये ॥

"प्रायेण देवता और मुनि 'अपनी' ही मुक्ति चाहते हैं, और अकेले में बैठ के 'अपनी' ही फिक्र करते हैं, औरों की नहीं। मैं इन कृपण दीन जनों को छोड़कर अकेले अपनी मुक्ति नहीं चाहता हूँ, और इस भ्रमते हुए संसार से शरण देनेवाला सिवाय आपके किसी और को नहीं देखता हूँ।" 'अपनी' मुक्ति—यह वाक्य, यह विचार, यह भाव, ही स्वतोव्याहत है। 'अपनापन' छोड़ने ही का तो नाम मुक्ति है।

इस प्रकार से "कुरु कर्म त्यजेति च" का समन्वय आर्य-धर्म में किया है। ब्रह्मचर्य गार्हस्थ्य में "कुरु कर्म", अर्थात् अभ्युदयरूप धर्म-अर्थ-काम खोजिये, स्वार्थ साधिये, पर "अन्याद्रोहेण", दूसरों का सरीहो नुकसान न करके, कानून की मर्यादा की हद के भीतर रह के। वानप्रस्थ और संन्यास में निःश्रेयसरूप मोक्ष साधिये, "त्यजेति" के द्वारा, परार्थसाधन के द्वारा।

यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते ।
निवर्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि ॥

अर्थस्य मूलं निकृतिः क्षमा च कामस्य रूपं च वयो वपुश्च।
धर्मस्य यागादि दया दमश्च मोक्षस्य चैवोपरमः क्रियाभ्यः॥
(संक्षेप शारीरक)

अर्थात् जिधर जिधर से हटेगा, उधर उधर से मुक्त होगा। सब ओर से हट जाय तो सब दुःखों से छूट जाय। अर्थ-सम्पत्ति का मूल, नीचा काम करना और बर्दाश्त करना। काम-भोग का साधन, यौवन और बलवान् और सुंदर रूपवान् शरीर। धर्म का साधन, इंद्रियदमन, दया और यज्ञ। मोक्ष का एक मात्र साधन, सब वस्तुओं का, सब क्रियाओं का, त्याग।

बिना 'स्वार्थ' के मनुष्य-व्यक्ति जी नहीं सकता है। बिना परार्थ के मनुष्य-समाज एक क्षण भी ठहर नहीं सकता है। युवा जीवों में स्वार्थ की मात्रा किंचित् अधिक हो और वृद्धजन में परार्थ की मात्रा अच्छी बढ़ी हो, तो दोनों बात मनुष्य समुदाय में सिद्ध हो सकती है, "इंडिविजुअलिज्म" के भी गुण हासिल होंगे और "सोशलिज्म" के भी। रजोगुण भी अपना काम करेगा और सत्वगुण भी। तथा दोनों एक दूसरे से तमोगुण द्वारा संसृष्ट रहेंगे। "तदेव बुद्धिसत्वं रजोमात्रयाऽनुविद्धं धर्म-ज्ञान-वैराग्यैश्वर्योपगं भवति।" (योगभाष्य) अर्थात्, बुद्धि का जो सात्विक अर्थात् ज्ञान का अंश है उसमें रजस् अर्थात् क्रिया का थोड़ा अंश मिला रहे तो जीव की रुचि धर्म और ज्ञान और वैराग्य और ऐश्वर्य की ओर होती है। और यह बात नैसर्गिक भी है, प्रकृति के अनुकूल भी है, कि युवाजन वृद्धों के माथे खेलें, खायँ, खुश रहें, और वृद्ध उनकी फिक्र करें। यदि ऐसा न हो तो नयी पुश्त जी न सके। पुरानी

पुश्त यदि सर्वथा स्वार्थी हो जाय और नयी पुश्त की फिक्र न करे तो मानववंश का तत्काल उच्छेद हो जाय। "वृद्धस्तावत् चिंतामग्नः।" हां, "परहितचिंतामग्नः," "ब्रह्मचिंतामग्नः" होना चाहिये, "स्वार्थचिंतामग्नः" नहीं। सबसे सहज समन्वय, स्वार्थ और परार्थ का, व्यक्ति के अर्थ का, और समाज के अर्थ का, यों कीजिये। "स्व" का अर्थ "मैं" भी और "हम" भी। प्रत्येक मनुष्य प्रतिक्षण इन दोनों शब्दों का प्रयोग करता है। यथा "मैं" राम, कृष्ण, आदि और "हम" काशीवासी, "हम" भारतवासी, "हम" हिंदू, "हम" मुसलमान, "हम" ईसाई, इत्यादि। मैं के विना हम नहीं, हम के विना मैं नहीं। व्यक्ति के विना समाज नहीं, समाज के विना व्यक्ति नहीं। स्वार्थ-परार्थ परस्पर अभेद्य संबंध से बँधे है। पुनरपि "वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः"। "मैं" की मात्रा अधिक होने से स्वार्थ, "हम" की मात्रा अधिक होने से परार्थ। पहिली उमर में वह, पिछली उमर में यह। पश्चिम में, यूरोप के प्रांतों में, समाजशास्त्र पर विचार करने वालों में दो पक्ष हो रहे हैं। एक पक्ष का मत यह है कि प्रत्येक मनुष्य को पूरा अवसर देना चाहिये कि वह अपनी शक्तियों का यथेष्ट प्रयोग करके जहाँ तक उससे बन पड़े लाभ उठावे, क्योंकि ऐसे व्यक्तियों के संघर्ष से मानव-शक्ति बढ़ेगी। ये लोग "इंडिविजुअलिस्ट", "व्यक्तिवादी", कहलाते हैं। दूसरे पक्ष का मत है कि किसी को अपने निज के लाभ के लिये काम करने देना ही न चाहिये, सब संपत्ति समाज की हो, और सब काम समाज के नाम से, समाज के लिये हो, सब आदमी करें, और समाज की ओर से सबको

अन्न वस्त्र मिले। ये लोग "सोशलिस्ट", "समाजवादी," कहलाते हैं। "साम्यवादी", "अराजकवादी," "श्रेणीवादी," आदि इन्हीं के अवांतर भेद हैं। ये दोनों ही पक्ष "अत्यंतवादी" "अतिवादी", "एक्स्ट्रीमिस्ट" हैं, मनुष्यप्रकृति के विरुद्ध हैं, इसलिये अव्यवहार्य हैं। निजी संपत्ति, परिग्रह, "प्रापर्टी." किसी व्यक्ति के पास न रहे, इसका तो अर्थ यही है कि "ममता" न रहे, और अतएव, द्वितीय क्षण में, अथवा साथ ही साथ, "अहंता" भी न रहे, कुल कुटुंब, दारा, पुत्र, स्वशरीर भी, न रहें। तो यह बात प्रवृत्तिमार्ग पर सर्वथा असंभव है। इस काष्ठा का जब व्यक्तित्व का नाश होगा, तब साथ ही उसके समाजत्व का भी नाश हो जायगा। एवं, यदि व्यक्तित्व को, अहंभाव को, अत्यंत बढ़ाया जाय, और वयं-भाव को अत्यंत दबाया जाय तो भी वही दुष्फल होगा। दोनों का उपर्युक्त प्रकार से मर्यादाबंधन, सीमाकरण, समन्वय करने से ही, मनुष्यमात्र का कल्याण होगा। ऐसी ऐकपाक्षिक, अनध्यात्मवित्, अतएव प्रतिपद विशीर्यमाण "अर्वाचीन" "स्मृतियों" की चर्चा आगे फिर भी की जायगी।

प्रकृति-विकृति-संस्कृति।

इस सबका निष्कर्ष यही है कि प्राकृतिक वस्तुस्थिति को, स्वाभाविक नियमों और कार्य-कारण-सम्बन्धों को, लेकर, मनुष्य के वैयक्तिक और सामाजिक, ऐहलौकिक और पार-लौकिक, जीवन के लिये, तथा मोक्ष के लिये, नियमबद्ध, मर्या-दित, कर देना, प्रकृति के विकृतियों की संस्कृति कर देना,

नैसर्गिक भावों का संस्कार परिष्कार कर देना—इतना ही काम सनातन-आर्य-वैदिक-मानव-बौद्ध धर्म का है। और इसी से यह सर्वसंग्राहक है, किसी का भी अत्यन्त विरोधी नहीं। "यह ही"—ऐसा कभी नहीं कहता, "यह भी"—ऐसा ही कहता है। पक्ष में भी इतना अंश ठीक है, प्रतिपक्ष में भी इतना अंश ठीक है। मैले के लिये भी "खाद"रूपेण खेत में परमोपयोगी स्थान है, वह भी अन्न का "खाद्य" है। सर्वव्यापी परमात्मा किसी का अत्यन्त विरोधी नहीं हो सकता।

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।

अर्थात्, "मैं" ही तो इस सारे जगत् को, जगदन्तर्वर्त्ती समस्त विरुद्ध भावों को, अपने एक अंश से, ध्यान के, संकल्प के, अवधारण के, बल से धारे है (हूं)। यही विवेक, यही लोच, यही लचीलापन, यही विवेकपूर्वक संकोचविकासशीलता, यही विभुता, यही व्यापकता, इस धर्म की प्रबलता का मुख्य कारण भी और मुख्य लक्षण भी है। काल के प्रवाह से, युगपरिवर्तन से मनुष्यसमाज में रागद्वेषादि प्रयुक्त दुर्भावों की वृद्धि से, धर्माधिकारियों और ज्ञानप्रवर्तकों में स्वयं स्वार्थांधता, अधर्म, और अज्ञान की वृद्धि और तपोबल की हानि से, जितना ही इस विवेक और इस लोच के भाव का ह्रास हुआ, उतना ही इस धर्म का बल क्षीण होता और फैलाव और घेरा घटता गया है।

नाम-समन्वय मानवधर्म।

इस धर्म का नाम मानवधर्म है—इसलिये कि मानव मात्र इसके अन्दर आ सकते है और हैं ही। यदि इसके रक्षकों को सद्बुद्धि होती तो आज जो मजहबी झगड़े इस देश को

[illegible]

[illegible]

[illegible]

वातावरण में अथवा आर्यसमाज में होना [illegible]
किसी न किसी धर्म में शामिल हो जाता। जैसे पंजाबी, बंगाली, गुजराती, महाराष्ट्रीय, आदि, [illegible], [illegible], [illegible], शूद्र, होते हैं वैसे ही ईरानी, अरबी, तुर्की, जर्मन, [illegible], रूसी,

अंग्रेजी, चीनी, जापानी, वर्मी, आदि भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र बना लिये गये होते। जैसे उपासना के अवान्तर भेदों में सैकड़ों शैव, शाक्त, वैष्णव, स्मार्त आदि भेद हैं, वैसे ही अल्ला-पंथ, और ईसापंथ, और यहोवापंथ, आदि भी होते—और सब ही परमात्मोपासना के प्रकार मात्र समझे जाते।

अपना दोष।

यह मानवधर्म तो ऐसा संग्राहक है कि जहाँ पश्चिमवालों की परार्थ बुद्धि बहुत उड़ान उड़कर भी भ्रातृभाव (ब्रदरहुड) ही तक पहुँची, वहाँ इसने सब वर्णों के मनुष्यों में अङ्गाङ्गिभाव सिद्ध कर दिया। भाई भाई तो भी अलग होते हैं। पर मुख, बाहु, उरूदर, पाद—ये तो अलग हो ही नहीं सकते। पर हमारे दुर्भाग्य ने, हमारे आन्तर तमस् ने, हमारी बुद्धि पर आवरण डाल दिया है, और उसको ऐसा विक्षिप्त कर दिया है कि हम दिन को रात और रात को दिन समझने लगे है। जहाँ परस्पर अङ्गों में घनिष्ट प्रेम, स्नेह, परस्पर सेवा सहायता होना चाहिये, वहाँ परस्पर अहङ्कार, तिरस्कार, ईर्ष्या, द्रोह, छल, कपट, छूत, अछूत, आदि का व्यवहार होता है। जिसी के कारण हमारी यह दुर्दशा हो रही है जिसके विषय में महाभ्रांति से हम नित्य शिकायत करते हैं कि दूसरे देश के लोग हमारी यह दुर्दशा कर रहे हैं। अस्ल में यह सब दुर्दशा अपनी हम आप ही कर रहे हैं। जब दूसरों की बुराई करने को जी चाहे तब अपना मुँह स्वयं आइने में देखना चाहिए।

राजन् सर्षपमात्राणि परछिद्राणि पश्यसि।
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यसि॥

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः॥
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥

विदुर ने धृतराष्ट्र से कहा है, हे राजा! दूसरों के सरसों बराबर छेद बड़ी बारीक निगाह से देखते हो, पर अपने वेल के बराबर भी छेद देखकर भी नहीं देखते हो। विभीषण ने रावण से कहा है, हे राजा! सदा मीठा बोलने वाले चापलूस खुशामदी बहुत मिलते हैं, दवा के ऐसी कड़ुई पर हितकारी बात बोलनेवाले भी और सुननेवाले भी कम मिलते हैं।

दूसरे नाम।

इस धर्म के अन्य नामों पर भी विचार कीजिये। इसको आर्यधर्म भी कहते हैं। आर्य शब्द का अर्थ है, ऋजुबुद्धि का, सत्यबुद्धि का, मनुष्य, तथा कृषिजीवी भी, और आत्मवशी। ऐसे मनुष्यों का निश्चय और धारण किया हुआ धर्म आर्यधर्म है।

इसी का एक अभिधान वैदिक धर्म भी है। "वेदयतीति वेदः"। कार्यों और कारणों के सम्बन्ध को बताने वाले सब ज्ञान का नाम वेद है। "अनंता वै वेदाः" यह तैत्तिरीय श्रुति है। इस विस्तृत अर्थ में विद् धातु से निकली हुई जितनी सभी विद्या हैं सभी वेद को अंगोपांग हैं, उसके शरीर की अंश अवयव हैं, उससे पृथक् नहीं हैं, सभी "सायंस" इसमें शामिल हैं। और जब सायंस और शास्त्र की तथ्य बातें पुरुष रचित नहीं हैं, तो प्रत्यक्ष ही वे अपौरुषेय हैं। दो और दो मिलके चार होता है, यह बात स्पष्ट ही पुरुषकृत नहीं है, पुरुषदृष्ट मात्र है।

आर्षं धर्मोपदेशं तु वेदशास्त्राविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥
हेतुभिर्धर्ममन्विच्छेन्न लोकं विरसं चरेत् ॥ (शांतिपर्व)

वेद शास्त्र अर्थात् अध्यात्मशास्त्र परम प्रत्यक्ष, प्रतिक्षण प्रत्यक्ष, "अहं" तत्त्व, आत्मतत्त्व, पर प्रतिष्ठित है। "नहि कश्चित् संदिग्धेऽहं वा नाऽहं वेति" (भामती) । इस परम प्रत्यक्ष का न कभी अपलाप हुआ, न होता है, न होगा । सो ऐसे दृढ़मूल अध्यात्मशास्त्र के अनुकूल तर्क से जो ऋषियों के कहे हुए धर्मों के हेतुओं का अनुसंधान करता है, बिना हेतु को समझे काम नहीं करता, केवल "ऋषि, ऋषि, शास्त्र, शास्त्र, वेद, वेद" पुकारता ही नहीं, वही तो धर्म को जानता है । दूसरे लोग धर्म को नहीं जानते ।

ऐसे हेतुयुक्त, कार्यकारणपरम्परासूत्र से सूत्रित, सम्बद्ध, सुव्यूढ़ ज्ञान को "सायंस" पश्चिम देश में कहते हैं। यहाँ उसका व्यापक नाम "वेद" है । पहिले कह आये हैं,

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥

एक परमात्मा में सब भूतों को प्रतिष्ठित, तथा सब भूतों का उसी एक से विस्तार, जब मनुष्य पहिचान लेता है, तभी उसका ब्रह्म अर्थात् ज्ञान सम्पन्न होता है, और वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है । पश्चिम के शब्दों में पहिले अंश को यथाकथंचित् "मेटाफिजिक्" और दूसरे को "सायंस" कहते हैं । पर दोनों ही "सायंस" कहे जायँ तो भी उचित है ।

जो एक विशेष शब्दसमूह को विशेष रूपेण ऋग्वेद,

यजुर्वेद, आदि विशेष विशेष नाम से पुकारते हैं यह विशेष कथा है। सामान्य नाम वेद के अन्तर्गत ये विशेष नाम हैं। तो अब ऐसे "सायंस", ऐसे "वेद", के मूल तत्वों को लेकर, ऐसे कारण से ऐसा कार्य होता है, ऐसे आचरण से ऐसा फल, सुखात्मक अथवा दुःखात्मक, दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष, शारीर आदि, अथवा अदृष्ट, बौद्ध संस्कार रूपादि, होता है, इन तथ्यों को ध्यान में रख कर देश-काल-निमित्तानुसार यह धर्म चलता है, और सब प्राणियों का धारण करता है, इसलिये इसको वैदिक धर्म, "सायंटिफिक् रिलिजन्" भी कहते हैं।

इसको बौद्धधर्म भी कहते हैं, क्योंकि इसके सब नियम, सब शास्त्र, सात्विकबुद्धि के अनुसार बनाये गये हैं, और इसमें सब संशयों के निर्णय के लिये, "शास्त्र" शब्द पर अंधविश्वास से नहीं, किन्तु इसी सात्विकबुद्धि से काम लिया जाता है।

> बुद्धौ शरणमन्विच्छ बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥
> प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
> बंधं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी ॥
> (गीता)

कृष्ण का गीता में परमोपदेश है कि सात्त्विक बुद्धि की शरण लो, बुद्धि के नाश से मनुष्य का नाश हो जाता है। सो आजकाल यह तामस दुर्बुद्धि फैली है कि संस्कृत पढ़े लोग भी कह देते हैं कि "धर्म में बुद्धि को स्थान नहीं", "जो पोथी में लिखा है वही धर्म है, और वह बदल नहीं सकता", इत्यादि। साथ ही इसके, अपने मतलब के समय पर यह भी "पुराण" श्लोक, कलिवर्ज्य प्रकरण का पढ़ दिया करते हैं,

एतानि लोकगुप्त्यर्थं कलेरादौ महात्मभिः ।
निर्वर्त्तितानि विद्वद्भिः व्यवस्थापूर्वकं बुधैः ॥

अर्थात् कलियुग के आरम्भ में, लोक के हित के लिये, विद्वान, बुध, बुद्धिमान् महात्माओंने, इन इन आचारों को बंद कर दिया, उनका निवर्त्तन कर दिया। क्यों, भाई! कलियुग के आदि में पुराने शास्त्रोक्त धर्मों का बुद्धिमान् महात्माओं ने निवर्त्तन और शास्त्रानुक्त नये धर्मों का प्रवर्त्तन बुद्धि के बल से किया, तो आज ऐसा क्यों नहीं हो सकता ? केवल "शास्त्र" "शास्त्र" पुकारने वाले नासमझों, अथवा स्वार्थी मतलबियों, के बुद्धिद्वेष और स्वतोव्याहत वाक्यों की दशा यह है!

इसको "सनातन-धर्म" इसलिये कहते हैं कि जो एक ही वस्तु सनातन है अर्थात्, आत्मा, परमात्मा, (नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः। गीता), उसी पर, उसी के ज्ञान की नीव पर, यह धर्म खड़ा किया गया है, और प्रतिष्ठित है, इसलिये स्वयं मुख्य मुख्य अंश में सनातनवत् स्थिर है। कच्ची बुनियाद के दूसरे धर्म रोज उठते, रोज गिरते रहते हैं, जो आत्मज्ञान, मानवप्रकृतिज्ञान, को लेकर नहीं चलते। "मुख्य अंश" याद रखना चाहिये। घर की नीव, दीवार, खंभे, छत, नहीं बदलेंगे, पर हांडी, पुरवा, पत्तल आदि सामग्री स्थिर नहीं है, वह तो रोज बदलती ही रहैगी, उसको भी सनातन करने का यत्न करना मूर्खता है।

इसको 'इस्लाम' धर्म, फारसी, अरबी के शब्द में, कह सकते हैं, क्योंकि अल्ला की वहदत को, परमात्मा की एकता को, यह नितरां 'तस्लीम' करता है, स्वीकार करता है, मानता है,

और सब जीवों की, संसार मात्र की, 'सलामत' शान्ति, भलाई, चाहता है।

इसको ग्रीक और अंग्रेजी भाषा के शब्द में 'क्रिश्चियानिटी' भी कह सकते हैं, क्योंकि "क्रिस्टास्" शब्द का अर्थ अभिषिक्त, स्नात है। "बप्तिस्मा" का अर्थ जलसिंचन, अभिषेक, है। पर असल अर्थ यह है कि जब तक आत्मज्ञान के जल से जीव का सिंचन नहीं होता, जब तक वह आत्मानुभव में नितरां स्नात, निष्णात, नहीं होता, तब तक वह सच्चा 'क्रिस्चियन', सच्चा द्विजन्मा मानव, "रि-जेनरेट्", नहीं होता।

ऊपर कहा कि इस वैदिकधर्म की परम प्रतिष्ठा आत्मज्ञान के ऊपर है, जो आत्मा सनातन है, जिसकी प्रकृति, जिसका स्वभाव, और तज्जनित गुणकर्म आदि भी, सनातन है, इसलिये इस धर्म का नाम सनातन धर्म भी है। आत्मस्वभाव को भुलाकर जो रास्ते बनाये जाते हैं वे शीघ्र ही बिगड़ जाते हैं।

न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते ॥
या वेदबाह्याः स्मृतयः याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ताः निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः॥
उत्पद्यंते च्यवंते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च॥ (मनु)

जो अध्यात्म को नहीं जानता वह सच्ची उचित क्रिया नहीं कर सकता और सच्चे उत्तम फल को नहीं पा सकता। वेद से बाह्य, अर्थात् अध्यात्म शास्त्र के विपरीत, स्मृतियाँ और दृष्टियाँ अर्थात् क़ायदे क़ानून और दर्शन जो हैं, वे सब अनृत, मिथ्या, झूठे और निष्फल हैं, दुष्फल

हैं। जो दर्शन और जो धर्म आत्मा को लेकर चलते, आत्मा के स्वभाव, आत्मा की प्रकृति को ध्यान में रख कर, जीवात्मा के बहिष्करण और अंतःकरण की बनावट के प्रतिकूल नहीं, किन्तु अनुकूल, नियम बनाते हैं, उसी की नींव पर जीवन-विधि और समाजव्यूह को उठाते हैं, वे ही स्थिर और सुफल हैं।

इसलिये आप लोगों को गुरुकुल में ब्रह्मचर्य पूर्ण करके दीक्षान्त के समय, इस आत्मज्ञान का स्मरण कराता हूँ, कि संसार में जाकर, गृहस्थी उठाकर, इसके अनुसार अपना और अपने परिवार का और समाज का उपकार और सुधार कीजिये। "सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायात् कुशलाद् भूतेः मा प्रमदः।" और "विद्या ददाति विनयं" के विनय शब्द के अर्थ पर विशेष ध्यान रखिये। "विशेषेण नयनं"। विशिष्ट उत्तम रीति से जीवन का नयन, ले चलना, निबाहना। सांसारिक माया, आत्मा की माया, के तीन मुख्य अवयव हैं, देश, काल, क्रिया। बंधे समय पर, बंधे स्थान में, बंधी क्रिया करना—यह "विनयन" का "डिसिप्लिन," "ट्रेनिङ्", "आर्डर्लिनेस्" का तात्त्विक रूप है। इससे सब जीवनप्रबंध सुखमय होता है। इसके विरुद्ध आचरण से, दुःखमय, अस्तव्यस्त, निर्मर्याद, अशिष्ट बर्बरों के ऐसा।

आत्मा का स्वरूप।

प्रमाद न हो इसलिये एक चेतावनी और देना आवश्यक है। आत्मा का स्वरूप परम प्रत्यक्ष है, सभी "मैं" "मैं" कहते हैं, तथापि यह स्वरूप परम गूढ़, परम रहस्य भी है। यदि किसी

भी देशकालावच्छिन्न परिमित पदार्थ को "मैं" का आत्यन्तिक स्वरूप समझ लिया तो "महती विनष्टिः !" यहाँ बड़े सूक्ष्म विचार और सम्यग्दर्शन की आवश्यकता है।

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति ॥

छूरे की धार से भी अधिक तीक्ष्ण और दुर्गम यह आत्म-दर्शन का पथ है। इस पर बहुत सावधानी से चलना चाहिये।

उपनिषत् में कथा है। इन्द्र और विरोचन दोनों प्रजापति के पास पूछने गये,

"हंत, तमात्मानमन्विछामो,
यंवात्मानमन्विष्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति,
सर्वांश्च कामान् इति।"

पितामह ! उस आत्मा की खोज में हम फिर रहे हैं, जिस आत्मा को पाकर सब लोक और सब अभीष्ट काम मिल जाते हैं, सो आप बताइये कि कहाँ कैसे मिलेगा।

प्रजापति ने कहा, गुरुकुल में वास करो। बत्तीस वर्ष दोनों ने वास किया। पुनः प्रजापति के पास आये। प्रजापति ने कहा, नाँद में पानी भर के देखो, जो दीख पड़े वही आत्मा है।

विरोचन ने देखा। अपने शरीर ही को आत्मा जान चले गये। देहात्मवादी हुए। शरीर की ही माला फूल गहने कपड़े से पूजा अर्चा की। आसुरी संपत् के अधिकारी हुए। थोड़े ही दिनों में अति उद्दण्डता के कारण मारे गये।

इन्द्र ने भी अपना मुँह पानी में देखा। सन्तोष न हुआ। तरह तरह की शंकाएँ मन में उठीं। पुनः प्रजापति के यहाँ गये।

आज्ञा हुई—और बसो। बत्तीस बरस और बसे। पूछा। उत्तर मिला, स्वप्न में जो पदार्थ स्वच्छन्द विचरता है वही आत्मा है। फिर भी शङ्का हुई। और भी बत्तीस बरस वास करके विचार करते रहे। आदेश हुआ कि सुषुप्ति की चेतना ही आत्मा है। फिर भी कुछ शंका हो गयी। और पाँच वर्ष परिश्रम किया। एक सौ एक वर्ष के विचार के पीछे इन्द्र की सब शंका निवृत्त हुई, आत्मलाभ हुआ, अमर हो गये, अर्थात् अमर तो थे ही, पर यह ज्ञान, यह निश्चय, प्रत्यक्ष हो गया कि जिस चेतना से यह शरीर जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति (तीन वास) तीनों अवस्था में चेतित है वह (तुर्यावस्था की, चौथे वास की) चेतना, वह आत्मा, अजर अमर है। अमरत्व के विश्वास ही का लाभ तो अमरत्व का लाभ है।

एक सौ एक वर्ष संख्या का अर्थ कई तरह से लोग लगाते हैं। अपना मतलब इस स्थान पर इतना ही है कि आत्मा का स्वरूप, 'स्व' का रूप, ठीक ठीक पहिचानना चाहिये, इसमें एक सौ एक, क्या एक हजार एक, भूल होने का संभव है। और यदि एक भी गहिरी भूल हो गई तो आत्मलाभ तो होगा नहीं, विरोचन के ऐसी शरीरहानि हो जायगी।

यदि "अहं ब्रह्मास्मि" का अर्थ 'पराया माल अपना' और आराम तलबी और बदमाशी और मुफ्तखोरी समझा, तो वेशधारियों के मारे देश की मुसीबत हो जाती है। यदि अहंकार को आत्मा समझ लिया, यदि अभिमान को आत्म-सम्मान, आत्मगौरव जान लिया, यदि निर्मर्यादताको स्वतंत्रता, उच्छृंखलता धृष्टता को आत्मवशता, यदि अविनीतता और

दुर्विनीतता को स्वच्छन्दता, यदि टर्रेपन को बहादुरी, समझ लिया, तब तो स्वराज के ठिकाने अराजक, हुल्लड़शाही, का उत्पात मचेगा, और सुखी होने की जगह हम लोग महा दुःख में गिरेंगे।

आजकाल जो भारतवर्ष की स्वराज की लड़ाई रुक अथवा बिगड़ रही है, उसमें मुख्य कारण यही है कि अब तक "स्व" के सच्चे सामाजिक तथा दार्शनिक, आध्यात्मिक तथा राजनैतिक स्वरूप पर विचार ही नहीं हुआ है। अधिकांश भारतीय नेताओं और नीतों ने विरोचनवत् पश्चिम के देशों में प्रचलित स्वराज के रूपों को ही स्वराज का सच्चा स्वरूप समझ रखा है। अथवा, अपने ही अपने मुँह को विरोचनवत् "स्व" समझ लिया है,और उसी के राज को स्वराज मानना और बनाना चाहते हैं। स्वराज का अर्थ हिंदू हिंदू-राज, मुसलमान मुसलमान-राज, जमींदार जमींदार-राज, काश्तकार काश्तकार-राज, ब्राह्मण ब्राह्मण-राज, अब्राह्मण अब्राह्मण-राज, क्षत्रिय क्षत्रिय-राज, पूंजीवाला पूंजीपति-राज, श्रमजीवी श्रमजीवी-राज, इत्यादि अपने मन में कर रहा है। फल इसका—परस्पर अविश्वास, द्रोह, कलह, ईर्ष्या, मत्सर, छल, दंभ, बढ़ रहे हैं, कार्यशक्ति घट रही है, स्वराज पास आने के ठिकाने दूर हटा जाता है।

एक किंवदंती है कि सन् १८५७ में "सिपाही युद्ध" के समय एक बड़े राजा या नवाब ने दूसरे बड़े राजा या नवाब से कहला भेजा कि अगर हम तुम मिल जायँ तो विदेशियों के पैर उखड़ जायँगे, और ये देश में कदापि न ठहर सकेंगे। दूसरे राजा या नवाब ने पहिले राजा या नवाब से पूछ भेजा कि

विदेशियों के हट जाने के बाद दिल्ली के तख्त पर आप बैठोगे या मैं। इसके बाद और बातचीत नहीं हुई। विदेशी देश में रहे, और दिल्ली के तख्त पर बैठे। न राजा बैठे न नवाब। यदि पहिले राजा या नवाब से यह जवाब देते बनता कि अब स्वदेशी विदेशी के भी झगड़े छोड़ो, न तुम तख्त पर बैठो, न मैं, न कोई तीसरा विदेशी या स्वदेशी खाहमखाह, बल्कि ऐसे ऐसे भले आदमी, निस्स्वार्थ अर्थात् सर्वस्वार्थी, परार्थी, और परमार्थी, "अकामः सर्वकामो वा", जिन पर तुमको भी और मुझको भी और सब प्रजा को भी विश्वास और श्रद्धा हो, कि ये हमारे देश और समाज के अंतर्यामिस्थानीय उत्तम "स्व" हैं, (अधम "स्व" नहीं) ऐसे आदमियों की एक सभा "तख्त" पर बैठेगी, अर्थात धर्म का आम्नान व्यवसान व्यवस्थापन निर्णयन निर्माण करेगी, और उस धर्म का, उस कायदे कानून को, हम भी आप भी सभी मानेंगे—यदि ऐसा उत्तर देते बनता तो स्यात् आज भारत-वर्ष का इतिहास दूसरा ही होता।

यही दशा इस समय उपस्थित है। 'स्व-राज' 'स्व-राज' सब पुकारते हैं। 'स्व' का अर्थ ठीक ठीक जानते ही नहीं, विचारते ही नहीं। आत्मज्ञान की कितनी आवश्यकता राजनीति के क्षेत्र में है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमारे सामने मौजूद है, कि विना इसके सब कार्य अस्तव्यस्त हो गया है। मनु का वचन पहिले कह आये हैं,

न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते।

ईसामसीह ने भी यही बात कही है, कि यदि मनुष्य सारे संसार की सब वस्तुओं को पा ले पर अपने आपको, अपने

आत्मा को ही खो दे तो उसको क्या लाभ हो सकता है ? वह कोई वस्तु नहीं पावेगा, और यदि पावेगा भी तो शीघ्र ही फिर खो देगा। इस देश में तो आत्मविद्या का नाम ही राजविद्या रख दिया था, पर वह सब बात नितांत विस्मृत हो गई है। दार्शनिकों में कहने की प्रथा यह है कि अन्य सब ज्ञान कर्मपरक हैं, पर आत्मज्ञान आत्मपरक ही है। और एक दृष्टि से यह नितांत सत्य भी है। पर दूसरी दृष्टि से देखिये, तो आत्मज्ञान यदि कर्मपरक नहीं तो सब ज्ञानों से अधिक, अथवा वही अकेला कर्मशोधक, धर्मशोधक, कर्तव्यबोधक है। स्वयं भगवद्गीता ही इसका प्रमाण है। योगवासिष्ठ के मुमुक्षु प्रकरण के एकादश अध्याय में विस्तार से इसका वर्णन किया है कि राजों का मोह हटाने को और उनको कार्यक्षम बनाने को इस राजविद्या का अवतार हुआ।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥

यह विद्या प्रत्यक्षावगम है, इसको अपने सामने का इतिहास कहिये, इतिवृत्त कहिये, सिद्ध कर रहा है। यूरोप के देशों के राष्ट्रसञ्चालक तो अपनी कार्यकुशलता, व्यवहार-चतुरता, पर धन्यम्मन्य हैं। पर घोर महायुद्ध में पड़ गये। उनकी सब चतुरता का फल यही हुआ कि आज प्राय: सबके सब अपना घर तबाह कर बैठे हैं, अपने कुल कुटुम्ब के होनहार उत्तम युवाओं को युद्ध में मरवा कटवा चुके हैं, और रो रहे हैं। जो कम रोते हैं वे वही हैं जिनको अपने अधीन दुर्बल और दीन देशों का प्राण चूसने सोखने का अवसर मिला हुआ है।

इन सब बातों से आप निश्चय कीजिये कि आत्मज्ञान की गति मनुष्य के जीवन के प्रत्येक अंश और विभाग में है, और प्रत्येक में उसके द्वारा कल्याण की वृद्धि हो सकती है। मानवधर्म की तो सारी सभ्यता शालीनता इसी अध्यात्म-विद्या की नींव पर स्थापित है। इसलिये 'आत्मा' के 'स्व' के, रूप को बड़े विवेक से निश्चय करना चाहिये।

उपनिषत् में रूपक बाँधा है,

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥

एक ही पेड़ अर्थात शरीर पर दो चिड़ियाँ बैठी हैं। एक तो उसके फल खूब खा रही है, दूसरी केवल साक्षी होकर देख रही है। संसारलोलुप, बुभुक्षु, बहिर्मुख, स्वार्थी अवस्था जो इस शरीरवान् जीवरूप आत्मा की है वही पहिली चिड़िया है। जो इनकी परार्थी और परमार्थी अंतर्मुख अवस्था संसार-लोभ से विमुख, निवृत्तिमार्गी है, वही दूसरी चिड़िया है। प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक कुल और प्रत्येक समाज में ये दोनों पक्षी मौजूद हैं। यदि खाने वाले पक्षी का, अधम 'स्व' का, राज हुआ तो वह व्यक्ति, वह कुल, तथा वह समाज डूबा। यदि निस्स्वार्थी, परमार्थी, साक्षी, लोकहितैषी पक्षी का उत्तम, 'स्व' का, राज हुआ, तो समाज का अभ्युदय हुआ।

दण्डो हि सुमहत् तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः।
धर्माद्विचलितं हंति नृपमेव सबांधवम्॥
ज्येष्ठः कुलं पालयति विनाशयति वा पुनः।
यो ज्येष्ठो ज्येष्ठवृत्तिः स्यान्मातेव स पितेव सः॥ (मनु)

दण्ड, दण्डशक्ति, राजदण्ड, "कम्पल्सिव् फोर्स", यह भारी अग्नि समान तेज है। जो आत्मा को नहीं पहिचानता, अपनी आत्मा से दूसरों का हाल नहीं समझ सकता, वह इसका उचित सञ्चालन नहीं कर सकता। यदि धर्म से दण्ड विचलित होता है तो स्वयं राजा को उसके कुल कुटुम्ब बन्धु-बान्धवों सहित नाश कर देता है। जेठा ही घर को बनाता भी है, बिगाड़ता भी है। जो जेठे की वृत्ति से जेठा रहे वह माता पिता के समान है।

एक गृहस्थी भी तो एक छोटा राष्ट्र है। एक राष्ट्र भी बड़ी गृहस्थी ही है। दोनों के उत्तम प्रबन्ध के लिये प्रबन्धकर्त्ता आत्मवित् चाहिये, अध्यात्म का, 'पुरुष' की 'प्रकृति' का, मनुष्य के स्वभाव का, जानकार चाहिये। शारीर प्रकृति का भी, मानस प्रकृति का भी।

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं वा वेदशास्त्रविदर्हति॥ (मनु)

सेनापति का, राजा का, दण्डनेता न्यायाधीश प्राड्विवाक् का, किम्वा समस्त संसार के अधिपति का पद अध्यात्मवेत्ता को ही मिलना उचित है, क्योंकि ऐसा ही जीव इन सबका काम ठीक ठीक चला सकता है।

यहाँ पर एक गुर्वर्थ विवेक मानवधर्म में और किया है। राष्ट्र का मूल और मुख्य काम है धर्मों का, क़ानून कायदों का, आम्नान, व्यवसान। इनका प्रवर्त्तन दूसरा काम है। मानवधर्म में यह मुख्यकाम "राजा" के हाथ में नहीं रखा है, प्रत्युत "शिष्ट" पुरुषों के हाथ में।

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद् भवेद् ।
यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशंकितः ॥
धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिवृंहणः ।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥
इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपवृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रतरिष्यति ॥

अर्थात्, जब कोई नयी अवस्था उत्पन्न हो, नया प्रश्न उठै, कि क्या करना चाहिये, जिसके सँभालने में, निर्णय करने में, आम्नाय से, श्रुति-स्मृति से, उपलब्ध कायदे कानून से, सहायता न मिले, तो शिष्ट ब्राह्मण जो कुछ विचार करके कह दें वही नया धर्म माना जाय। शिष्ट वे हैं जिन्होंने धर्मानुसार इतिहास-पुराण सहित वेद को जाना है और जो वेद में कहे हुने को प्रत्यक्ष कर के दिखा सकते हैं। इतिहासपुराण सहित इसलिये कि विना उनके वेद का अर्थ ठीक नहीं समझ पड़ता। वेद का अर्थ वही समझ सकता है जो बहुश्रुत है। नह्येकमेव शास्त्रं जानानः किञ्चिदपि शास्त्रं जानाति। ऐसा सुश्रुत में कहा है। एक ही शास्त्र को जो जानता है वह किसी शास्त्र को नहीं जानता। तस्माद् बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयात् प्रयत्नतः। बहुश्रुत होकर एक एक शास्त्र को अच्छी तरह जानै। इतिहास ही में तो सांख्य योग वेदांत के सिद्धांतों के जीवत् उदाहरण मिलते हैं। विना ऐसे उदाहरणों के वे सिद्धांत समझ में नहीं आते। इतिहास पुराण की ऐसी महिमा है कि उनको छांदोग्य उपनिषत् में पञ्चम वेद कहा है। सो इधर सैकड़ों वर्ष

से संस्कृत पढ़ने वालों ने इतिहास के लिखने पढ़ने की ओर से सर्वथा मन हटा लिया है।

शिष्ट के लक्षणों में मुख्य लक्षण अध्यात्मज्ञान है।

चत्वारो वेदधर्मज्ञा पर्षत् त्रैविद्यमेव वा।
सा ब्रूते यं स धर्मः स्यादेको वाऽध्यात्मवित्तमः ॥

(याज्ञवल्क्य)

धर्मनिर्णेता कौन हो ? तो चार अथवा तीन विद्वानों की, वेद धर्म के, वेद के, जानने वालों की, समिति, अथवा एक भी अध्यात्मशास्त्र में निष्णात।

जिसने सच्चे "स्व" को पहिचाना है, और इस कारण स्वयं निस्स्वार्थ हो गया है, वही सच्चे "स्व-राज" के बनने बनाने में सहायता कर सकता है, और वही ब्रह्मचर्य समाप्ति के अनन्तर गृहस्थी में प्रवेश करके गृहस्थी को भी अच्छी तरह पाल सकता है। दार्शनिक और व्यावहारिक स्व-राज का ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसीलिये पुनः पुनः आप लोगों से कहता हूँ कि "स्व" को ठीक ठीक पहिचानिये। पच्छिम से "सायंस" के विद्वान् भी अब अध्यात्म की ओर कई कई रास्तों से चले आ रहे हैं। वे भी पहिचानने लगे हैं कि द्रष्टा की उत्पत्ति दृश्य से नहीं हो सकती, द्रष्टा ही दृश्य की सत्ता का प्रमाता है। "सायंस" का, शास्त्र का, स्वरूप ही यह है कि वैदृश्य में सादृश्य पहिचाना जाय। और इस प्रकार से कार्य और कारण के सम्बन्ध का निश्चय किया जाय। जब इससे और आगे बढ़ कर नानात्व में एकत्व देख पड़ने लगे, तब "सायंस" का परिणाम, "सायंस" की, शास्त्र की, समापत्ति, समाप्ति, अध्यात्म-

दर्शन में हो जाय। इस ओर अन्य देशों के लोग बढ़े आते हैं। इस देश की तो यह पैतृक सम्पत्ति है। पर हम लोग भूले बैठे हैं। और इसी से "हिन्दू धर्म" और "हिन्दू" समाज का दिन दिन ह्रास हो रहा है। आत्मा ही सनातन, चिरन्तन, नित्य, शाश्वत, अजर, अमर है। जो धर्म, जो समाज, उसको, उसकी बुद्धि को, पकड़े रहेगा, और जब तक पकड़े रहेगा, वह धर्म, वह समाज, तब तक, और तभी तक, स्वयं अजर, अमर, बना रहेगा। जो उसको छोड़ेगा, उसके विरुद्ध चलेगा, वह तत्काल नश्वर और अनित्य हो जायगा।

यदि इस आत्मज्योति का प्रकाश राजनीति के जटिल प्रश्नों पर डाल कर विचारशील नेतागण 'स्व-राज' का विवरण इस प्रकार कर दें कि जो ऐसे ऐसे गुणवाले, निस्वार्थी, लोकहितैषी, अनुभवी, तपस्वी, विद्वान् भारतवासी मनुष्य हैं, वे ही धर्म-परिषत् के सदस्य चुने जायँगे, चाहे वे किसी 'मजहब' के हों या किसी कौम के हों, हिंदू या मुसल्मान या ईसाई या पारसी या अंग्रेज या फरांसीसी या पुर्तगाली आदि—तो बहुत सा द्रोह सद्यः मिट जाय, और शांतरूप से शासन प्रबन्ध के विशेष अंगों पर विचार प्रवृत्त हो! पुराना श्लोक है,

> न सा सभा यत्र न संति वृद्धाः
> वृद्धा न ते ये न वदंति धर्मं ।
> नासौ धर्मो यत्र न सत्यं हिनस्ति
> सत्यं न तद् यच्छलमभ्युपैति ॥

वह सभा नहीं जिसमें वृद्ध अनुभवी नहीं, वे वृद्ध नहीं जो धर्म न कहें, वह धर्म नहीं जो सत्य के विरुद्ध

हो, वह सत्य नहीं जिसमें छल कपट मिला हो।

प्रथमोक्त उपनिषत् के शब्दों से आचार्य का जो अंतिम उपदेश समावर्तमान स्नातक को होता है उसका भी यही अर्थ है। "अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा धर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्, तदा ये तत्र ब्रह्मनिष्ठाः अध्यात्मवित्तमाः अरूक्षाः सत्य-हित-प्रियंवदाः, संमर्शिनः, सहिष्णवः, निराग्रहाः, हठरहिताः स्नेहिनः लोकहितैषिणः धर्मकामाः धार्मिकाः निस्स्वार्थाःस्युः, यथा ते वर्त्तेरंस्तथा वर्त्तेथाः।"

प्रिय स्नातक सज्जनो—आप लोगों को, जो समावृत्त हो रहे हो, संसार में वापस जाकर, अपनी अपनी गृहस्थी संभालना होगा, तथा अवश्यमेव, थोड़ा या बहुत, पास से या दूर से किसी न किसी प्रकार से, इस स्वराज के साधन में भाग लेना होगा। इस वास्ते विशेष करके, और सामान्यरीति से भी, सभी व्यवहारों में उपयोगी होने के कारण, मैंने इस समय आप लोगों का ध्यान इस आत्मज्ञान की ओर दिलाया है, जो वैदिक-धर्म में निर्विवाद सर्व सम्मति से ज्ञान की पराकाष्ठा है। अब इस व्याख्यान को पुनर्वार मनु के श्लोक और छांदोग्य उपनिषत् के शब्द पढ़कर समाप्त करता हूँ। और आशा करता हूँ, और हृदय से मनाता हूँ, कि आप लोग इस आत्मज्ञान से सम्पन्न होकर भारतवर्ष के सच्चे उत्तम 'स्व' बनें, और अपने को तथा दूसरों को पारमार्थिक तथा राजनीतिक स्वराज का लाभ कराने में समर्थ हों।

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद् हि अग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः॥

तक मोक्ष न पावेंगे तब तक अनगिनत वेर अभी और भी काम पड़ेगा। इसलिये सभी मनुष्य अपने को उनके वंशज कहिये तो, संबंधी कहिये तो, हुकमी बंदे कहिये तो, अथ च तद्रूप कहिये तो भी, तत्त्वतः हैं। ऐसा समाधान अपने मन का करके मैं आपके सामने उपस्थित हुआ हूँ।

यमद्वितीया का अर्थ।

आज यमद्वितीया है। इस देश में प्रथा है कि आज बहिनें अपने भाइयों को भोजन करावें। पुराणों में लिखा है कि आज के दिन यम ने अपनी बहिन यमुना के यहाँ भोजन किया। उसीकी नकल सबको करना चाहिये। नक़ल में क्या अक़ल ? हेतु का पता मुझे ठीक नहीं चला। मैंने यों अपने मन को समझाया कि वर्षाऋतु के पश्चात् शरत् में पहिले इस देश में बीमारी अधिक हुआ करती थी। आज काल, जब मनुष्य की बुद्धि ने, रेल, जहाज, कल, कारखाने, बिजली, गेस, बर्फ, नल, नहर, तार, डाक, आदि के द्वारा ऋतु-देवताओं को रुकावटों को जीत लिया है, और उनके विशेष गुणों को जब चाहे, जहाँ चाहे, पैदा कर ले सकते है, तो सब काम बारहों महीना होते रहते हैं, रात में भी दिन का काम उज्ज्वल से उज्ज्वल रोशनी करके किया जाता है, बरसात में भी रास्ता बंद नहीं होता। और तरह तरह की बीमारी भी, नयी नयी, व पुरानी भी, बारहों महीना पैदा होती और फैलती रहती हैं। पर पहिले ऐसा नहीं था। सब बातों के लिये ऋतु निश्चित थे। बीमारी के लिये भी। "कार्तिके वैद्य-

सातरौ” ऐसी प्रसिद्धि है। अर्थात्, आश्विन और कार्तिक, इन दो महीनों में वैद्य लोगों का रोजगार खूब बढ़ता है, ये दो महीने वैद्यों का ऐसा पालन करते हैं जैसे माँ अपने बच्चों का। इस पर भी विशेष यह है,

कार्त्तिकस्य दिनान्यष्टौ अष्टाऽऽग्रहायणस्य च।
यमस्य दशना ह्येते लघ्वाहारी स जीवति॥

“कार्त्तिक के अन्त के आठ दिन और अगहन के आदि के आठ दिन, ये यम की दंष्ट्रा हैं, जो कम खाय वही जीये।” इस शिक्षा की याद दिलाने के लिये यमराज और उनकी बहिन यमुना का कार्तिक शुक्ल द्वितीया को स्मरण करना उचित ही है। सर्वसविता सर्वप्रकाशक सर्वज्ञानमय सूर्यदेव की पत्नी संज्ञा से वैवस्वतमनु, यम और यमी अथवा यमुना (नदी) की उत्पत्ति, संज्ञा की अपर रूप छाया से सावर्णिमनु, शनैश्चर, और तपती (नदी) की उत्पत्ति, तथा संज्ञा ही के एक और अन्य रूप अश्विनी से दो अश्विनीकुमारों की उत्पत्ति—इस सबका क्या आध्यात्मिक, क्या आधिदैविक, क्या आधिभौतिक अर्थ है, यह कहना कठिन भी है, और यहाँ उस विचार का अवसर भी नहीं है। यमराज धर्मराज के मीर-मुंशी, पेशकार, सरिश्तादार, हेड क्लर्क, मुख्य लेखक, श्री चित्रगुप्त ही का विचार करना आज उपयुक्त है।

यम के भाई अश्विनीकुमार का अर्थ।

तो भी इस ओर जिज्ञासा बढ़ाने के हेतु इतनी सूचना उचित है—“अश्नन्ति विषयान्, अथवा आशु वहन्ति विषयान्

प्रति, इति अश्वा:, इन्द्रियाणि।" जो विषयों के पास ले जायँ, जो विषयों को चोखैं, वे अश्व, अर्थात् इन्द्रियगण। इन्द्रिययुक्त शरीर का, अश्विनी का, रूप जब संज्ञा ने, बुद्धि ने, धारण किया, तब सूर्य के, आत्मा के, जीव के, सङ्ग से दक्षिण और वाम नासिका के श्वास-प्रश्वास रूपी दो प्राणवायु उत्पन्न हुए। ये ही अश्विनीकुमार, परम वैद्य, है। "प्राणायामैर्दहेद् दोषान्", "प्राणायाम: परं बलं"। यम के भाई भी हैं, यम से बचाने वाले भी हैं, इन्हीं के नाम से अधिक बीमारी के महीने आश्विन कार्तिक प्रसिद्ध हैं। अस्तु।

चित्रगुप्त की उत्पत्ति।

प्रथा यह है कि चित्रगुप्त ही आदि कायस्थ हुए। कई पुराण ऐसे हैं कि जिनके आदि अन्त का पता ठीक नहीं चलता, जैसे पद्म, भविष्य, स्कन्द, आदि। इससे यह सुविधा है कि जब किसी नई बात के लिये विशेष प्रमाणादि की आवश्यकता होती है तो ढूँढ़ने खोजने से इनके कुछ न कुछ अपूर्व अध्याय चतुर कार्यकुशल पण्डितजन को अपने घर में मिल हो जाते हैं। चार वर्णों की उत्पत्ति तो वेद ही में कह दी गयी। उसमें कायस्थ नाम नहीं। पर जाति तो देश में उपस्थित हो गयी। किन्हीं का कहना है कि जैसे "शकों" की एक शाखा राजपूत हो गयी, दूसरी शाखा शाकद्वीपी ब्राह्मण हो गई, वैसे ही एक अन्य शाखा भी भारतवर्ष में शस्त्रवृत्ति छोड़, शास्त्रवृत्ति को, तत्रापि विशेषकर राज्यप्रबन्ध सम्बन्धी कार्यालयों में, पहिले शक राजाओं, पीछे सभी राजाओं की अधीनता मातहती में,

लेखक और कर्मचारी ("करण" शब्द भी इसके लिये देख पड़ता है) की वृत्ति को, ओढ़ कर, नाम के अक्षर उलट फेर कर "कायस्थ" हो गयी। इस जाति के मूल स्थान का नाम उस की भाषा में, तथा ग्रीक भाषा में "स्काइथिया" था। किन्हीं ने "शकाइथिया" में से "शक" रख लिया। किन्हीं ने उस शब्द को उलट पुलट "काइस्थिया" बना कर, "कायस्थ" बना लिया। किन्हीं का विचार है कि "काय" नाम संस्कृत में व्यूहयुक्त, संहत, संघातयुक्त, (आर्गेनाइज्ड) शरीर का भी है, तथा संग्रथित जनसमूह, कार्यशाला, 'आफिस', दफ्तर का भी है। तो 'काये तिष्ठति', दफ्तर वाले, कार्याधिकारी, 'आफिशल' का नाम अन्वर्थ "कायस्थ" उचित ही है। प्राचीन समय में जब भारतीय समाज में यह प्राण, यह शक्ति, यह बुद्धि थी, कि बाहर से आई हुई जातियों को अपना लेते थे, और उनके स्वभावगुणानुकूल उनको समाज में स्थान और कर्म देकर समाज का अङ्ग बना लेते थे, और छूआछूत के ढोंग के मारे मरे नहीं जाते थे, तब ऐसा अक्सर होता था। बहुतेरे "व्रात्य" समूह "शालीन" कर लिये गये, और चातुर्वर्ण्य में उनका समावेश हुआ। आश्चर्य नहीं कि जब दो सहस्र वर्ष पहिले 'स्काइथ' जाति बाहर से आई, तब एक शाखा तलवार-बहादुर होने के कारण क्षत्रियों में मिल गयी, और दूसरी शाखा क़लम की होशियार होने के कारण, किन्तु सर्वथा ब्राह्मणवृत्ति की अभिलाषा न कर के, एक अनिश्चित रूप से नये नाम से विख्यात हो गयी, जिसके व्यक्ति अपनी अपनी विशेष प्रकृति, प्रवृत्ति, ज्ञान, और आचार विचार के अनुसार,

कभी क्षत्रियों की ओर, कभी वैश्यों की ओर, कभी शूद्रों की ओर, झुकते रहे। तथा इसी जाति की एक तीसरी शाखा, जिसने सर्वथा ब्राह्मणवृत्ति अङ्गीकार की, वह प्रायः "शाकद्वीपी" ब्राह्मण हो गयी।

इन्हीं भेदों के अनुसार समय समय पर पुराणों में भी अध्याय बनते गये। पर जब तक इनके बनाने वालों में अध्यात्मज्ञान की कला बाकी रही, तब तक कुछ उसकी भी लपेट ये लोग इन आख्यानों में रखते गये।

कहीं (वन्हिपुराण में) लिख दिया है,

शूद्रात् कनीयसी जातिरभवत् विप्रसेवकः।
ब्रह्मपादांशतो जन्म जातः कायस्थनामभृत ॥

अर्थात्, शूद्र से भी छोटी जाति, ब्राह्मणों की सेवा करने वाली, (जब ब्राह्मण नवीन "पुराण" लिखेंगे, तो यह लिखना आवश्यक ही है!), ब्रह्मा के पैर के बचे खुचे अंश से (क्योंकि पूरे पैर से तो शूद्र निकल ही चुके थे!) निकल पड़ी, और उसका नाम कायस्थ हुआ (क्यों यह नाम हुआ, "ब्रह्मदेवपादांशस्थ" नहीं, यह नहीं लिखा है!) अथ च, यह भी लिखा है,

मसीशायादीक्षिताय क्षत्रवैश्योपमाय च।

अर्थात्, मसी, रोशनाई का ईश, पर अ-दीक्षित उपनयनादि संस्कार रहित, क्षत्रिय और वैश्य के तुल्य। यह "पुराण" तब मिला होगा जब राजमंत्री के पद पर पहुँचकर किसी कायस्थ ने अपनी जाति के उत्पत्ति की खोज की होगी। पद्मपुराण, सृष्टि खंड में, कथा कुछ विस्तार से, और रस से भी, यों कही है,

अग्नं ध्यानस्थितस्यास्य सर्वकायाद्विनिर्गतः ।
दिव्यरूपः पुमान्, हस्ते मसीपात्रं च लेखनी ॥
चित्रगुप्त इति ख्यातो धर्मराजसमीपतः ।
प्राणिनां सदसत्कर्मलेख्याय स निरूपितः ॥
ब्रह्मणाऽतींद्रियज्ञानो देवाग्न्योर्यज्ञभुक् स वै ।
ब्रह्मकायोद्‌भवो यस्मात् कायस्थो वर्ण उच्यते ॥
नानागोत्राश्च तद्वंश्याः कायस्था भुवि संति वै ॥

अर्थात्, ब्रह्माजी ध्यान में मग्न हुए, उनके काय से, शरीर से, एक दिव्य पुरुष उत्पन्न हुआ, हाथ में क़लम दवात लिये हुए। ब्रह्माजी ने नाम उसका चित्रगुप्त रख दिया, और यमराज के पास, मुख्य कारकुन् की हैसियत से तैनाती कर दी। सब प्राणियों के सत् और असत् कर्म की, पुण्य और पाप की, बही लिखो। अतींद्रियज्ञान दिया, अग्नि तथा अन्य देवताओं के ऐसा यज्ञ में भाग दिया। ब्रह्मा के काय से उत्पन्न हुए इससे कायस्थ कहलाये। और उनके वंश का विस्तार पृथ्वी पर हुआ, और कई गोत्र हो गये।

भविष्य पुराण में यही कथा अधिक विस्तार से, भीष्म पुलस्त्य संवाद के रूप से, कही है। चातुर्वर्ण्य उत्पन्न करके ब्रह्मा समाधिस्थ हुए, थोड़ी देर बाद,

तच्छरीरान्महाबाहुः श्यामः कमललोचनः ।
लेखनीच्छेदनीहस्तो मसीभाजनसंयुतः ।
निःसृत्य दर्शने तस्थौ ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः ॥ इत्यादि

क़लम और क़लमतराश चाक़ू और रोशनाई की दवात लिये हुए ब्रह्मा के शरीर से ये निकले। और चार जातियाँ तो

एक एक अङ्ग से निकलीं, पर ये समग्र काय से निकले, तो औरों से अधिक संपूर्ण और उत्तम ही इनको समझना चाहिये। ठीक भी है, यदि एक ही "स्काइथ" वंश की शाखाएँ, शाक-राजपूत क्षत्रिय, तथा हिसाव-किताव-आदि-लेखन-दक्ष-वैश्य-वत् कायस्थ. तथा शाकद्वीपी ब्राह्मण भी, तथा शूद्रवत् साधारण बुद्धिवाले, सभी हैं। जिस समय यह पुराण लिखा गया उस समय "फौंटेन् पेन" का प्रचार नहीं था, नहीं तो, "फौंटेन्-पेन-विभूषित:" इतना ही लिख देने से सब काम चल जाता, अलग अलग कलम, चाकू, रौशनाई का नाम न लिखना पड़ता। कागज का किसी कारण से जिक्र नहीं किया है। आज काल मुन्शी जी कागज भी रखा करते हैं, अस्तु।

इन्होंने ब्रह्माजी से अर्ज की कि मेरा नाम रखिये। उन्होंने फर्माया,

> मच्छरीरात् समुद्भूत: तस्मात् कायस्थसंज्ञक: ।
> चित्रगुप्तेति नाम्ना वै ख्यातो भुवि भविष्यसि ॥
> धर्माधर्मविवेकार्थं धर्मराजपुरे सदा ।
> स्थितिर्भवतु ते वत्स ममाज्ञां प्राप्य निश्चलां ॥

मेरे शरीर से उत्पन्न हुए हो, इसलिये कायस्थ संज्ञा होगी, तुम्हारा विशेष नाम चित्रगुप्त संसार में प्रसिद्ध होगा। धर्मराज के यहाँ धर्म और अधर्म का विवेक करने के लिये तुम्हारा सदा वास होगा।

इनका वंश।

इनका वंश बहुत बढ़ा,

> चित्रगुप्तान्वये जाता: शृणु तान् कथयामि ते।

ओभट्टाः नागराः गौड़ाः श्रीवत्साश्चैव माथुराः ।
अहिफणाः सौरसेनाः शैवसेनास्तथैव च ॥

इत्यादि द्वादश "शुद्धवंशजाः" । आज काल एक गोत्र कायस्थों का अपने को "सकसेना" कहता है । अजब नहीं जो यह "शाक-सेना" का निकटतर रूप हो, जिसको नवीन पुराणकार ने "शैव-सेना" कर दिया है ।

बङ्गाल में घटकराम जी ने इस पुराण की पूर्ति कुल-दीपिका नाम ग्रन्थ से करके कायस्थ-वंश विस्तारक सत्तासी शङ्कतिकार लिखे हैं । इनकी उत्पत्ति प्रसिद्ध पांच कान्यकुब्जीय ब्राह्मणों के भृत्यों से कही है ।

वसुर्घोषो गुहो मित्रो दत्तो नागश्च नाथकः ।
दासो देवस्तथा सेनः पालितः सिंह एव च ॥

इत्यादि ।

महाराष्ट्र देश में प्रभु आदि कायस्थ जातियों की उत्पत्ति राजा चित्रसेन से कही जाती है । इन चित्रसेन को स्कंद पुराण की प्रतियों में कहीं चन्द्रसेन करके लिखा है ।

इनकी उत्पत्ति का दूसरा प्रकार ।

स्कंदपुराण का प्रकार, पद्म और भविष्य में कथित से भिन्न यह है । चन्द्रसेन राजा की गर्भवती भार्या ने परशुराम के भय से दाल्भ्य ऋषि के आश्रम में शरण ली । परशुराम खोजते हुए पहुँचे । दाल्भ्य से परस्पर नमस्कार निमन्त्रण हुआ । साथ ही भोजन हुआ । परशुराम ने कहा, जो माँगूं सो वर दीजिये । दाल्भ्य समझ गये । कहा, बहुत अच्छा,

पर जो मैं भी माँगूं वह आप भी दीजिए। बहुत अच्छा। तो माँगिये। चन्द्रसेन क्षत्रिय का गर्भस्थ पुत्र मुझको दीजिये। लीजिये, पर उसका प्राणदान आप मुझे दीजिये। मुश्किल हुई। समझौता हुआ। जीये तो सही पर क्षत्रियवृत्ति न करे, खड्ग न चलावै, लेखनी से और जिह्वा से युद्ध करै।

प्रार्थितश्च त्वया विप्र कायस्थो गर्भ उत्तमः।
तस्मात् कायस्थ इत्याख्या भविष्यति शिशोः शुभा॥

परशुरामजी को यह कैसे मालूम हो गया कि चन्द्रसेन की भार्या के गर्भ में पुत्र ही है, कन्या नहीं, ऐसी शंका करने का काम ही नहीं। परशुरामजी परशु भी चलाते थे और दिव्यदृष्टि भी चलाते थे।

कायस्थों की उपास्य देवता
बगलामुखी का अर्थ।

कायस्थों के लिये, पुराणों में, उपास्य देवता देवी का बगला-मुखी रूप विशेष करके कहा है। बगलामुखी का स्वरूप यह है कि वैरी की जिह्वा को एक हाथ से पकड़ लिया है और दूसरे हाथ से मुद्गर से उसे मार रही हैं। मामूली बातचीत में भी बड़े वावदूक के लिये कहते हैं कि, अजी, वे तो जबान पकड़ लेते हैं, मुंह बन्द कर देते हैं। जो लोग आजकाल का नया रोजगार, यानी वकालत का पेशा, करते हैं, उनके लिए यह गुण बहुत उपयोगी है। और,

जिनकी रही भावना जैसी।
प्रभु मूरति देखी तिन तैसी॥

जिसकी जो ही उत्कट इच्छा रहती है उसीके अनुकूल वह अपने इष्ट देवता का स्वरूप बना लेता है, और उसके ध्यान से अवश्य कुछ न कुछ उसके हृदय को बल मिलता है। बगलामुखी की उपासना के फल लिखे हैं।

वादी मूकति रंकति क्षितिपतिर्वैश्वानरः शीतति
क्रोधी शाम्यति दुर्जनः सुजनति क्षिप्रानुगः खंजति।
गर्वी खर्वति सर्वविच्च जड़ति त्वन्मंत्रणायंत्रितः
श्रीनित्ये बगलामुखि प्रतिदिनं कल्याणि तुभ्यं नमः॥
मंत्रं वादिनियंत्रणं त्रिजगतां जैत्रं च चित्रं च ते
त्वं नामग्रहणेन संसदि मुखस्तम्भो भवेद् वादिनाम्।
मातर्भंजय मे विपक्षवदनं जिह्वां चलां कीलय
ब्राह्मीं मुद्रय नाशयाशु धिषणां उग्रां गतिं स्तम्भय।
शत्रूंश्चूर्णय देवि तीक्ष्णगदया गौरांगि पीताम्बरे
विघ्नौघं बगले हर प्रणमतां कारुण्यपूर्णेक्षणे॥ इत्यादि

अर्थात् जो इनकी उपासना करेगा उसका प्रतिपक्षी दुश्मन यदि वादी है तो गूंगा हो जायगा, जमींदार राजा है तो रंक हो जायगा, आग है तो ठंढा पानी, क्रोधी है तो शांत, दुर्जन है तो सुजन, तेज दौड़ने वाला है तो लंगड़ा, गर्ववाला अभिमानी है तो खर्व छोटा दीन हो जायगा, अथकिम्, जो सर्वज्ञ है वह भी इन देवी के मंत्र से मंत्रित होकर जड़ मूर्ख हो जायगा। हे देवी, तू मेरे प्रतिवादी के मुख का स्तंभन कर दे, अथवा उसको तोड़ ही दे, जिह्वा में कील ठोंक दे, ब्राह्मी (ज्ञान वाहिनी नाड़ी) को मूंद दे, बुद्धि को नाश करदे, उग्रगति को बिलकुल रोक दे, शत्रुओं को गदा से चूर करदे, सब विघ्नों

को दूर करदे, हे करुणापूर्ण हृदये ! करुणापूर्ण हृदय का और इन सब कार्यों का क्या संबंध है, यह उपासक ही जानता होगा। "गरज़मन्द बावला"। दुर्जन को सज्जन बनादे, इतना ही अंश तो इस प्रार्थना का शुद्ध सात्विक है, और इसमें सब कुछ दूसरी प्रार्थनीय बातों का भी तात्त्विक लाभ सध जाता है।

यदि दो उपासक एक ही देवी के आपस ही में भिड़ जायँ, तो देवी को भी कठिनाई हो कि किसकी जय करावें और किसकी पराजय। प्रायः जो अधिक पूजा पाठ जप आदि रूपी दाम दे उसीकी नीलाम में जय! प्रायः देख पड़ता है कि जब भिन्न धर्म वाले आपस में लड़ते है, अथवा दो राजा या राष्ट्र आपस में लड़ते हैं, तो दोनों ही अपने अपने को परमेश्वर का एक मात्र अढ़तिया गुमाश्ता ठेकेदार बताते हैं। यह सब केवल राजस तामस बुद्धि का उद्गार है। इसलिये "क्रोधी शाम्यति दुर्जनः सुजनति" यही प्रार्थना सर्वाभीष्ट होने योग्य है। और वाग्मिता, जो बगलामुखी का आध्यात्मिक अर्थ है, वह प्रशंसनीय गुण है ही। "सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।"

चित्रगुप्तजी की पूजा का फल।

यह तो हुए बगलामुखी देवी की पूजा के फल। श्री चित्रगुप्तजी की पूजा के भी विचित्र फल कहे हैं। सौदास राजा की कथा पुराणों में कही है। सौदास राजा से और उनके पुरोहित वसिष्ठजी से अनायास ही लड़ाई हुई। राजा का कोई कसूर नहीं था। जब वसिष्ठजी राजा के घर आये, और उनके लिये दस्तूर के अनुसार मांस पकाया गया, तो एक दुष्ट राक्षस ने, लड़ाई लगवाने के लिये, बावर्चीखाने

में नरमांस छल से पकवा दिया। वसिष्ठजी के आगे परोसा गया। उन्होंने दिव्यदृष्टि से पहिचाना कि नरमांस है, पर अफसोस कि उसी दिव्यदृष्टि से यह नहीं पहिचाना कि एक दुष्ट राक्षस का काम है। जल्दबाजी से राजा सौदास को शाप दे दिया कि तू राक्षस होजा और नरमांस खा। राजा को क्रोध हुआ, कि विना दोष ऐसा शाप क्यों दिया, और उन्होंने भी अपने हाथ में जल उठाया, वसिष्ठ को प्रतिशाप देने के लिये। पर फिर सोचा कि नहीं, ये अपने किये का फल स्वयं पावेंगे। जल अपने पैर पर डाल लिया। पैर काले हो गये। कल्मापपाद नाम भी हो गया। क्षत्रिय ने ब्राह्मण से अधिक क्षमा, विचार, धैर्य दिखाया। फिर वसिष्ठ के शाप से राजा के ऊपर राक्षसी पागलपन सवार हुआ। मांस पकवाने, खाने, खिलाने वालों में, जल्दबाजी प्रमाद उन्माद का सम्भव होना क्या आश्चर्य है। होना ही चाहिये। वसिष्ठजी को अतित्वरा और अवि. चारित कार्य का फल मिला। पागल राजा उनके सौ लड़कों को मारकर खा गया। राज में बड़ा उपद्रव हुआ। वह समय ही बड़ा क्रूर और अद्भुत इस भारतवर्ष में हो गया है। क्षत्रियों और ब्राह्मणों में बड़े युद्ध हुए। "मिलिटरिस्ट-सा-र्थटिस्ट," "सोल्जर-प्रीस्ट) सौदास-वसिष्ठ, वसिष्ठ-विश्वामित्र, आडी-बक. जमदग्नि-कार्त्तवीर्य, कार्त्तवीर्य-परशुराम, भार्गव-हैहय, भार्गव-तांहजय, आदि के नाम से ये घोर संग्राम प्रसिद्ध हैं, जो रामराज्य स्थापन होने पर शांत हुए। यह राजा सौदास कभी घूमते फिरते एक स्थान पर जा निकले, जहाँ चित्रगुप्तजी की पूजा

होती थी। उस समय कुछ मन शांत था, पूजा में शरीक हो गये। उनका मन्त्र जपा।

मसीभाजनसंयुक्तः सदा चरसि भूतले।
लेखनीछेदनीहस्तः चित्रगुप्त नमोऽस्तु ते॥
चित्रगुप्त नमस्तुभ्यं नमस्ते धर्मरूपिणे।
भव त्वं पालको नित्यं नमः शांति प्रयच्छ मे॥

कुछ दिनों पीछे जब राजा का शरीर छूटा, तो यमदूत यमधानी को ले गये। मुकद्दमा पेश हुआ। चित्रगुप्तजी से इशारे से बात हुई। राजा ने याद दिलायी कि मैंने आपकी पूजा की है। फिर क्या कहना है। चित्रगुप्त जी ने ऐसी खूबी से चुन चुन के मिस्ल के कागज सुनाये कि धर्मराज ने अपने पुलिस वालों को ही खूब डांटा, कि तुम सब झूठे मुकद्दमे बनाते हो, और हुक्म दिया कि इनको फ़ौरन् विष्णुलोक में ले जाओ। पीछे से चित्रगुप्त ने, मुँह लगाए ढीठ तो थे ही, धर्मराज से अपनी करतूत कबूल भी दी। वे भी कुछ खफा होने की बेफ़ायदा कोशिश करके हँस पड़े। आज काल भी दफ्तरों में और कचहरियों में अक्सर ऐसा होता ही रहता है। जो सेक्रेटरी लोग चाहते हैं वही मिनिस्टर महाशय को, अथच गवर्नर और गवर्नरजनरल महाशय को भी, करना पड़ जाता है। सर्वांशे उनकी आँखों में धूल डाल देते हैं। पर यमराज धर्मराज जो चित्रगुप्त से अधिक खफा न हुए, उसमें विशेष कारण था, यह आगे कहा जायगा। वे ऐसे कान के पतले, आँख के कमजोर, मोम की नाक वाले नहीं हैं। यम हैं, अन्तर्यामी हैं, चित्रगुप्त के भी यमयिता हैं, चित्रगुप्त भी उन्हीं के एक रूपान्तर ही हैं।

कायस्थ जातियुक्त समस्त हिन्दू-समाज के ह्रास का हेतु ।

चित्रगुप्तजी के वंशों का वर्णन तो ऊपर किया । आज काल के संयुक्तप्रान्त में तथा बङ्गाल में कायस्थ वंश अधिकतर पाया जाता है । प्रायः बीस वर्ष हुए श्री शारदाचरण मित्र ने बड़ा यत्न किया कि दोनों प्रान्तों की शाखाओं का परस्पर खान-पान शादी ब्याह हो । पर कृतार्थ नहीं हुए । हमारे देश के दुर्भाग्य अभी बहुत बलवान हैं । जिस देश के, जिस समाज के, धर्मरक्षकों की यह घोषणा हो कि धर्म में बुद्धि का स्थान नहीं, ऐसे बुद्धिद्रोही बुद्धिहीन देश और समाज और धर्म का भाग्य क्यों न फूटे ।

जो अकेले रोटी खायँगे वे परायों की जूती भी अकेले ही खायँगे ।

आज बारह सौ वर्ष से यह हिन्दू-समाज और हिन्दू-धर्म परायों की जूतियाँ खाता चला आता है, और सिकुड़ता ही जाता है, पर अब भी इसकी बुद्धि नहीं सँभलती । परस्पर घृणा से ही मरा जा रहा है । यह नहीं समझ सकता कि जो अकेले रोटी खायगा, उसको पराये की जूती भी अकेले ही, परस्पर प्रीतिहीन अतः निस्सहाय होकर, खानी पड़ेगी । हम सब इसी बहादुरी में चूर और मस्त है कि मैं तो अपने सगे भाई का भी छूआ पानी नहीं पीता । इस प्रान्त के कायस्थों में, जैसे और जातियों में, अजब अजब रस्में चल पड़ी हैं ।

अनन्तजाति, अनन्त आचार, परस्पर विरुद्ध, सभी सनातनधर्म ।

यदि हिन्दू कहने कहलाने वाली हज़ारों जाति उपजातियों की अलग अलग विचित्र विचित्र रीति रस्मों का, आचार-विचारों का, संग्रह करके छापा जाय, तो स्यात् इस टिड्डी दल, इस भेड़ी धसान, की अन्धांध आंखें कुछ खुलें। जैसे "उघरे पटल परसुधर मति के," स्यात् उनकी बुद्धि को वह फल हो जो देशाटन से होता है। स्यात् वे समझने लगें कि कितना अंश अकृत्रिम अध्यात्म बुद्धि-सम्मत आचार है, और कितना अधिकतर कृत्रिम, बनावटी, मिथ्या, कपोल-कल्पित, और अब इस समय में परम हानिकारक डोकरिया पुराण है ।

वर्णोत्कर्ष का अर्थ ।

कुछ दिनों से संयुक्त प्रान्त के कायस्थों में यह भाव उठा है कि हम लोग क्षत्रिय हैं और समझे जायँ। कुछ लोगों का यह विचार है कि इस प्रकार से जातियों को अपना उत्कर्ष करना उचित और स्वाभाविक है। कुछ जातियाँ, जो "नीची" समझी जाती हैं, अपने को "ब्राह्मण" बना रही हैं, कुछ "क्षत्रिय," कुछ "वैश्य," इत्यादि। पर ऐसे विचार में, जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, भारी भ्रम है। इस विचार में वर्णों की उच्चावचता, जन्मसिद्धता, अपरिवर्त्तनीयता, यह सब बात मान ली जाती है। इस विचार से यह यत्न नहीं किया जाता कि एक या कई आदमी पहिले एक वर्ण के थे, अब अपने कर्मों से २ होंने अपने वर्ण का इसी जन्म में

परिवर्त्तन कर लिया, और अपने को दूसरे वर्ण का बना डाला। वल्कि यह कहा जाता है कि सदा काल से हम और हमारे पुरखा, और पुरखों के पुरखा (पूर्व पुरुष) इस दूसरी जाति ही के थे और हैं जो ऊँची है, और उस नीची जाति के न थे न हैं जिसके नाम से हमारी प्रसिद्धि है। यह भाव सर्वथा हानिकारक, राजस-तामस-स्पर्धावर्धक, सामाजिक-कार्यबाधक है। वर्णव्यवस्था का अर्थ, सबके सुविधा सहायता के हेतु से, समाजिक-कर्म का विभाग, "कर्माणि प्रविभक्तानि," (डिविजन् आफ लेबर) है। दलगत या व्यक्तिगत उच्चत्वाभिमान, उत्कृष्टत्व-विशिष्टत्वाभिमान, उसका अर्थ नहीं। ऐसी वर्णव्यवस्था व्यक्तिशः गुणकर्मानुसार हो हो सकती है, और होनी चाहिये। जो पोथी पत्रा का, ज्ञान-संग्रह-प्रचार का, "ब्रह्मसंचय ब्रह्मवितरण" का काम करे, अध्यापन, याजन, प्रतिग्रह वृत्ति से जीविका करे, उसका नाम ब्राह्मण। जो सिपाहीपन, दुर्बल-रक्षण, "क्षतात् त्राण" करै, और जमींदारी आदि वृत्ति से जीविका करे, उसका नाम क्षत्रिय। जो अन्न वस्त्रादि का, धन धान्य का, संचय-वितरण करे, कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यादि वृत्ति से जीविका करै, उसका नाम वैश्य। जो औरों की सेवा सहायता करके उनके कहने से "आशु द्रवति" जल्दी दौड़े, उनके "शुचं द्रावयति," शोक को दूर करै, उनसे अन्न वस्त्र, भृत्ति रूप से, भरणार्थ, पावै, उसका नाम शूद्र। चाहे जन्म कैसे ही हुआ हो। पर यह वर्णतत्त्व, वर्णरहस्य, वर्णोपनिषत्, वर्णमूल, वर्णसिद्धान्त, तो सामुदायिक नामपरिवर्त्तन से सफल नहीं होता।

यदि समुदाय का ही नाम बदलना है, तब तो वह प्रकार सबसे उत्तम है जो मेरे ज्येष्ठ भ्राता, श्री गोविन्ददासजी कहा करते थे। अर्थात् सब "ब्राह्मण" बन जायँ। कनौजिया, सनाढ्य, काश्मीरी, गुजराती, महाराष्ट्र, यदुवंशी, सोमवंशी, चौहान, शीशोदिया, श्रीवास्तव, माथुर, अग्रवाल, दूसवाल, माहेश्वरी, आभीर, कुंभकार, मालाकार, चर्मकार आदि ब्राह्मण। यों राष्ट्रीय जाति नाम तो एक हो जायगा, तथा स्यात् एकता का भाव भी फैलेगा। किन्हीं स्मृतियों में दशविध ब्राह्मण, जिनमें क्षत्रिय ब्राह्मण, वैश्य ब्राह्मण, शूद्र ब्राह्मण, भी शामिल हैं, कहे भी हैं। पर संदेह यह है कि यदि ऐसा लोगों ने अपने के कहना आरंभ किया, और सबने अपने के "उच्चतम" जाति मान भी लिया, तो भी परस्पर संघर्ष, द्वेष, ईर्ष्या कैसे मिटेगी। कर्म विभाग और वृत्ति विभाग, जो वर्ण विभाग का अत्यावश्यक अंग है, कैसे सधैगा ?

इसलिये मैं तो चित्रगुप्त जी से आज उनकी पूजा के दिन हृदय से यही प्रार्थना करता हूँ कि वह सात्विक, आध्यात्मिक बुद्धि दीजिये, जिससे आपके सच्चे स्वरूप को पहिचान कर, यह भारतीय महा-जन समुदाय, जो वसिष्ठ-सौदास के अन्योऽन्यकृत पागल-पन से अंधा और अति दुर्दशा-ग्रस्त हो रहा है, फिर आपके हृदयस्थ गुप्तचित्र की पूजा उपासना करे, सद्बुद्धि पावे, और नरक से बचकर विष्णु लोक के सुख का अनुभव करे।

चित्रगुप्त का आध्यात्मिक अर्थ।

ऐसी बुद्धि के जागने के लिये चित्रगुप्त का आध्यात्मिक अर्थ जानना उचित और उपयुक्त है।

जैसे माया शब्द, पदों का व्यत्यय करके बना है, वैसे ही चित्रगुप्त शब्द भी। "या-मा" जो नहीं है, जो असत् होकर भी सत् के ऐसी भासती है, वह माया। तथा गुप्तचित्र का ही नाम चित्रगुप्त।

महाभारत के अनुशासन पर्व के १९३ अध्याय में चार पाँच श्लोक मिलते हैं। जैसे खान में बहुत सा मिट्टी पत्थर खोद कर थोड़ा-सा, सोना चाँदी, जवाहिर मिलता है, वैसे ही इतिहास पुराण में बहुत से आख्यान माहात्म्यादि में से थोड़े से अध्यात्म-रहस्य विषयक श्लोक मिल जाते हैं। यम कहते हैं,

किंचिद् धर्मं प्रवक्ष्यामि चित्रगुप्तमतं शुभम्।
श्रूयतां चित्रगुप्तस्य भाषितं मम च प्रियम्॥
रहस्यं धर्मसंयुक्तं शक्यं श्रोतुं महर्षिभिः।
श्रद्दधानेन मर्त्येन आत्मनो हितमिच्छता॥
नहि पुण्यं तथा पापं कृतं किंचिद् विनश्यति।
पर्वकाले च यत् किंचिदादित्यं चाधितिष्ठति॥
प्रेतलोकं गते मर्त्ये तत्तत्सर्वं विभावसुः।
प्रतिजानाति पुण्यात्मा तच्च तत्रोपयुज्यते॥

अर्थात् जो कुछ कर्म संसार में होता है, पुण्य अथवा पाप अथवा अन्य, उस सबका चित्र सूर्य की विभा में, प्रभा में, सदा गुप्त, रक्षित, बना रहता है। विभा है वसु, धन, जिनका,

वे ही विभावसु, ज्योतिर्मय सूर्य द्युस्थानी, तथा विद्युत् अन्तरिक्ष स्थानी, तथा अग्नि भूस्थानी, एक ही के तीन रूप। यह रहस्य वे लोग खुब समझ सकते हैं जो आत्मा पर श्रद्धा करते हैं, सब लोक का आध्यात्मिक हित चाहते हैं, अतएव महर्षिवत् हैं।

इसी भाव के श्लोक आश्रमवासिक पर्व, अ० १६, में भी हैं।

अविप्रणाशः सर्वेषां कर्मणामिति निश्चयः।
कर्मजानि शरीराणि शरीराकृतयस्तथा ॥
महाभूतानि नित्यानि भूताधिपतिसंश्रयात्।
तेषां च नित्यसंवासो न विनाशो वियुज्यताम् ॥

संसार में सब वस्तु, पञ्चभूत, द्रव्य, गुण, कर्म, चित्त-वृत्ति, आदि, नश्वर और अनित्य होती हुई भी, नित्य इन अर्थों में है कि उनका संश्रय आश्रय भूताधिपति परमात्मा पर है। जो नित्य पर आश्रित है वह अनित्य कैसे? जो वस्तु नित्य से छू गई, नित्य सनातन शाश्वत आत्मा परमात्मा के ध्यान में आ गई, वह भी नित्य हो गई, चाहे कैसी ही अनित्य हो। पर अनित्य तो प्रत्यक्ष है। इस विरोध का परिहार, इन प्रतिद्वन्द्वियों का समन्वय कैसे? तो स्मृतिद्वारा। चेतयति, स्मरति, इति चित्तं। ब्रह्मा का अर्थ महद्-बुद्धि। जिस पदार्थ को सांख्य वेदान्त में त्रिगुणात्मक बुद्धितत्त्व, महत्तत्त्व के नाम से कहा है उसी का पौराणिक रूपक ब्रह्मा-विष्णु-शिव की त्रिमूर्ति है।

मनो महान् मतिर्ब्रह्मा विष्णुः शम्भुश्च वीर्यवान्।
पर्यायवाचकैः शब्दैर्महानात्मा विभाव्यते ॥

(शान्तिपर्व)

उपलब्धिस्तथा ब्रह्मा पूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः ।
प्रज्ञा चितिः स्मृतिः संविद् विपुरं चोच्यते बुधैः ॥
विद्यते स च सर्वास्मिन् सर्वं तस्मिश्च विद्यते ।
तस्मात्संविदिति प्रोक्तो महान् वै बुद्धिमत्तरैः ॥
(वायुपुराण)

यही महद्-बुद्ध्यात्मक ब्रह्मा, महानात्मा, समष्टिबुद्धि, पूर्व कल्प की स्मृति के अनुसार, नयी सृष्टि की कल्पना करती है। वही बात फिर फिर उपजती है, मिटती है। बात वही रहती है। यह अनादिप्रवाहसत्ता ही अनित्य की नित्यता है। परमात्मा की स्मृति में, महद्बुद्धि में, अतएव प्रत्येक जीव के चित्त में, हृदय में, सब वेद, सब ज्ञान, सदा बना रहता है। यही तथ्य गुप्तचित्र अथवा चित्रगुप्त है। "फोटोग्राफ", "फोनोग्राफ", "सैनेमा", आदि, इस वैज्ञानिक तथा दार्शनिक रहस्य के प्रत्यक्ष उदाहरण और प्रमाण हैं। पाश्चात्य वैज्ञानिकों के मत, "इनडिस्ट्रक्टिबिलिटी आफ माटर्", "कान्सर्वेशन् आफ एनर्जी", "ट्रान्सम्युटेशन् आफ् फोर्स एण्ड फार्म", अर्थात् शक्ति-आत्मक और द्रव्य-आत्मक मूल-प्रकृति के रूपों का परिवर्तन परिणमन विकरण होता है, मूल का नाश नहीं होता—ये मत भी इसी रहस्य के प्रकाशक हैं। गीता का श्लोक प्रसिद्ध है,

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ॥

उपनिषत् के बहुधा वाक्य हैं, "स सर्वज्ञः, सर्ववित्, सर्व-साक्षी", इत्यादि। थियासोफी की पुस्तकों में इस अनादि अनन्त चित्र को "आस्ट्रल लैट्" और "आकाशिक रेकर्ड"

आदि नाम से कहते हैं। पाश्चात्य वैज्ञानिक लोगों का कहना है कि "लैट्" अर्थात् ज्योति एक सेकंड में एक लाख छियासी हजार मील की गति से बराबर दौड़ती रहती है, और प्रतिक्षण प्रत्येक वस्तु के फोटोग्राफ चित्र को चारों ओर ले जा रही है। दूर के तारा में रहने वाले जीव इस क्षण में, यदि उनकी दृष्टि ऐसी तीव्र हो तो, इस पृथ्वी की उस अवस्था का दृश्य देखेंगे जो कई वर्ष पहिले की हो। इत्यादि।

परमात्मा के उत्कृष्टतम प्रत्यक्ष स्वरूप, सविता, सूर्य, सावित्री गायत्री के अधिष्ठाता, हैं। "सर्वप्रवह्लिकानामाश्रयः" (निरुक्त) अर्थात् सब अद्भुत आश्चर्य उनमें हैं। "अप्सरा" "गन्धर्व" आदि सब सूर्य की किरणों के ही भेद हैं। "आपः सरंति आभिरिति अप्सरसः सूर्यस्य रश्मयः। गां धयंतीति गंधर्वाः सूर्यस्य रश्मयः।" जो पानी खींचें वे किरणें अप्सरा। जिनसे दिव्य सूक्ष्म सुन्दर राग निकले वे किरणें गंधर्व, इत्यादि।

आश्चर्याणामनेकानां प्रतिष्ठा भगवान् रविः।
यतो भूताः प्रवर्त्तंते सर्वे त्रैलोक्यसंश्रयाः॥

(म० भा०, शांति, अ० ३७२)

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।
त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वमेव प्रत्यक्षं विष्णुरसि।
त्वमेव प्रत्यक्षं रुद्रोऽसि। (उपनिषत्)

सब भूत सूर्य से ही निकलते हैं। सूर्य ही प्रत्यक्ष ब्रह्मा हैं, हिरण्यगर्भ हैं, विष्णु हैं, शिव हैं। सब सौर सम्प्रदाय की स्मृतिरूप, बुद्धिरूप हैं। जैसे एक व्यक्ति को अपने पाप याद

करके कभी न कभी अवश्यमेव पश्चात्ताप अपनी स्मृति के द्वारा ही होता है, जैसे पुण्य का स्मरण करके वैसे ही पश्चाद्धर्ष होता है, वैसे इन जगत्स्मृतिरूप देवता के द्वारा दंड और पुरस्कार भी सूक्ष्म स्थूल शरीर में जीव को मिलता है। इसका उपबृंहण तो बहुत है पर थोड़े में सूचनामात्र यहाँ की जा सकती है।

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
स्वयं कृतं स्वेन फलेन युज्यते शरीर हे निस्तर यत् त्वयाकृतम्॥
(गरुड़पुराण)

इसका भी अर्थ यही है कि जैसे ध्वनि की प्रतिध्वनि होती है, बिम्ब का प्रतिबिम्ब होता है, वैसे ही अपने किये कर्म का, पुण्यात्मक वा पापात्मक क्रिया वा क्षोभ की, अन्तरात्मा की प्रेरणा से ही, प्रतिक्रिया प्रतिध्वनि प्रतिक्षोभ होता है। उसका भी मूल कारण यही है कि सर्वव्यापकआत्मा एक है, इसलिये जो दुःख इस बुद्धि से दिया जाता है कि दूसरा कोई है, वह, दूसरा कोई वस्तुतः न होने से, अपने आपको वापस आता है।

कानून जानने वाले लोगों का कहना है कि हर कानून के लिये "सैन्क्शन", नियंता, निग्रहीता, बलात्कारक नियोजक शक्ति, प्रतिभूः, अर्थात् दंड, चाहिये। यह शक्ति कई प्रकार की होती है। सामाजिक—"परस्परभयात्केचित् पापाः पापं न कुर्वते"। राजकीय, धार्मिक, अथवा कानूनी—"राजदण्डभयात् केचित पापाः पापं न कुर्वते"। पारलौकिक—"यमदण्डभयात् केचित् पापाः पापं न कुर्वते"। पर इन सबका मूल प्रवर्त्तक प्रयोजक आत्मा ही है, "सर्वेषामेव दण्डानामात्मा मूलप्रयोजकः"।

वेद के वाक्य, "अग्ने नय सुपथा राये," "अग्निमीळे पुरोहितं," "अग्न आयाहि वीतये", "अग्निर्वै देवानां मुखं," ये सब इसो ज्योतारूपी आत्मा के द्योतक अस्ल में हैं। बाह्य अग्न्यादिक भी आत्मस्वरूपत्वेनैव अभिलपित हैं। "अग्रे नयति" इति अग्निः। इसीलिये पद्मपुराण के श्लोक में चित्रगुप्त के लिये कहा है "अतींद्रियज्ञानी देवाग्-योर्यज्ञभुक् स वै"। यमराज धर्मराज जो पुण्यापुण्य का फलदान करते है वे सूर्य के पुत्र इसी कारण से हैं कि वे भी सूर्य के रूपांतर ही हैं।

न यमं यम इत्याहुरात्मा वै यम उच्यते।
आत्मा संयमिता येन यमस्तस्य करोति किम्॥

यम को यम नहीं कहते, आत्मा ही का नाम यम है। जिसने आत्मा का संयमन कर लिया उसका बाहिरी यम क्या कर सकता है?

यम उवाच

यमैश्च नियमैश्चैव यः करोत्यात्मसंयमम्।
स चादृष्ट्वा तु मां याति परं ब्रह्म सनातनम्॥

यम कहते हैं कि जो यम नियमों से आत्मसंयम करता है वह मेरे पास आये बिना, मुझको देखे बिना, सनातन ब्रह्म में लीन हो जाता है।

चित्रगुप्त जो ब्रह्मा अर्थात् सूर्य के काय से उत्पन्न होकर यम के मुख्य लेखक हैं, उनका भी अर्थ यही है। इसीलिये उत्तरगीता में कहा है,

कायस्थोऽपि न कायस्थो कायस्थोऽपि न जायते।
कायस्थोऽपि न भुंजानः कायस्थोऽपि न बाध्यते॥

एक ही देव के सब देव रूपांतर हैं, उसीसे प्रकट होते हैं, उसीमें लीन हो जाते हैं। दुर्गासप्तशती में इसका रूपक बहुत अच्छा बाँधा है। अस्तु देवी चेतना, चित्, चिति है, अर्थात् आत्मा अथवा आत्मबुद्धि है।

या देवी सर्वभूतेषु चेतनेत्यभिधीयते ।
चिद्रूपेण च या कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत् ॥

चयनात्, सर्वभावानां सर्वत्र सर्वदा संचयनात्, चित्। चितेः आविष्कारस्थानं चित्तं।

यत् तत् सत्वगुणं स्वच्छं स्वांतं भगवतः पदम् ।
यदाहुर्वासुदेवाख्यं चित्तं तन्महदात्मकम् ॥
(भागवत)

स्वांतं हृन् मानसं मनः (अमर कोष)।

अधिभूतस्वरूपेण तस्यैव महान् इति संज्ञा, अध्यात्मरूपेण चित्तं, उपास्यरूपेण वासुदेवः, अधिष्ठाता तु तस्य क्षेत्रज्ञः (चितिः)। (श्रीधरी टीका)

सब अनंत भावों का उसमें सदा संचय बना रहता है इसलिये उसको चित्-शक्ति कहते हैं। उसके विशेष आविष्कार के स्थान का नाम चित्त। स्वांत, हृन्, मानस, मन, ये भी उसी चित्त के नामांतर हैं। वही पदार्थ अधिभूतरूप से महान्, अध्यात्मरूप से चित्त, उपास्यरूप से वासुदेव कहलाता है। सबका अधिष्ठाता क्षेत्रज्ञ चित् है।

डाक्टरी किताबों में ऐसा वर्णन मिलता है कि कभी कभी आदमी डूब गये हैं, समझा गया कि मर गये। बहुत देर के बाद चिकित्सकों के यत्न से फिर होश में आये। उन्होंने

अपना अपना अनुभव कहा है। एक क्षण तो भारी पीड़ा हुई। ऐसा जान पड़ा कि मस्तिष्क में आग लग गयी। इसके बाद बेहोशी और शांति। फिर अपने जीवन का समस्त इतिवृत्त, जैसे "सेनेमा" में, आँख के सामने आया। फिर बेहोशी हो गयी। फिर इस संसार में पुनर्वार जागरण हुआ, और मर कर जीये। यदि न लौटते तो जीवन के इतिवृत्त में से पुण्य और पाप की मीज़ानें लेकर प्रेतलोक और पितृलोक में फल का अनुभव करके दूसरा जन्म यहाँ ले.।

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरं।
तं तमेवैति कौंतेय सदा तद्भावभावित॥

जैसे दिन भर काम करके सोने के समय कामकाजी आदमी दिन के काम की उद्धरणी करके कल सवेरे क्या करूंगा यह विचार कर सो जाता है, और रात्रि में स्वप्न तरह तरह के देख कर सवेरे उठकर वही पूर्व विचारित काम आरम्भ करता है. वही दशा मरण, तदनन्तर सूक्ष्मलोकानुभव, और पुनर्जन्म की, बृहत्परिमाण से है। "स्मरन्" शब्द यहाँ भी गीता के श्लोक का स्मरणीय है। चेतयति, स्मरति। चित्रगुप्त का चित्र भी प्रायः चित् का ही रूपान्तर होगा।

चित्रगुप्त की व्याख्या सूफियों ने भी बहुत अच्छी की है।

लौहि महफ़ूज़स्त दर् मानी दिलत्।
हर् चि मी ख़ाही शवद् ज़् हासिलत॥
दर हक़ीक़त् ख़ुद तुई उम्मुल् किताब।
ख़ुद ज़ि ख़ुद आयाति ख़ुद रा बाज़ याब॥

"लौहि महफूज़", छिपा हुआ चित्रपट, हिफाज़त से महफूज़ गुप्त, रक्षित—यह तो तुम्हारा दिल, तुम्हारा हाफ़िज़ा, तुम्हारी स्मृति, चित्त ही है। जो कुछ चाहो सब इसीसे तुमको मिल सकता है। सब किताबों की माता (सर्वज्ञानमय वेद की माता, अक़्लि-कुल) तुम आप ही हो। अपने आपे के सम्बन्धी आयतों को, सूक्तों को, ऋचाओं को अपने आपे में से, आत्मा में से, ही खोज निकालो। मनुष्य का स्मृति, मनुष्य का हृदय, चित्त, ही तात्त्विक वास्तविक आध्यात्मिक 'महाफिज़, दफ्तर', 'रेकार्ड कीपर', मूल चित्रगुप्त है।

यह जो व्याख्या की गयी इसका यह मतलब न समझना चाहिये कि तत्तद्भावाभिमानी, तत्तद्भूताभिमानी, परमात्मा की तत्तत्कला के अभिव्यंजक, व्यक्तिरूप मूर्त देवता नहीं ही हैं। यह मतलब नहीं है। "आत्मन देवताः सर्वाः", वैसे ही "आत्मैव मानवाः सर्वे" भी। पर मनुष्य के व्यक्तित्व और मूर्त्तत्व में और देवों के मूर्तत्व व्यक्तित्व में भेद है। उसके विस्तार में पड़ने का यह अवसर नहीं। निष्कर्ष यह कि सब से अधिक उपयोगी मूल अर्थ चित्रगुप्त का आध्यात्मिक है।

यदि चित्रगुप्त का तात्त्विक स्वरूप ऐसा है, तो सौदास राजा का उनकी पूजा अर्चा करके धर्मराज यमराज से विष्णुलोक पाना कुछ अनुचित नहीं हुआ। रिश्वत उत्कोच की बात नहीं हुई, प्रत्युत उचित ही हुआ। जिसने चित्रगुप्त के वास्तविक रूप को पहिचान कर उनकी भक्ति की, उसने सब पापों के पश्चात्ताप, प्रख्यापन, और प्रायश्चित्त के मार्ग पर पैर धरा। और गीता में कृष्ण ने कहा ही है कि वैसा भी

दुराचारी हो, पर पश्चात्ताप, प्रख्यापन, प्रायश्चित्त करके "मैं" की, आत्मा की, अनन्यभक्ति करै, तो जानो कि वह साधु हो गया, अब उसका व्यवसाय, निश्चय, पुण्यात्मक ही है। इसलिये, हे अंतर्यामी स्वरूप, सबका हाल जानने वाले, चित्रगुप्त ! आपको नमस्कार है। आप सबके काय के भीतर स्थित कायस्थ हो, सबके साक्षी हो, विचित्र लेखक हो, सब वस्तुओं, कार्यों, अनुभवों के अनंत चित्रों को सदा सुरक्षित रखते हो, यम के हृदयरूप हो, यम का सब कार्य करते हो, सबके पालक हो, आपको पुनर्वार नमस्कार है, आप सबको शांति दो।

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मंतव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
चित्रगुप्त नमस्तुभ्यमात्मस्वान्तस्वरूपिणे।
गुप्तसर्वस्वचित्राय सर्वान्तर्यामिणे नमः ॥
कायस्थिताय सर्वेषां साक्षिणे सर्वकर्मणाम्।
लेखकाय विचित्राय यमकार्यकराय च ॥
यमस्य हृदयायैव नमस्ते धर्मरूपिणे।
सर्वेषां पालकोऽसि त्वं नमः शान्तिं प्रयच्छ मे ॥

॥ ॐ ॥

॥ ॐ ॥

सब धर्मों (मज़हबों) की एकता ।

(धर्मत्रय अर्थात् हिन्दू-मुस्लिम-ईसाई धर्मों का समन्वय ।

तथा

नीतित्रय अर्थात् असहयोग—सहयोग—प्रति सहयोग का ।)

[बनारस में तारीख १३–१४–१५ अक्टूबर सन १९२३ को संयुक्तप्रान्त (मुमालिक मुत्तहिदा) की राजनीतिक (सियासती) कान्फ़रेन्स हुई । स्वागत-समिति (कमेटी इस्तक़्बालिया) के सभापति (सदर) की अवस्था (हैसियत) से श्रीभगवानदास ने व्याख्यान (ख़ुतबा) किया । उसका आशय (मज़मून) यह है ।]

ॐ परमात्मने नमः ।

बिस्मिल्लाह अर्रह्मानर्रहीम ।

सज्जनो,

मैं स्वागतकारिणी समिति की ओर से आप लोगों को हृदय से धन्यवाद देता हूँ, दिल से आप लोगों का शुक्रिया अदा करता हूँ, कि आप लोग तकलीफ उठाकर यहाँ पधारे हैं। हम लोगों से आपकी सेवा कुछ नहीं बन सकी है, आपको आराम देने का हम लोग कुछ इन्तिजाम नहीं कर सके हैं, इसका हमें बहुत अफसोस है, और इसके लिये हम आपसे माफ़ी माँगते हैं ।

क्षमापन ।

इन्तिजाम अच्छा न हो सकने में कई कारण हैं । न्यौता तो ज़रूर परसाल से ही दिया हुआ था, पर आप जानते हैं कि काम की भीड़ कैसी रही है । गया कांग्रेस के बाद यहाँ म्युनिसिपल् इलेक्शन् हुए, उसके बाद बोर्ड के काम का बोझ नये मेम्बरों पर, जो कांग्रेस कमेटी के भी कार्य-कर्त्ता थे, बहुत बड़ा आ पड़ा, और मेरे ऊपर चेयरमैन का काम रख दिया गया । कौंसिल के मसले पर जो मतभेद सारे देश में हो रहा था उससे भी बड़ी परीशानी थी और कांग्रेस के काम से जनता का मन उचट रहा था । बम्बई में आल्-इंडिया-कमेटी बैठी, एक राय क़ायम हुई, उसको उलटने के लिये नागपुर में कमेटी बैठी, दूसरी राय क़ायम हुई, उसको उलटने के लिये (विशाखपत्तन) विजागापटाम में बैठक हुई, मगर स्पेशल कांग्रेस करने की राय ही क़ायम रही । कहाँ हो, इसमें दिक़्क़तें

पेश आईं। बम्बई में बैठक करने की बात हुई। फिर बनारस में बैठक करने की भी एक बार बात हुई। फिर इलाहाबाद में। अन्त में दिल्ली में जलसा करना निश्चय हुआ। इसी ओर सबका मन लगा हुआ था कि देखें दिल्ली में क्या होता है। बनारस के आदमियों ने दिल्ली जाने के पहिले प्रांतीय कान्फरेन्स के लिये कुछ ध्यान देना शुरू किया, और रिसेप्शन कमेटी की एक दो बैठकें हुईं, और कुछ इन्तजाम की तजवीजें भी सोची विचारी गईं, पर मन दिल्ली की तरफ खिंचा था। दस बारह दिन दिल्ली में लग गये। सफर से, और खासकर वहाँ की बहसों और हुज्जतों से, निहायत थककर लोग घर को लौटे। किसी किसी तरह समझौता हो गया, इसकी तो खुशी जरूर हुई, पर बीमारी का जोर बहुत बढ़ा। घर घर में "लँगड़ा" बुखार—काम करने वालों में अक्सर बीमार और गिरस्ती के झगड़ों से परेशान—वक्त निहायत तङ्ग—शहर का रोजगार भी मन्दा—इनसे शहर वालों को भी ज्यादा तकलीफ देने की हिम्मत कम—इन वजहों से हौसिले बहुत पस्त हो रहे थे। और हममें से जो कुछ बूढ़े हैं, या हो चले हैं, वे तो यह सोचने लगे कि अभी तो दिल्ली में कांग्रेस हुई ही है, और दूसरी दो महीना बाद कोकनाड़ा में होगी, अगर कुछ दिनों के लिये यह जलसा मुल्तवी कर दिया जाता तो अच्छा। पर हमारे जवान काम करने वालों ने हिम्मत बाँधी, और जोर दिया कि बंधी तारीखों में जलसा होना ही चाहिये। यह इन लोगों की हिम्मत व मिहनत का नतीजा है कि बनारस के लोगों को प्रांत भर के प्रतिनिधियों के दर्शन करने का सौभाग्य

आज मिल रहा है। पर जरूर है कि हम लोगों से कुछ भी खातिरदारी आप लोगों की नहीं बन पड़ी है, इससे फिर फिर क्षमा माँगता हूँ।

स्वागतकारिणी समिति के सभापति की हैसियत से तो मुझे और कुछ कहने की जरूरत नहीं है। मिहमानदारी ही की फिक्र हमको करना है। कांफरेन्स का जो राजनीतिक काम है उसके बारे में जलसे के सभापति मशिवरा अपने व्याख्यान में देते हैं। हम सबको भारी दुःख है कि जिन सर्वप्रिय सज्जन, जवाहिरलाल जी को हम लोगों ने सभापति निश्चय किया था, वे नाभा के कष्टों के बाद प्रयाग में आकर बहुत बीमार हो गये हैं और यहाँ नहीं आ सके। इससे हमारा सारा जलसा फीका मालूम हो रहा है। उन्होंने इस बीमारी की हालत में भी अपना व्याख्यान लिखकर भेज दिया है। हमें उसीसे सन्तोष करना पड़ेगा। मैं यही कह कर अपना वक्तव्य समाप्त करना चाहता था, पर एक दस्तूर चला आता है कि स्वागत समिति का सभापति भी कुछ अपनी राय कहा करे, इस दस्तूर को मानता हुआ दो बातों पर मैं अपने कुछ ख़याल आपके सामने रक्खूंगा।

स्पेशल कांग्रेस के आगे दो झगड़े।

दिल्ली की कांग्रेस कौंसिल के झगड़े का निपटारा करने के लिये बुलाई गई, पर वह बैठने न पाई थी कि एक और ऐसा झगड़ा देश में नये सिर से उठा, यानी मजहबी झगड़ा, जिसके आगे कौंसिलों का झगड़ा बच्चों का खेल हो गया, और

सारा काम कांग्रेस का, जो उस छोटे झगड़े से रुक रहा था, इस बड़े झगड़े से बिल्कुल बन्द हा हो गया। इसलिये दिल्ली की कांग्रेस के आगे बजाय एक के दो भारी मसले आ पड़े।

कौंसिलों की बात।

दोनों बातों पर उसने समझौता कर दिया। कौंसिल की बात मजहबी झगड़ों की बात के मुकाबिले कम जरूरी है। इस लिये थोड़े में मै उसकी चर्चा पहिले कर देता हूँ। देश की हालत देखते हुए यह जरूर था कि स्वराज पार्टी के जो लोग "नान-को-आपरेशन" को तबीयत, असहयोग की दृढ़ता का भाव, सत्य पर आग्रह की उसकी प्रकृति, उसका "स्पिरिट आफ आपोज़िशन," अन्याय के विरोध का भाव, लेकर, कौंसिलों में जाकर, क़िस्मत-आज़माइ करना चाहें, उनको मौका दिया जाय, उनके रास्ते में कांग्रेस की किसी दूसरी पार्टी की ओर से कोई रुकावट न डाली जाय। यह धीरे धीरे साफ होता जाता है कि स्वराज पार्टी क्या तरीक़ा अख्तियार करेगी। सम्भव (मुमकिन) है कि तिलकजी के प्रकार, "रेसपान्सिव् नान-को-आपरेशन्," यानी पारस्परिक-असहयोग, को वर्ते। मेरा निज का खयाल हमेशा यही रहा है कि अगर कौंसिल में लोग जायँ तो इसी पालिसी को पकड़ें। भारतवर्ष के राजनीतिक नेताओं में बहुत से अच्छे अच्छे लोग हो गये हैं, जिन्होंने अपने वक्त में अच्छे अच्छे काम किये और देश को आगे बढ़ाया। पर दो ही नेता ग़ैरमामूली हुए हैं। अर्थात् तिलकजी और गांधीजी, जिन्होंने नये प्रकार,

कहने हो के नहीं, बल्कि कुछ करने के भी, निकाले इन दोनों नेताओं की राय मानने के योग्य है। और देश काल अवस्था के अनुसार इनमें जरूरी घटाव बढ़ाव कर दिया जाय तो इनमें कोई विरोध कोई इख्तिलाफ, भी नहीं रहता। बल्कि सिर्फ काम का बँटवारा हो जाता है। कौंसिलों के भीतर से स्वराज दल वाले नौकरशाही पर दबाव डालते रहें, और अगर बन पड़े और मौका मिले तो "टोटल आब्स्ट्रक्शन" आदि भी करने की कोशिश करें, और बाहर से सत्याग्रह दल के लोग भी यथासंभव, खास खास बातों को लेकर, खास खास जगह, असहयोगात्मक सत्याग्रह के जरिया से भी जनता के हकों की रक्षा करें, और नौकरशाही पर दबाव डालें, जैसा नागपुर में हुआ। इस तरह दोनों दल एक दूसरे का विरोध न करके एक दूसरे की सहायता कर सकते है। किन्हीं लोगों ने यह एतराज किया है कि तिलकजी ने पारस्परिक सहयोग कहा था, पारस्परिक-असहयोग नहीं। पर उनके राजनीतिक शिष्य श्री केलकर जी ऐसे नेता ने स्वयं पारस्परिक असहयोग शब्द को मान लिया है।

परस्पर सहयोगाऽसहयोग।

बात तो यह है कि "पारस्परिक" शब्द के मानी ही यह है कि तुम हमारे फायदे की बातों में हमारे साथ सहयोग करोगे तो हम भी तुम्हारे फ़ायदे की बातों में तुम्हारे साथ सहयोग करेंगे, और अगर तुम हमारे फायदे की बातों में हमारे साथ असहयोग करोगे तो हम भी तुम्हारे फायदे की

बातों में तुम्हारे साथ असहयोग करेंगे—यह अर्थ हर तरह से "रिस्पांसिव" शब्द से ही पैदा होता है, चाहे आप उसके साथ सहयोग या "को-आपरेशन" शब्द लगावें, चाहे असहयोग "नान-को-आपरेशन"। ये दोनों एक ही चीज़ के दो पहलू है। पर, हां, ज़माने के लिहाज़ से इस समय असहयोग के पहलू पर ज्यादा जोर देने की जरूरत है। यह खूब याद रखना चाहिये, क्योंकि इसको हम लोग कभी कभी भूल जाते हैं, कि महात्माजी ने भी असहयोग का अर्थ सम्पूर्ण और सर्वथा असहयोग कभी नहीं किया। खास खास बातों में ही असहयोग उन्होंने बताया। स्कूल कालिज के असहयोग को एक तरह से उन्होंने स्वयं रोक दिया। खद्दर प्रचार ही पर सबसे बड़ा जोर उनका रहा। जेल में पैर रखने से पहिले अंतिम शब्द उनका "खद्दर" ही रहा।

वेदव्यास और ईसा।

ईसामसीह ने कहा है कि "जैसा तुम चाहते हो कि लोग तुम्हारे साथ व्यवहार करें वैसा तुम उनके साथ व्यवहार करो"। यही अर्थ महाभारत में अधिक पूरा किया है।

न तत्परस्य कुर्वीत स्यादनिष्टं यदात्मनः।
यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिंतयेत्॥

पर यह नियम आत्यंतिक रीति से सन्यासी के ही लिये है, गृहस्थ के लिये नहीं। गृहस्थ इसको कुछ शर्तों से कम करके ही बरत सकता है। और गांधीजी के असहयोग में इस नियम का अनुकरण नहीं है। वह तो चीज़ ही दूसरी है। तिलकजी

की पालिसी के नियम को पुराने संस्कृत के शब्दों को थोड़ा सा बदल कर यों कह सकते हैं कि "शठं प्रति (शठं नहीं) शठं कुर्यात् सादरं प्रति सादरं ।" अर्थात् तुम्हारे साथ जैसा दूसरे करें वैसा तुम भी उनके साथ करो, पर हाँ पालिटिक्स में "शांति" से, बिना हाथा पाई के, और जायज़, उचित, अमन के उपायों से—यह शर्त भी लगा कर। इतना समझ लेने पर गांधीजी और तिलकजी की पालिसी में अंतर बहुत थोड़ा रह जाता है। उसूल का नहीं, बल्कि केवल विषयों का, कि किस किस बात में, किस किस अवस्था में असहयोग किया जाय। यथा, गांधीजी कौंसिलों का सर्वथा त्याग ही उचित समझते हैं, और तिलकजी के अनुयायी कौंसिल-प्रवेश मात्र के सहयोग को उचित समझते हैं, और वहाँ जाकर यथा शक्ति गवर्मेंट के स्वार्थ से असहयोग और प्रजा के हित की बातों में गवर्मेंट का सहयोग।

इन सब बातों को विचार कर, यदि कौंसिल के विषय में भी कुछ असहयोगी लोग तिलकजी की नीति आज़माना चाहें तो अनुचित नहीं।

भक्ति-वफ़ादारी की क़सम।

वफ़ादारी की क़सम जो कौंसिलों में लेनी पड़ती है उसके बारे में कुछ मित्रों को बड़ा संदेह है, और संदेह होना उचित ही है। पर उस संदेह को शांत करने का उपाय यह है कि जो लोग कौंसिलों में जायँ वे पहिले से भी इश्तिहार कर दें, और बाद में आपस के सलाह मश्विरे के बाद उचित उपाय और मौका विचार कर, कौंसिलों के भीतर भी इस बात को ज़ाहिर

कर दें, कि वफ़ादारी और भक्ति दोतरफ़ा होती है, यकतरफ़ा नहीं, हम आपके भक्त और वफ़ादार तब तक हैं जब तक आप भी हमारे भक्त और वफ़ादार हैं। और भी, वफ़ादारी के मानी यह नहीं है कि, राजा हो या प्रजा हो, मालिक हो या नौकर हो, छोटा हो या बड़ा हो अपना हो या पराया हो, किसी को अनुचित बातों और कारस्वाइयों में भी हाँ में हाँ मिलावेंगे, और उसके खराब कामों में भी मदद देंगे। बल्कि यह कि उसको नेक राय देंगे, अच्छी राह दिखावेंगे, बुरे रास्ते में जाने से रोकेंगे, जो ही हर भले आदमी का हर दूसरे आदमी के साथ वफ़ादारी का फ़र्ज़ है। अगर कुछ ऐसी घोषणा और इश्तिहार का बन्दोबस्त कर लिया जाय तो प्रायः इस शंका का समाधान हो जायगा।

मज़हबी झगड़ा।

अब मैं दूसरे और भारी झगड़े का जिकर करूँगा। खद्दर, शांति, अछूतोद्धार, मज़हबी एका, ये चार चीजें स्वराज की जड़ बुनियाद हैं—ऐसा महात्माजी बराबर कहते रहे। खद्दर के मानी रोज़गारी स्वराज, अछूतोद्धार के मानी मुहब्बत और इंसानियत का झूठे अहङ्कार और झूठी पवित्रता (तहारत) के ऊपर स्वराज, शांति के मानी बुद्धि (अक़ल) का हाथ पैर पर स्वराज, मज़हबी एका के मानी दिल की नेकनीयती का बदनीयती के ऊपर स्वराज। जितना जाँच कीजिये उतना ही निश्चय (यक़ीन) मालूम होगा कि मज़हबी एका होना, मज़हबी झगड़ों का मिटना, यह दूसरी सब भलाइयों की जड़ बुनियाद है।

हर आदमी अच्छी तरह जानता है, और हर आदमी मुँह से कहता भी है, कि जब तक ये आपस के मजहबी झगड़े जारी रहेंगे तब तक स्वराज नहीं हो मिल सकता। पर कुछ ऐसो माया है कि यह सब जानते, मानते, बखानते हुए भी, लोग धर्म (मजहब) के नाम से एक दूसरे का काम बिगाड़ने का जतन करते ही हैं। और अपना भी काम बिगाड़ते ही है।

इस फ़साद का मूल कारण यानी असली वजह।

इस झगड़े की जो सूरत इधर हुई है, जो बड़े बड़े फ़साद कई बड़े शहरों और क़स्बों में हुए हैं, उनको यहाँ बखानने की जरूरत नहीं है। शुक्र (धन्यवाद) का मुकाम (अवसर) है कि दिल्ली की स्पेशल कांग्रेस के बाद कोई नये फसाद नहीं सुने गये हैं। वहाँ के समझौते का कुछ असर देश में हुआ, ऐसा मालूम होता है। खासकर उस घोषणा (एलान) का जो दोनों मज़हबों के एक सौ मज़हबी तथा राजनीतिक नेताओं के दस्तखत से मिलकर हुआ। और वह समझौता हर तरह से ग़नीमत है। पर उसको स्थिर (मुस्तहकम) करने के लिये, उसकी जड़ मजबूत करने के लिये, उसको क़ायम रखने के लिये, कुछ और काम की भी ज़रूरत है। और मैं दिल से आशा करता हूँ कि वह काम इस कान्फरेन्स में शुरू कर दिया जायगा। मैंने गया की कांग्रेस में उसको पेश करने की कोशिश की थी। और मुझे यकीन है कि अगर वहाँ यह काम शुरू कर दिया जाता तो इन फसादों

की नौबत न आती। दिल्ली में भी मैं ने नेताओं का ध्यान इस ओर दिलाया, और आपसे भी वही अरज करता हूँ।

स्वराज शब्द के अर्थ में भूल।

स्वराज के मीठे लफ्ज़ के पीछे सब लोग मिलकर दौड़े। स्वराज की ठीक ठीक शक्ल सूरत पहिचानने की कोशिश नहीं की। उमेद की थी कि थोड़ी मिहनत से बड़ी चीज थोड़े वक्त में मिल जायगी। जब नहीं मिली तो हम लोग एक दूसरे को इल्ज़ाम देने लगे, और आपस में लड़ने लगे। हमेशा का दस्तूर है कि जब काम नहीं बनता तो काम करनेवाले एक दूसरे को दोष देने लगते हैं। जैसा नीति जानने वालों ने कहा है, "यदि कार्यविपत्तिः स्यान्मुखरस्तत्र हन्यते"। इस लड़ाई की दो सूरतें हुईं। जो शाइस्ता पढ़े लिखे लोग थे उनमें तो सत्याग्रह और कौंसिल के मसलों पर कागजी और ज़बानी लड़ाई शुरू हुई। और यह लड़ाई जब ज्यादा बढ़ी, तब दूसरे दलों (गरोहों) में, जिन्होंने भीतर भीतर यह समझ रखा था कि स्वराज के मानी हमारे ही मज़हब वालों का राज, वह बिगड़ा हुआ स्वराज का जोश आपस की हाथापाई, मारपीट, और लूटपाट में उबल पड़ा।

धर्म मज़हब के मानी में भूल।

इसकी खास वजह यह है कि जैसा हम लोगों ने स्वराज का मतलब नहीं समझा है वैसा ही मज़हब-धर्म की भी असल शकल नहीं पहिचानते हैं। अब तक हम लोग एक दूसरों को यही कहते आये कि लड़ो मत, लड़ो मत, मेल करो, मेल करो,

नहीं तो स्वराज नहीं पाओगे । इस तरह स्वराज की मिठाई की लालच से ही जो मेल किया जायगा वह कब तक ठहर सकेगा ? जब तक मज़हबों का मेल नहीं किया जायगा, उनके सिद्धांतों (उसूलों) का एका सबको न दिखाया जायगा, तब तक मज़हब वालों का भी सच्चा मेल कभी नहीं होगा। और जब तक स्वराज की सच्ची शकल सबको नहीं बताई जायगी और उसका तसफीया समझौता नहीं कर लिया जायगा तब तक मज़हब वालों धर्म वालों में, और गरोह-गरोह में, हिन्दुस्तानी-यूरोपीयन में, हिन्दू-मुसलमान में, ब्राह्मण-अब्राह्मण में, स्त्री-पुरुष में, प्राचीन-नवीन में, वृद्ध-युवा में, मालिक-नौकर में, पूंजीवाल-श्रमजीवी में, जमींदार-काश्तकार में, दूकानदार-खरीदार में, ज़ात-ज़ात में, रोज़गार-रोज़गार में, अहलकार-गैरअहलकार में, धनी-निर्धन में, खेतिहर-मज़दूर में, पुराणवादी-भविष्यवादी में, शास्त्रवादी-बुद्धिवादी में, श्रद्धावादी-युक्तिवादी में, हमेशा आपस में बेएतबारी (अविश्वास) बना रहेगा, और दिली मेल और एका से स्वराज के लिये कोशिश न की जायगी, बल्कि खुले तौर से या छिपे तौर से एक दूसरे का काम रोका जायगा, और जो कुछ एका और मेल होगा वह सिर्फ ऊपरी, दिखनावती, बनावटी और चन्दरोजा होगा। लेकिन धर्म मज़हब की अस्लियत (तत्त्व) पहिचानने से सब धर्मों मज़हबों का मेल ही मेल देख पड़ेगा। और स्व-राज में "स्व" की अस्ली सच्ची सूरत पहिचानने से धर्म-मज़हब की भी अस्लियत मालूम हो जायगी, मज़हबी झगड़े भी मिट जायँगे, और सियासी तफ़र्के, (राजनीतिक

झगड़े), और गरोह गरोह के आपस के शक शुबहे भी रफ़ा हो जायँगे, जिन्हीं शक शुबहों की वजह से हमारी स्वराज की लड़ाई रुक रही है, क्योंकि इस वक़्त हर एक आदमी या गरोह स्वराज का अर्थ अपने मनमाना लगा रहा है और भीतर भीतर समझता है कि स्वराज होने पर हम दूसरों को दबावेंगे, या डरता है कि दूसरे हमको दबावेंगे, और इसी लिये सच्चे दिल से काम में मदद नहीं देता, गो मुँह से सबके सब, यहाँ तक कि अहलकार और यूरोपियन भी, कहते और क़बूलते हैं कि हिन्दुस्तान को स्वराज मिलना ही चाहिये।

मतलबी यारी और असली यारी।

मतलब की यारी मतलब के साथ बनेगी और बिगड़ेगी, बल्कि यह कहना चाहिये कि उसमें सदाक़त, सत्यता, निश्छलता नहीं हो सकती, इसलिये मतलब को भी बिगाड़ेगी और आप भी बिगड़ैगी ही, बनेगी नहीं। बहुत मोटी बात है, एक ही रोटी अगर आपका भी और हमारा भी लक्ष्य (मक़सद) है तो तीसरे से छीनने के लिये तो ज़रूर हम आप मेल कर लें, पर छीन लेने के बाद क्या हालत होगी ? आप खाओगे या हम खायँगे ? इस पर तो फिर हमारे आपके बीच लाठी चलैगी ? यूरोप की हालत आँख के सामने है। जर्मनी को हराने तक बड़ा मेल था, अब घूराघूरी है। इसलिये रोटी किस चीज़ को कहते है और उसका कैसे आपस में बटवारा होगा, स्वराज की क्या शकल होगी, कि जिससे किसी गरोह की भी रोटी एक बारगी और सबको सब न मारी जायगी, यह पहिले से ही

समझ लेना जरूरी है। और इसी समझने के लिये मतलब की यारी छोड़कर असली यारी पकड़ना चाहिये। और स्वराज्य मिले या न मिले, सब मजहबों के माननेवालों में आपस में मेल इस वास्ते होना चाहिये कि सब धर्मों, सब मजहबों के असली उसूल (तत्त्व, सिद्धांत) एक हैं। खुदा परमात्मा एक है, उसीने सब इन्सानों को बनाया है, और सब इन्सानों के दिल में बैठा हुआ है, सिर्फ खुदी के पर्दे ने उस खुदा को हमसे छिपा रक्खा है, स्वार्थ ने परमार्थ को ढाँक दिया है, जो फर्क (भेद) है वह केवल नामों का ही है। जब हम सब ऐसा समझेंगे; और समझावेंगे, तभी सच्ची यारी होगी, और तभी स्वराज्य वगैरह सभी नेमतें (उत्तम वस्तु) सहज में मिल जायँगी।

जैसा ईसा ने कहा है, "पहिले नेकदिली हासिल करो उसके बाद और सब चीजें तुम्हें आप मिल जायँगी"। ख़ुदा को, आत्मा को, भुलाकर दुनिया की लालच और खोज करने से, दुनिया भी नहीं मिलती, और ख़ुदा तो खोया है ही। पर यदि ख़ुदा को, आत्मा को, सत्य को, हक़ को आदमी पहिले खोज निकाले, तो उसकी बनाई दुनिया तो आप से आप आ जायगी।

सब धर्मों के उसूल एक हैं।

सूफियों ने कहा ही है,

फ़क़त तफ़ावत है नाम ही का, दर अस्ल सब एक ही हैं यारो।
जो आबि-साफ़ी कि मौज में है, उसी का जल्वा हबाब में है॥

अर्थात् केवल नाम का भेद है, अस्ल में सब एक हैं। जो ही पानी समुद्र की लहर में है वही बबूले में भी चमकता है।

मौलाना रूम ने कहीं एक कहानी कही है। एक रूमी, एक अरबी, एक ईरानी, एक तुर्की का सफ़र में साथ हो गया। चलते चलते भूख लगी। एक दूसरे की ज़बान समझते नहीं थे। इशारे से बात हुई। जितने पास पैसे थे इकट्ठा किये। क्या खरीदना चाहिये? अरबी ने कहा 'एनब' खरीदना चाहिए, तुर्की ने पुकारा 'उज़म', ईरानी बोला 'अंगूर', रूमी चिल्लाया 'अस्ताफील'। हुज्जत शुरू हुई। मारामारी की नौबत आगई। एक मेवाफ़रोश दौरा लिये उधर से निकला। उसने हुज्जत सुनी सबका मतलब समझा। दूकानदारों को सब तरह के आदमियों से काम पड़ता है, अपने काम भर कई जबान में चीज़ों के नाम जानते हैं। बोला, लड़ो मत, मेरे पास चारों के पसन्द की चीजें हैं, जो जिसको चाहे ले लो। दौरा आगे रक्खा। उसमें एक ही किस्म का फल था, मगर चारों ने खुश होकर एक एक झुप्पा उठा लिया। क्या बात हुई? अंगूर ही को अरबी में एनब कहते है, तुर्की में उज़म, फ़ारसी में अंगूर, रूमी में अस्ताफ़ील, शायद पहलवी में दाख कहते हैं, और संस्कृत में द्राक्षा। इस छोटी हिकायत में सब धर्मों और मजहबों का सत्त-सार दिखा दिया है—"फ़क़त तफ़ावत है नाम ही का, दर अस्ल सब एक ही हैं यारो"। खुदा बड़ा मेवा-फ़रोश है, उसको सबका भला मंज़ूर है, सबको मेवा देना चाहता है। सबकी बोली समझता है, सब के दिल में बैठा है, पर अगर हमको खुदा के मजहब की पर्वा नहीं, "हमारा मजहब" "हमारा मजहब" इसी का हमहमा (अहमहमिका) है, तो मेवे तो मिलैंगे नहीं, सिर ही टूटेंगे।

अल्ला-परमात्मा, खु(दा+ई =)दैश्वर, एक है। नाम ही बहुत हैं।

आप यक़ीन मानिये, निश्चय जानिये, जो खुदा आपके और मेरे दिल में बैठा है, उससे मैंने भी बहुत बार पूछा, और आप भी जब चाहिये पूछ सक्ते हैं, वह यही जवाब देता है और देगा कि मैं अरबी भी समझता हूँ, संस्कृत भी, और अँगरेज़ी, फ़ारसी, ज़िन्द, हिन्दुस्तानी, चीनी, जापानी, नई, पुरानी, सभी ज़बानों को जानता समझता हूँ। मैं ही ने तो उन्हें भी और तुम्हें भी बनाया है। चाहे जिस ज़बान में मेरा नाम लो, मुझे याद करो, मुझे पहिचानो, मुझसे दुआ माँगो, मैं तुम्हारी नेक ख्वाहिशें (शुभ कामना) पूरी करूँगा। लेकिन अगर हम इस हमहमें में पड़ें कि जो मेरे मुँह से निकले वही सब लोग कहें, मेरी ही नकल सब करें, मेरा ही मज़हब फैले, तो दूसरे भी ऐसा ही झूठा और थोथा हठ क्रोध करेंगे, और जो गढ़े हम दूसरों के लिये खोदेंगे उनमें हम खुद गिरेंगे, जो ज़हर दूसरों के लिये बोवेंगे उससे खुद मरेंगे।

इसलिये भाइयो, दोस्तो, अगर हम लोग मतलबी नहीं, बल्कि सच्ची दोस्ती चाहते हैं तो,

ऐ ब चश्मानि दिल् म बीं जुज़् दोस्त,
हर् चि बीनी बिदाँ कि मज़हरि ऊस्त।

अर्थात, दिल की आँख से सबको दोस्त ही दोस्त देखो, जो कुछ देखो उसको उसी अल्ला-परमात्मा का रूप जानो।

यही अर्थ संस्कृत लफ़्ज़ों में वेदों में कहा है,

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
(ईश उपनिषत)

यानी जो कोई सब चीजों को आत्मा में और आत्मा को सब चीजों में देखता है, वह फिर किसी से जुगुप्सा (नफ़रत) नहीं करता ।

यही अर्थ अरबी शब्दों में सूफियों ने कहा है,

मन् अरफ़ा नफ्सहू फ़कद् अरफा रब्बहू । (हदीस)

यानी जिसने अपने को पहिचाना उसने ब्रह्म-रब्ब को पहिचाना । इसी अर्थ को कुरान में दूसरे लफ्ज़ों में कहा है, "नसुल्लाहा फ़अन्साहुम् अन्फ़ुसहुम्", यानी जो अल्ला-परमेश्वर को भूले वे अपनी नफ़्स अपनी आत्मा को भूले ।

कुरान में कहा है,

अल्लाहो बि कुल्ले शयीन् मुहीत् ।

यानी अल्ला सब चीजों को घेरे है ।

वेद-उपनिषत् में ठीक यही कहा है, ब्रह्म...सर्वमावृत्य तिष्ठति ।

कुरान कहता है, "अल्लाहो नूरुस्समावाती वल् अर्द ।" यानी खुदा के नूर से आसमान और जमीन रौशन है, या खुदा ही आसमान और जमीन की रौशनी है, रूह है, चेतना है ।

ठीक यही मजमून वेद भी कहता है, "तमेव भांतमनु भाति सर्वं, तस्यैव भासा सर्वमिदं विभाति ।"

कुरान की आयत है, "हुवल् अव्वल्, हुवल् आखिर हुवज़् ज़ाहिर्, हुवल् बातिन्, व हुवा अला कुल्ले शयीन् क़दीर" ।

ठीक यही अर्थ गीता के श्लोक का है ।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामंत एव च ॥

सब भूतों, प्राणियों, जीवों के भीतर "मैं" पैठा है, वैठा है। जिससे पूछो वही अपने को "मैं" कहता है। "मैं" ही सबके आगे है, सबके बीच में है, सबके पीछे भी रह जाता है। बिना "मैं" के सहारे के, संबंध के, न कोई चीज़ पैदा होती है, न ठहरती है, न मरती है। यह चीज पैदा हुई, इसको भी "मैं" ही पहिचानता है। यह ठहरी है, इसको भी "मैं" ही पहिचानता है। यह नाश हो गई, लुप्त हो गई, इसको भी "मैं" ही पहिचानता है। इसलिये सबके आगे, सबके बीच, सबके पीछे, "मैं" ही है। बिना "मैं" के संसार का संभव ही नहीं।

इंजील में भी यही कहा है—"गाड इज़ दी आल्फा एंड दी ओमेगा", "आइ ऐम दी फर्स्ट एंड दी लास्ट"। यानी "मैं" परमात्मा-खुदा-गाड आदि अव्वल है, अन्त आखिर है, मध्य बीच है, हमारे बाहर भी है, भीतर भी (चेतना, होश, जान, की शकल से) है।

"ला इलाह इल् अल्ला", इस कलमे का अर्थ पहुँचे हुए, रसीदा, (ऋच्छतीति ऋषिः) सूफियों ने यही किया है कि ला मौजूदा इल्लाहू, यानी है नहीं कोई चीज सिवा उस खुदा के। कुरान में फिर फिर कहा है, "हुवल् हय्यो ला इलाहा व "इल्ला हू," इन्नि अनल्लाहू, ला इलाहा इल्ला अना" यानी वही आत्मा ही ज़िन्दा है, क्योंकि कोई है ही नहीं सिवा

उसके, नहीं कोई मौजूद है सिवा "मेरे", नहीं कोई खुदा है सिवा "मेरे" (अर्थात् सिवा "मैं" के चेतना के, आत्मा के), "मैं" ही ऐन खुदा है, अल्ला है। "वसेआ रब्बोना कुल्ले शयीन् इल्मा", यानी सब चीजों में फैला हुआ इल्म (चेतना) ही खुदा है। सूफियों ने भी अरबी फारसी में ये ही बातें कही हैं, "अन् अल् हक्" यानी "अहं ब्रह्मास्मि," "मैं ही सच है, परमात्मा है, अल्ला है"। "सोहम्", अर्थात् वह मैं है, और मैं वह है। "हक् तूई", "तत्वमसि", अर्थात् सच खुदा तू ही है, तू ही वह है। "हमा उस्त, हमा अज् उस्त, हमा अन्दर् उस्त", यानी, सब उसीमें है, सब उसीसे है, सब वही है। प्रथमा से लेकर सप्तमी और सम्बोधन तक सभी कारक सभी विभक्ति, उसी एक "मैं" में ही घटते हैं। और कुरान में कहा है कि "लाहुल् अस्मा उल् हुस्ना", यानी सब सुन्दर नाम उसी के हैं। "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति", यह वेद का भी वचन है।

इंजील में भी ईसा और दूसरे नवियों मुनियों ने कहा है, "आइ एण्ड् माइ फादर् आर् वन्"; "यी आर् दि लिविङ्ग टेम्पल्स् आफ् गाड्", "इन् हिम् आल् थिंग्ज् लिव् एण्ड् मूव् एंड् हाव् देयर् वीइङ्" इत्यादि, अर्थात् मैं और मेरा बनानेवाला एक ही है, तुम्हीं सब परमात्मा के जिन्दा मन्दिर हो, उसी परमात्मा (चेतना) में सब ही चीजें जीती हैं, बसती हैं, और उसीसे अपनी सत्ता (अस्तित्व, हस्ती) पाती हैं।

वेदों में, गीता आदि में, यही बातें फिर फिर कही हैं। सिर्फ नमूने के लिये यहाँ कुछ वाक्यों को कहता हूँ।

यस्मिन् इदं यतश्चेद येनेदं य इदं स्वयम् ।
योऽस्मात्परस्माच् च परस्तं प्रपद्ये महेश्वरम् ॥
(भागवत)

(जिसमें, जिसमें से, जिससे, जो यह सब कुछ है, और सबसे परे भी है उसको नमस्कार है) ।

"देहो देवालयः प्रोक्तः," ("क़ल्बुल् इन्सान, बैतुर रहमान्") "शिवोऽहम्," "सर्वं खलु इदं ब्रह्म तज्जलान्" । "नेह नानास्ति किंचन," "एकमेवाद्वितीयम्," ("वहदहू ला शरीकि लहू"), "विद्धि त्वमेनं निहितं गुहायां," "एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतांतरात्मा", "स वा एष आत्मा हृदि", "हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः," "यद्यद्विभूतिमत् सत्वं...मम तेजोंऽशसंभवम्", "ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि सर्वाणि रूपाणि सर्वाणि कर्माणि बिभर्त्ति," "स सर्वानुभूः," इत्यादि । कम विचार करने वाले यक बारगी ऐसी बात सुन कर घबरा न जायँ, इसलिये कु़रान में तो बचा कर कहा है कि सब सुन्दर नाम उसी के हैं । पर उपनिषत् में खोल कर स्पष्ट कह दिया है कि सभी नाम, सभी काम, सभी रूप उसी एक "मैं" के हैं । और प्रत्यक्ष ही है । "मैं" अमुक नाम वाला हूँ । "मैं" यह काम करता हूँ । अमुक रूप वाला "मैं" हूँ । सब रूपों, सब नामों, सब कामों के पीछे, भीतर, "मैं" ही तो है । जो हो कोई नाम या काम या रूप है उसका मालिक, उसका धारनेवाला करनेवाला एक "मैं" है ।

यह परमात्मा सबके हृदय में मौजूद है इसी बात को कुरान का हवाला देकर सूफियों ने कहा है,

बावजूदे कि मु.फ़द्ये तेरा "नहनो अक़्रब"
सफ़हे क़ुरान में लिखा था मुझे मालूम न था।

अवतार–मसीह–रसूल।

इस्लामी कल्मे का जो दूसरा जुज है, यानी मुहम्मद-र्रसूलिल्लाह", इसका अर्थ अगर यह किया जाय यानी "यके अज् रसूलानि अल्लाह," अर्थात् परमात्मा के भेजे हुए रसूलों, पैग़ाम-वरों, संदेशहरों, में से एक है, तो किसी दूसरे धर्म वाले को भी इससे इनकार नहीं हो सकता। क़ुरान का भी यही मंशा है। फिर फिर कहा है, "वले कुल्ले क़ौमिन् हाद", सब क़ौमों के लिये 'हिदायत करने वाले' भेजे गये हैं। "ला नोफ़रिक़ो बैना अहदिम मिन् रुसुलेह", यानी रसूलों में फ़र्क़ नहीं है, सब बराबर हैं। सनातन धर्म का मसला तो मशहूर (प्रसिद्ध) ही है, कि जहाँ जहाँ जब जब ज़रूरत होती है अवतार होते हैं। क़ुरान में साफ़ कहा है कि "वमा अर्सल्ना मिन् क़ब्लिका मिर् रसूलिन् इल्ला नूही इलैहे अन्नहू लाइलाहा इल्ला अना .फ़अबुदून्", यानी "परमात्मा कहता है कि 'मैं', परमात्मा ने जिस जिस रसूल को, 'भेजे हुए को', संदेश ले जाने वाले को, दुनिया में भेजा, सबको सिर्फ़ एक ही बात सिखाने को भेजा, यानी यह कि सिवा 'मेरे' सिवा 'मैं' के, सिवा आत्मा के, सिवा परमात्मा के, जो सब जीवों के भीतर "मैं" की शकल से, चेतना की, जान की, सूरत से, बैठा हुआ है, उसके सिवा कोई दूसरा खुदा, दूसरी हस्ती, अस्तिता, दूसरा सत् पदार्थ, ही नहीं है, और इसलिए उसी परमात्मा की, 'मैं' की, मेरी ही, पूजा करो"।

ख़ुदा और ख़ुदी की माया।

पर नाम-रूप की माया बड़ी प्रबल (ज़बरदस्त) है। ऐन सच है कि "फ़कत तफ़ावत है नाम ही का", तौ भी, एक आदमी अल्ला, खुदा, रब्ब कहता है। एक आदमी आत्मा, परमात्मा, ईश्वर, ब्रह्म कहता है। और महज़ नाम के फ़र्क़ (भेद) से दिलों में फ़र्क़ आता है, फ़िर्क़ाबन्दी होती है, मारपीट होती है। खुदा को खुदी ढांक लेती है। फ़रिश्ते पर शैतान ग़ालिब हो जाता है। देवता को दैत्य दबा देता है। परमार्थ और परार्थ को स्वार्थ खा लेता है। आत्मा को अहंकार निगल जाता है।

हक़ीक़त, तरीक़त, शरीयत।

जैसे सनातन-आर्य-वैदिक-मानव-बौद्ध-धर्म में तीन अंग हैं, ज्ञान, भक्ति, और कर्म, वैसे ही ईसा-धर्म में "नास्टिसिज्म, मिस्टिसिज्म, वर्क्स (एनर्जिज़्म)", और इस्लाम धर्म में भी।

अगर हम थोड़ा भी ग़ौर करें तो हमको मालूम हो जाय कि उसूली "अक़ायद" यानी ज्ञानकांड और "हक़ीक़त" की बातें तो सब मजहबों में एक हैं ही, "इबादात" यानी भक्तिकांड और "तरीक़त" की बातें भी एक ही हैं, और "मामिलात" यानी कर्मकांड या "शरियत" की ऊपरी सतही बातें भी एक हैं, या एक नहीं तो एक सी जरूर हैं। और जब यह निश्चय से मालूम हो जाय तब हमारे दिलों से यह तास्सुब, यह हठ, यह दुराग्रह, जरूर दूर हो जाय कि हमारी ही नकल सारी दुनिया करे।

धर्मों में समानता।

कोई नमाज के नाम से, कोई सन्ध्या के नाम से, कोई "प्रेयर" के नाम से, उसी एक परमात्मा, अल्ला, "गाड्" की याद करते हैं। कोई निन्नानवे नाम तस्बीह पर जपते हैं, कोई एक सौ आठ नाम माला पर, कोई दूसरी जबान में उसी के नाम "रोज़री" पर। कोई रसूल पैगम्बर के नाम से, कोई मसीहा के नाम से, कोई अवतार के नाम से, उन अच्छे इन्सानों (मनुष्यों) को ताज़ीम (आदर, पूजा) के भाव से याद करते है, उनकी स्तुति ("हम्द","नात") करते हैं, जिन्होंने अपने अपने समय में आदमियों का बहुत बड़ा भला करने का जतन किया, उनकी दुनिया और आक़वत (इहलोक और परलोक) बनाने की कोशिश की, और उनके दिलों को बदी से हटाकर नेकी की तरफ लगाने की फिक्र की। जब जब जहाँ जहाँ जिस जिस क़ौम में बदी बढ़ती है, शैतान, "सेटन", असुर, दैत्य, राक्षस का ज़ोर ज्यादा होता है, नेकी घटती है, फरिश्ते, सुर, देव, "एंजल" कमजोर हो जाते हैं, वहाँ वहाँ फिर से धर्म-मजहब को कायम और मजबूत करने के लिये, और अधर्म को और असुरों को दबाने के लिये (असल भीतरी असुर तो अहंकार काम क्रोध लोभ आदि है, और बाहरी वे जीव हैं जिनमें ये दोष अधिक मात्रा में हों) परमात्मा की ओर से कहिये, उस क़ौम की रूह में से कहिये, (क्योंकि वह रूह भी खुदा का नूर ही है, रूहि-क़ौम, सूत्रात्मा, विश्वात्मा, जात्यात्मा, "ओवर-सौल्") रसूल और मसीहा और अवतार

पैदा होते हैं, जो उस कौम के क़लब (हृदय) को अपने कलब के नमूने के जोर से बदल देते हैं।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

यह बात सभी मजहब वाले मानते हैं कि खुदा है। सब से बड़ा खुदा, अल्लाहू (देव)-अकबर (सबसे बड़ा) महा-देव, परम ईश्वर, परम-आत्मा, पर-ब्रह्म, (सबका अर्थ एक ही है), एक है, वाहिद है, अद्वितीय है, लाशरीक है—यह भी सब मानते हैं। पुण्य का फल सुख, पाप का फल दुख, जैसा करो वैसा भरो, सजा-जजा, स्वर्ग-नरक, जन्नत-जहन्नुम, हेवन-हेल, यह भी सब मानते हैं। रोजा-व्रत, उपवास-फास्ट, हज-तीर्थयात्रा-पिल्ग्रिमेज. और ज़कात-"चेरिटी"-धर्मार्थ दान, यह भी सब मजहबों में है। अगर एक मजहब वाले ओम् कहते हैं तो दूसरे "आमीं", और तीसरे "एमेन्", और तीनों एक ही चीज हैं, और एक ही मतलब रखते हैं, अर्थात्, "हाँ, अस्ति, सु-अस्ति, अस्तु, ऐसा हो, वह परमात्मा "मैं" है, और वह "मैं" ऐसी इच्छा भावना आज्ञा करे। हिंदू लोग धर्म के चार मूल, चार जड़, बुनियाद, मानते हैं, श्रुति, स्मृति, सदाचार, और "स्वस्य च प्रियमात्मनः" या "आत्मनस्तुष्टिरेव च", या "हृदयाभ्यनुज्ञा"। मुसलमान लोग भी मजहब की बुनियाद चार ही मानते हैं, जो क़रीब क़रीब यही चीज हैं, यानी, क़ुरान, हदीस, इज्मा, और क़यास। ईसा-धर्म वाले भी "रेवे-लेशन् (स्क्रिपचर)—आक्टा सांक्टोरम्—लर्नेड ओपिनियन—कान्शेंस अथवा स्टेट्यूट्-ला, कस्टम, व प्रेसीडेंट या केस् ला और एकिटी और गुड-कांशेंस मानते हैं।

रस्म-रिवाज की समानता।

ऊपरी रस्मों और कर्मों में भी बहुत सदृशता (मुशाबिहत, ततबीक) है। कोई हिलाल और तारा टोपियों में लगाते हैं, कोई त्रिपुण्ड्, उर्ध्व पुण्ड्र वगैरः, जो भी हिलाल और तारे की ही दूसरी शकलें हैं, माथे (पेशानी) पर चन्दन आदि से बना लेते हैं। कोई सूली (सलीब) की शकल के आवेजे कपड़ों पर लटकाते हैं, जो भी स्वस्तिका और त्रिपुण्ड्र से मिलते हैं। त्रिशूल की शकल में यह सब शकलें शामिल हैं। कोई सिर पर शिखा, चोटी, चुन्दी के नाम से बाल बढ़ाते हैं, कोई ठुड्ढी पर दाढ़ी के नाम से। कोई जनेऊ और जन्तर (यज्ञोपवीत और यन्त्र) पहिनते हैं, कोई तावीज़। कोई बुतपरस्त (मूर्त्तिपूजक) हैं तो कोई कब्रपरस्त। निराकारता और एकता और वहदत के महावाक्य और कलमें पढ़ते हुए भी सभी, उस एक अकेले पर देर तक मन न जमा सकने के सबबसे, शकलवाली, नामरूपवाली, चीजों में मन अटकाते ही हैं। "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चैवामूर्त्तं च," यानी परमात्मा अल्ला की दो शकलें हैं, एक बेशकल और एक बाशकल। और सारी दुनिया ही यह दूसरी शकल है, "हमा ऊस्त", इसलिये कोई मूर्तियों की पूजा करते हैं, कोई शहीदों, पीरों, औलियों को कब्रों पर माला फूल चादर चढ़ाते हैं और दीये जलाते हैं। जिन्हीं जीवों को कोई देवता और दैत्य के नाम से पुकारते हैं, उन्हीं को दूसरे फरिश्ते, मलायक, शैतान, जिन्नात, "एंजल्स" "फेयरीज", वगैरः के नाम से जानते मानते हैं। कोई देवी

देवताओं की सवारी निकालते हैं, तो दूसरे ताजिये निकालते हैं, और ताज़ियों पर अर्जियाँ लटकाते है। सभी मन्नतें मानते हैं। सभी झाड़ फूक में विश्वास करते हैं। सभी गुरु-शिष्य, पीर-मुरीद, सेंट-डिसाइपूल् के रिश्तों को मानते हैं। अगर एक मज़हब वाले श्राद्ध तर्पण ब्रह्मभोज वग़ैरह करते है, तो दूसरे मज़हब वाले भी गुज़रे हुवों के लिये चेहलुम पर .फातिहा पढ़ते हैं, और बारे-वफ़ात और शबिबरात् पर उनकी रूह की भलाई के लिये ग़रीबों को खाना खिलाते हैं। .खुदा को लामकान और निराकार कहते हुए भी सभी उसके लिए ख़ास ख़ास मकान बनाते हैं, मन्दिर के नाम से, मसजिद के नाम से, चर्च के नाम से। बैतुल्ला, देवालय, "हौस आफ् गाड्"—इन तीनों नामों के लफ़्ज़ों मानो भी एकही हैं, अर्थात् ईश्वरका घर। और इन सब मकानों की शकल में भी कुछ समानता, कुछ मशाबिहत होती है। यानी इस नापाक (अशुद्ध) दुनियाँ (पृथ्वी) की मैल से आस्मान की स्वच्छता की तरफ सभी उठना चाहते हैं। शिखर के नाम से, गोपुर और कलश के नाम से, गुंवद् और मुनारे के नाम से, और "स्टीप्ल,टावर,स्पायर" के नाम से। अगर हिन्दुओं में विश्वनाथ-दर्शन और गङ्गास्नान की महिमा है, तो मुसलमानों में काबे के मन्दिर में जाना और .ज़म्-ज़म् कुएड में स्नान करना बड़ा पुण्य है। और सादृश्य (मुशाहिबत) देखिये। काबे के मन्दिर के अन्दर दो पत्थर हैं, एकका नाम हज्रुल अस्वद्, और एक का नाम हज्रुल यमानी, जो अब दीवार में लगाये हैं। कहा जाता है कि पहिले फ़र्श पर ही थे। हाजी यात्री लोग इन पर बोसा (चुम्बन) देते हैं, और काबे के

मन्दिर की परिक्रमा (तवाफ़) सात वार करते हैं, और उसके आगे सहन में सिज़्दा (दण्डवत् प्रणाम) करते हैं। और यह सब काम अङ्गा पैजामा कुर्ता टोपी वगैरा पहिन कर नहीं किया जा सकता, बल्कि नंगे सिर, नंगे पैर, एक धोती और एक उपर्ना ही पहिन कर, जिनको एह्राम कहते हैं, और ये बिना सिलाई के होने चाहिये। जैसे हिन्दुओं में जो लोग बहुत पवित्रता चाहते हैं वे स्नान करके रेशमी पीताम्बर उपर्ना पहिन कर मन्दिर-यात्रा, देवता-दर्शन आदि करते हैं, और ये भी बिना सिलाई के, "अहते वाससी", होने चाहिये। सभी पोथीपरस्त हैं एक वेद को पूजते है, एक इञ्जील को, एक कुरान को। सभी अपनी अपनी पोथियों को एक ही नाम से पुकारते हैं—ब्रह्म-वाक्य, गा (ड) स्पेल, कलामुल्ला, यानी ईश्वर खुदा परमात्मा अल्ला गाड् की कही वात। और मुख्य मुख्य बात भी सब में एक ही है। ख़ुद क़ुरान में कहा है, "इन्नहू लफ़ी ज़ुबूरिल् अव्वलीन," यानी यह (क़ुरान) अगलों के नविश्तों (लिखे ग्रन्थों) में है। तौरेत में, उपनिषदों में, वही मुख्य बातें हैं, जो क़ुरान में। हिन्दुओं में जैसे कथा पुराण का दस्तूर है वैसा ही मुसल्मानों में मौलूद, खुतवा, वाज़ की चाल हैं, और ईसाइयों में "सर्मन" की। एक वुज़ू करते हैं तो दूसरे स्नान। एक आसन बिछाते हैं तो दूसरे सज्जादा। एक नमाज़ के लिए उठने, बैठने, दण्डवत् करने के क़ायदे रखते हैं, तो दूसरे सन्ध्या के लिये सूर्योपस्थान, अङ्गन्यास, करन्यास, वगैरा के। नमाज़ में सीने (छाती) तक हाथ उठाना चाहिये कि कान तक, और सन्ध्या में प्राणायाम के लिये हाथ सीधे नाक तक

ले जाना चाहिये, या सिर के चारों तरफ़ घुमा कर, ऐसी ऐसी बातों पर अलग अलग फ़िर्के (दल) और सम्प्रदाय दोनों में बन गये हैं—ईसाइयों में बीसियों, मुसल्मानों में बहत्तर, हिन्दुओं में सैकड़ों बल्कि हजारों। अगर एक अज़ान की पुकार से आदमियों को जगाकर खुदा की तरफ़ लगाते हैं, तो दूसरे शङ्ख घण्टा से वही काम लेते हैं। ईसाइयों में भी "चर्च बेल्स" होते हैं। अगर एक कुर्बानी करते हैं तो दूसरे भी बलिदान। दोनों गोश्त खाते हैं। कोई एक जानवर, यानी गाय का, गोश्त हराम समझते हैं, तो कोई दूसरे जानवर, यानी सूअर का। अफ़सोस तो यह है कि दोनों में नफ़्स्-कुशी, आत्म-बलि, अपनी नफ़्स, अपने स्वार्थ और खुदग़रजी, अपने अहङ्कार, काम, क्रोध, वग़ैरा की क़ुर्बानी, और "तर्कि-हैवानात," मांसवर्जन, बहुत कम लोग करते हैं। दूसरों का ही बलिदान करते हैं। अपने भीतर जो जानवर और पशुता है उनका नहीं। पर खुशी की बात है कि गुनाह, पाप, "सिन्" के धोने और मिटाने के लिये भी सभी एक ही उपाय करते, या करते नहीं तो बताते ज़रूर हैं, पश्चात्ताप-प्रख्यापन, प्रायश्चित्त, नदम-एतराफ़-तलाफ़ी (कफ्फ़ारा, तौबा), "रिपेंटेंस-कन्फेशन्-एक्सपियेशन्"।

पुनर्जन्म के बारे में भी यह ख़याल करने की बात है कि क़ुरान या हदीस में कहीं इससे इनकार नहीं किया है। बल्कि कुछ कलाम ऐसे मिलते हैं जिनका इशारा कुछ लोगों की समझ में पुनर्जन्म के मानने की तरफ़ है। "क़ुल् योही हल्लज़ी अनशा-अहा अव्वलमर्रा", यानी जिसने पहिले तुमको जिलाया है

वही तुमको दुबारा भी जिला सकता है । "कैफ़ा तकफुरूना बिल्लाहे व कुंतुम अम्वातन् फ़ा अह्यकुम् सुम्मा युमीतोकुम् सुम्मा योह्यिकुम् सुम्मा इलैहे तर्जऊन्", यानी तुम अल्ला से किस तरह इन्कार कर सकते हो, हालां कि तुम बेजान थे, उसने तुम्हें ज़िन्दा किया, और फिर तुम्हें मारेगा, और फिर जिलायेगा, और फिर उसकी तरफ लौट कर जाओगे । यह बात गीता की सी ही मालूम होती है,

बहूनां जन्मनामंते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।

यानी बहुत जन्मों के बाद ज्ञान, मारिफत, पाकर आदमी मेरे पास, परमात्मा के पास, पहुँच जाता है । बल्कि एक और वाक्य कुरान में मिलता है जो तो गीता के इस वाक्य का बिलकुल समानार्थ वा अनुवाद ही मालूम होता है । "या अय्योहल् इन्सानो इन्नका कादिहुन एला रब्बेका कादिहन् फ़ मुलाक़िहे लतर्कबुन् न तबक़न् अन् तबक़", यानी, ऐ इन्सान, तू अपने रब (खुदा) की तरफ जाँफ़िशानी करता हुआ जाने वाला है, तबक़ पर तबक़, दर्जा व दर्जा तुमको चलना है ।

और भी कुरान में कहा है, "मिनहा खलक्ना कुम्, व फी हा नोईदुकुम्, व मिन्हा नुख़रुजुकुम् एला तआरतीन् उख़रा", यानी "मैं ने तुमको मिट्टी से पैदा किया, और उसी के अंदर तुमको लौटा दूँगा, और उसीसे फिर निकालूँगा, लगातार, आख़िर तक", और "सुम्मा बअस्नाकुम् मिन् बादे मौतेकुम् लअल्लकुम् तुश्कुरून," यानी "फिर मैंने तुमको मबऊस (पैदा) किया, तुम्हारे मर जाने के बाद, ताकि तुम

कुछ शुक्र करो" । और, "अह्यानां बादे अमातना," यानी "हमको ज़िंदा किया हमारी मौत के बाद" ।

कुछ लोग कुरान की इन बातों के मानी दूसरी तरह लगाते हैं । पर इसमें तो कोई शक है ही नहीं कि खलीफा हारूँरशीद के ज़माने के मोतज़िला फिर्के के लोग पुनर्जन्म को मानते थे । अल् गिज़ाली, उमर खय्याम, वग़ैरा, और सूफ़ी लोग भी, इसमें एतबार (विश्वास) करते थे । बल्कि वैदिक धर्म वालों से ज़्यादा बारीकी से इस पर विचार किया था । मनुष्य जन्म के बाद मनुष्य जन्म को नसूख़, पशुजन्म को मसूख़, वनस्पति जन्म को रसूख़, और मणि आदि पत्थर रूप में जन्म को फसूख़ कहते थे ! यहाँ तो एक पुनर्जन्म शब्द ही से काम चलाया । मौलाना रूम का कहना तो मशहूर है,

हम् चो सब्ज़ा बारहा रोईद: अम ।
हफ़्त सद् हफ़्ताद् क़ालिब दीद: अम ।

यानी घास के ऐसा मैं फिर फिर उगा हूँ, सात सौ सत्तर जिस्म मैंने देखे हैं । ईसा मसीह ने भी एक मौके पर कहा कि जो इलैजा नामका नबी था वही जान दी बाप्टिस्ट नामक फ़क़ीर के रूप में फिर जन्मा है । आग़ा खां के फिर्के के मुसलमान आज भी तनासिख़ यानी पुनर्जन्म को मानते हैं, और मुहम्मद पैग़म्बर को ब्रह्मा का और अली को विष्णु का अवतार बताते हैं । ठीक ही है,

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा
तत् तद् एव अवगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥

दूसरी सूक्ष्म बातों में समता।

वैदिक धर्म का सर्वोत्तम अंश, वेद का अंत, वेद की पराकाष्ठा, वेदांत, ब्रह्मविद्या, अध्यात्मशास्त्र, माना जाता है। यही दशा इस्लाम धर्म में तसव्वुफ को, सूफ़ी मत की, है। ईसाई धर्म में यही अंश "मिस्टिसिज़्म" और "ग्नास्टिसिज़्म" के नाम से प्रसिद्ध है। योग को तसव्वुफ़ में "सुलूक" कहते हैं। शब्दार्थ वही है। योग के मानी जोड़ना, मिलाना, लगाना। सुलूक के मानी भी मेल करना, मिलाना, सीना ("सिल्क" से, रेशम से, डोरे से)। जीवात्मा को परमात्मा से। अर्थात् जीवात्मा को अपनी परमात्मता पहिचनवा देना। जैसे योग में भूमि पर भूमि, काष्ठा पर काष्ठा, माना है, वैसे ही सुलूक में भी तबक़ पर तबक़, मक़ाम पर मक़ाम। सत् चित्-आनन्द ब्रह्म का स्वभाव है। वुजूद-इल्म-शुहूर अल्ला की सिफ़त है। आरंभवादी ईजादिया, परिणामवादी शुहूदिया, विवर्तवादी वुजूदिया हैं। जीवन्मुक्त को इन्सानुल् कामिल् या मर्दि तमाम कहते हैं। पूर्णावतार को मज़हरि-अतम्म। जप, क्रियायोग, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि आदि को, ज़िक्र, अशग़ाल, हब्सि-दम, मुराक़िबा, मुकाशिफा, मुआइना वग़ैरा। यम-नियम को मुजाहिदा। वैदिक धर्म में सात ऊपर के लोक और सात नीचे के पाताल माने हैं, इस्लाम में सात अर्श और सात अर्द इन्हीं को कहते हैं। जैसे भूः, भुवः, स्वः, आदि नाम हैं वैसे आलमि-नासूत (या दुनिया, या शहादा), आलमि-मिसाल, मलकूत, जबरूत, लाहूत वग़ैरा। और भी नाम इन्हीं चीजों

के दूसरे आकार प्रकारों के कहे हैं। जैसे वेदांतियों ने योग साधन करके स्थूल से सूक्ष्म आदि शरीर को जीते जी ("मुजाद् इषीकाम् इव"—कठ उपनिषत्) अलग कर लेने के लिये कई शरीर, स्थूल, सूक्ष्म, कारण, अथवा पंच कोष माने हैं, तथा बौद्धों ने स्कंध, जैनों ने वर्गणा, आदि, एवं सूफ़ियों ने भी कई नफ़स, रूह, नूस्मा वग़ैरा माने हैं। मोक्ष या निर्वाण को फ़ना-फ़ी-अल्ला (फ़ना-फ़िल्ला, ब्रह्म-मज्जन) कहते हैं। निष्कर्ष यह कि "फ़क़त तफ़ावत है नाम ही का, दर अस्ल सब एक ही हैं यारों"। वस्तु एक है, देखने वाले अनेक हैं, स्थान भेद से थोड़ा थोड़ा दर्शनभेद और नामभेद हो गया है। खुद क़ुरान में साफ़ लिखा है, "इन्नहू ल फ़ी ज़ुबूर् इल् अव्वलीन्", यानी यह क़ुरान अगलों की नविश्तों में है, अर्थात् प्राचीन धर्मों की धर्मपुस्तकों में, जिनको उन धर्मों के वृद्धों बुज़ुर्गों ने लिखी है, इस क़ुरान की सब मूल और मुख्य बातें पहिले लिखी जा चुकी हैं। दूसरी मनुष्य जाति के लिये, दूसरे काल, दूसरे देश, दूसरी अवस्था में, दूसरी भाषा में, लिखी गईं। इसलिये अब भाषा बदल कर थोड़े हेर फेर से, इस देश, काल, अवस्था, जाति के प्रयोजनों के अनुसार, फिर से कही व लिखी जाती हैं, पर मुख्य और मूल बातें वही हैं जो अगले ज़मानों में भी फिर फिर कही जा चुकी हैं।

नामरूपों में भी समता।

मुख्तसर यह कि अगर "चश्मानि दिल" से, हृदय की आँख से, मुहब्बत और नेकी की निगाह से, देखिये, तो आपको

सब एक ही और एक से ही देख पड़ेंगे, सब दोस्तही दोस्त देख पड़ेंगे, और सबकी दुनियाँ भी और आक़बत भी बनैगी।

"हमा ऊस्त" (सब वही है) से "हमा दोस्त" का नतीजा निकलता ही है।

एवं तु पंडितैर्ज्ञात्वा सर्वभूतमयं हरिं।
क्रियते सर्वभूतेषु भक्तिरव्यभिचारिणी॥ (विष्णु पुराण)

जब सब हरि-मय, आत्म-मय, है, तब सब से भक्ति प्रीति होनी ही चाहिये। द्वेष किससे कीजिये? जब कोई दूसरा हो तब न? सब तो अपने हो हैं, आप ही हैं! लेकिन अगर भेद बुद्धि की, खुदी और अहंकार, स्वार्थ और शेखी-मशीखत, घमंड, हठ, दुराग्रह, तास्सुवकी, और अहमहमिका यानी हमहमा की, आँखों से देखियेगा, और इसी भूल में मस्त रहियेगा कि मेरा मज़हब सब से अच्छा और बाक़ी सब ख़राब हैं, और दूसरे मज़हबवालों को जैसे हो तैसे, अक़ल और हिकमत और दलील से नहीं, बल्कि छल बल और जबरदस्ती से, अपने मज़हब में लाना चाहिये, अगर हम लोग ऐसा ख़याल करेंगे तो दूसरों का भ, और खाहमखाह अपना भी, काम बिगाड़ेंगे।

अस्ल बात यह जान पड़ती है कि पढ़े लिखे या अनपढ़ भी जब साफ साफ यह कहते शर्माते हैं कि हम दूसरों से अच्छे हैं, पर अहंकार भी उनका साथ हो जोर करता ही है, तब उस अहंकार का, ग़रूर का, इस बहाने से स्वाद (ज़ायक़ा) लेते है, कि हमारा ईश्वर, हमारा अल्ला, हमारा यहोवा, हमारा गाड्, सब दूसरों के देवताओं से बड़ा है, हमारी पोथी, वेद, या तोरेत, या इंजील, या कुरान, सब दूसरी

पोथियों से उमदा है, हमारा अवतार पूर्ण परमात्मा है, हमारा मसीहा खुदा का इकलौता बेटा है, हमारा नबी खातिमुन्नबी अत है। नबीपन का खतम कर देने वाला है, सब फ़रिश्तों से भी और आदम (आदि मनु) से भी बढ़कर है, खुदा के बराबर नहीं तो उसके बाद दूसरे दर्जे में वही है। वाह, वहदत की खूबी! बेवकूफी में भी सब मजहब वाले यकसाँ हैं! जब अहंकार ज्यादा ज़ोर करता है तब तो यह भी सभी कह देते हैं कि हमी ब्रह्मदेव के मुख्य पुत्र हैं, हमी (यहूदी) यहोवा (खुदा) के खास चुने हुए (चोज़न् रेस) हैं, हमी (कुरैशी जाति जिसमें मुहम्मद पैग़म्बर पैदा हुए) खास खुदा के प्यारे बल्कि ठेकेदार या मालिक (स्वामी) ही हैं। मगर भाइयो, दोस्तो, हम लोगों को इस अहंकार और गरूर के धोखे में नहीं पड़ना चाहिये। परमात्मा खुदा अल्ला अनंत, ला-इन्तिहा, "अनएंडिङ्" है, और वही हमारी आप की रूह है, रूह-उल्-रूह है, सूत्रात्मा है. विश्वात्मा, जगदात्मा, विराडात्मा, परमात्मा, है। इसमें से अनगिनत अवतार और मसीह और रसूल आये, आ रहे हैं, और आते रहेंगे। अपने अपने देश और जमाने के लिये सबने अच्छी अच्छी बात सिखायी और सिखा रहे है और सिखावेंगे। सब की मुनासिब इज्जत, आदर करना चाहिये। यह कभी खयाल में नहीं लाना चाहिये कि जो किसी एक ने कोई खास तरीका किसी देश काल अवस्था के लिये बताया, वही ज़बर्दस्ती से सब आदमियों से सब जगह सब हालतों में मनवाया जाय और बाक़ी सब की बातें मिटा दी जायँ। और सर्वोपरि यह सदा याद रखना चाहिये

सब एक ही और एक से ही देख पड़ेंगे, सब दोस्तही दोस्त देख पड़ेंगे,और सबकी दुनियाँ भी और आक़बत भी बनैगी।

"हमा ऊस्त" (सब वही है) से "हमा दोस्त" का नतीजा निकलता ही है।

एवं तु पंडितैर्ज्ञात्वा सर्वभूतमयं हरिं।
क्रियते सर्वभूतेषु भक्तिरव्यभिचारिणी ॥ (विष्णु पुराण)

जब सब हरि-मय, आत्म-मय, है, तब सब से भक्ति प्रीति होनी ही चाहिये। द्वेष किससे कीजिये? जब कोई दूसरा हो तब न? सब तो अपने हो हैं, आप ही हैं! लेकिन अगर भेद बुद्धि की, खुदी और अहंकार, स्वार्थ और शेख़ी-मशीखत, घमंड, हठ, दुराग्रह, तास्सुबकी, और अहमहमिका यानी हमहमा की, आँखों से देखियेगा, और इसी भूल में मस्त रहियेगा कि मेरा मज़हब सब से अच्छा और बाक़ी सब ख़राब हैं, और दूसरे मज़हबवालों को जैसे हो तैसे, अक़्ल और हिकमत और दलील से नहीं, बल्कि छल बल और जबरदस्ती से, अपने मज़हब में लाना चाहिये, अगर हम लोग ऐसा ख़याल करेंगे तो दूसरों का भ., और ख़ाहमख़ाह अपना भी, काम बिगाड़ैंगे।

अस्ल बात यह जान पड़ती है कि पढ़े लिखे या अनपढ़ भी जब साफ साफ यह कहते शर्माते हैं कि हम दूसरों से अच्छे हैं, पर अहंकार भी उनका साथ ही जोर करता ही है, तब उस अहंकार का, ग़रूर का, इस बहाने से स्वाद (ज़ायक़ा) लेते है, कि हमारा ईश्वर, हमारा अल्ला, हमारा यहोवा, हमारा गाड्, सब दूसरों के देवताओं से बड़ा है, हमारी पोथी, वेद, या तोरेत, या इंजील, या कुरान, सब दूसरी

पोथियों से उमदा है, हमारा अवतार पूर्ण परमात्मा है, हमारा मसीहा खुदा का इकलौता बेटा है, हमारा नबी खातिमुन्नबी अत है। नबीपन का खतम कर देने वाला है, सब फ़रिश्तों से भी और आदम (आदि मनु) से भी बढ़कर है, ख़ुदा के बराबर नहीं तो उसके बाद दूसरे दर्जे में वही है। वाह, वहदत की खूबी! बेवक़ूफी में भी सब मजहब वाले यकसाँ हैं! जब अहंकार ज्यादा ज़ोर करता है तब तो यह भी सभी कह देते हैं कि हमी ब्रह्मदेव के मुख्य पुत्र हैं, हमी (यहूदी) यहोवा (ख़ुदा) के खास चुने हुए (चोज़न् रेस) हैं, हमी (कुरैशी जाति जिसमें मुहम्मद पैग़म्बर पैदा हुए) ख़ास ख़ुदा के प्यारे बल्कि ठेकेदार या मालिक (स्वामी) ही हैं। मगर भाइयो, दोस्तो, हम लोगों को इस अहंकार और गरूर के धोखे में नहीं पड़ना चाहिये। परमात्मा खुदा अल्ला अनंत, ला-इन्तिहा, "अनएंडिङ्" है, और वही हमारी आप की रूह है, रूह-उल्-रूह है, सूत्रात्मा है, विश्वात्मा, जगदात्मा, विराडात्मा, परमात्मा, है। इसमें से अनगिनत अवतार और मसीह और रसूल आये, आ रहे हैं, और आते रहेंगे। आपने अपने देश और जमाने के लिये सबने अच्छी अच्छी बात सिखायी और सिखा रहे हैं और सिखावेंगे। सब की मुनासिब इज्जत, आदर करना चाहिये। यह कभी खयाल में नहीं लाना चाहिये कि जो किसी एक ने कोई ख़ास तरीका किसी देश काल अवस्था के लिये बताया, वही ज़बर्दस्ती से सब आदमियों से सब जगह सब हालतों में मनवाया जाय और बाक़ी सब की बातें मिटा दी जायँ। और सर्वोपरि यह सदा याद रखना चाहिये

कि मुख्य धर्मतत्त्व, ज्ञानसार, परगुह्य, सब ने एक ही सिखाया, अर्थात्, "मैं", जीवात्मा, ही परमात्मा है। "इन्नि अनल्लाहु, ला इलाहा इल्ला अना", "अहं ब्रह्म, नान्यद् आत्मनः (अपश्यत्)"।

इस तौर से यदि देखा जाय, कि मुहम्मद का असल अर्थ हक़ीक़ति मुहम्मदी, यानी अक़लि-कुल्ल, अर्थात् महान् आत्मा, महत्तत्व, बुद्धितत्त्व, है, तब तो यह कहना ठीक हो जाता है कि जो जीव उस तक पहुँचा वही मुक्त हुआ, नबी, परमर्षि, हुआ, ख़ातिमुन्नबूअत हुआ, खुदा का इकलौता बेटा, ब्रह्मस्वरूप हो गया।

मज़हब में ज़बरदस्ती नहीं।

मज़हब में ज़बरदस्ती की कार्रवाइयाँ चाहे थोड़े दिन के लिये कारगर हो भी जावें, पर बहुत जल्द ही ज़वाल और मुसीबत उनके करने वालों पर आती हैं। जो जब्र से जल्द बढ़ता है वह दूसरे के जब्र से वैसा ही जल्द घटता भी है। वजह सीधी है, उसके दुश्मनों की संख्या हमेशा बढ़ती रहती है जो उसका बुरा चेतते ही रहते हैं। पच्छिम की क़ौमों का हाल देखिये। शिष्टता सभ्यता (तहज़ीब) की चोटी पर पहुँच कर, काम, क्रोध, लोभ, और अहंकार के मारे एक दूसरे को मारे डालते हैं। इस देश में कहावत है कि जब चींटे के पर निकले तब उसकी मौत क़रीब है। और भी बड़ी मोटी बात है। धमकाकर मनका विश्वास तो बदला नहीं ही जा सकता। अगर मारपीटकर, डर दिखाकर, हम दिन के वक्त किसी से

कहलवा भी लें कि दिन नहीं रात है, तो उसका मन तो बदलेगा नहीं, झूठ बोलने की, झूठे और कायर का काम करने की, आदत ही उसमें और उसकी नस्ल में क़ायम होगी। ऐसी ही बातों का ख़याल करके कुरान में बार बार कहा भी है, "ला इक्राहा फ़िद् दीन", यानी मज़हब के मामिले में कोई ज़बरदस्ती नहीं है, "लकुम दीनुकुम् वले यदीम्", यानी तुम्हारे लिये तुम्हारा दीन, हमारे लिये हमारा दीन, "उद् एला सबीलि रब्बिका बिल् हिक्मते वल् मौएज्जतिल् हसनते", यानी रब्ब की तरफ़ बुलाओ लोगों को हिकमत की राह से, और अच्छी नसीहतों से।

कहनी से करनी बड़ी।

सबसे उम्दा हिकमत तो अपनी ज़िंदगी का नमूना है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः।

"एक्ज़ाम्पल् टीचेज़ बेटर दैन प्रीसेप्ट"।

जिसको लोग जानते हैं कि यह आदमी अच्छा है, नेकनीयत है, सच बोलता है, धोखा नहीं देता, दूसरों का दिल से भला चाहता है, उसकी शिक्षा को सभी बातों में लोग मानने लगते हैं। पैग़म्बर मुहम्मद को उनके जान पहिचान के आदमी 'अल् अमीन', यानी विश्वासपात्र, कहके पुकारते थे। इससे बढ़कर दूसरा ख़िताब हो नहीं सकता। आज भी यही अपनी आँखों के सामने देख लीजिये, गान्धीजी को उनके दुश्मन भी अच्छा ही कहते हैं। अपनी ज़िंदगी, अपनी रहन सहन, अपने चाल चलन की ख़ूबी से ही अपने धर्म का प्रचार करना—यह सबसे अच्छा तरीका है। इत्रफ़रोश गन्धी की दूकान के लिये

"साइनबोर्ड" की ज़रूरत नहीं है, उसकी खुशबू ही सबको खींचती है। उमदा मिठाई की दूकान पर लड़कों को ज़बरदस्ती नहीं ले जाना पड़ता। हाँ, दूकानदार ऐसा बेतमीज़ भी न होना चाहिये कि जो कोई सौदा खरीदने आवे उसको दुतकार दे। कोई मज़हब वाले एक ग़लती करते हैं, तो कोई दूसरी। अब लोग समझने लगे हैं कि हिन्दू धर्म वालों ने अपने ऊपर सारी ज़वाल और मुसीबत ख़ास कर दूसरी बड़ी भूल की वजह से बुलायी है। सब मज़हबों को सिर्फ अपनी दूकान खुली रखना चाहिये, और सौदा उमदा रखना चाहिये। अपनी अपनी पसन्द के मुताबिक़ लोग आपही लेने आवेंगे।

मज़हब नहीं इन्सानियत फैलाइये।

यह ख़याल कि हमारा मज़हब फैलने से हमारी क़ौम मज़बूत हो जायगी—यह भी एक बड़ी झूठी माया है। इतिहास, तवारीख के एक एक पन्ने से मालूम होता है, और आज अपनी आँखों के सामने दिखाई देता है, कि हिन्दू राजा हिन्दू राजा से, ईसाई क़ौमें ईसाई क़ौमों से, मुसलमान राजा और क़ौमें मुसलमान राजा और क़ौमों से, वैसा ही बल्कि उससे ज़्यादा, लड़ते आये और लड़ते जाते हैं जितना दूसरे मज़हब वालों से। किसी मज़हब की ऊपरी नुमाइशी दिखौवा रीति रिवाजों के फैलने से कोई क़ौम मज़बूत नहीं होती, बल्कि उस इन्सानियत, मनुष्यता, मेल-मुहब्बत, नेकी के फैलने से जो सब मज़हबों-धर्मों का सत्तसार है। ये ऊपरी नामरूप तो कपड़े पहिरावे की सी बात है, जिसको जैसा मन भावै ओढ़ो या

छोड़ो। इनमें जबरदस्ती करना बड़ी भूल है, हाँ, सलाह, मश्विरा, परामर्श, शिक्षा, सभ्यता से देना जायज़ है।

जो लोग अपने मज़हब की तबलीग़, अपने धर्म का प्रचार, ज़बान से भी करना लाज़िमी ही समझें, वे शाइस्तगी से, सभ्यता से, दलील और हिकमत और युक्ति से, करें। अपने मज़हब की खूबियाँ दिखावें, पर दूसरे मज़हब की निंदा न करें। सब मज़हबों में जो मुश्तरका (समान) बातें है, उनका ज्यादा ख्याल रक्खें और जो खुसूसियत (विशेष) और ऊपरी फर्क की, रीतियों रस्मों की, बातें हैं, उनकी तरफ थोड़ा कम ध्यान करें। सब आदमी नेकचलन होकर खुदा, ईश्वर के प्यारे हो जायँ—इसकी फ़िक्र ज्यादा रखें। मेरी उठक बैठक की ही नक़ल सब करें—इसकी कम। अगर मुबल्लिग़ और प्रचारक लोग ऐसा अमल करें तो यह सब झगड़े जो आज बरपा हैं दूर हो जायँ। हिन्दुस्तान में दुनिया के सब मजहब मौजूद हैं। अगर यहाँ मज़हबी मेल का नमूना क़ायम हो जाय तो सारी दुनिया में इसका असर फैले। और प्रायः झगड़ा भी सिर्फ हिन्दुओं और मुसलमानों में ही देख पड़ता है। यह झगड़ा तभी दूर होगा जब अपने और दूसरे दोनों मजहबों की असलियत को पहचानैं, एक दूसरे के गुणों को, खूबियों को, ज्यादा देखैं, दोषों को, नुक़्सों को, कम, और एक दूसरे को जो कुछ कहैं सुनैं, समझैं समझावैं, वह शाइस्तगी (शिष्टता) से।

ज्यादती हर बात में बचाना चाहिये। धर्म मजहब की भी। इसमें भी जोश और चोभ का हमहमा सच्चे धर्म-मजहब

के खिलाफ है। कुरान में कहा है—"ला तअतदू इन्ना अल्लाहा ला योहिब्बुल मोतदीन", यानी हद से ज्यादा बढ़नेवालों से अल्ला परमात्मा मुहब्बत नहीं करता। यहां अर्थ संस्कृत में भी कहा है,—"आश्रयेत् मध्यमां वृत्तिं अति सर्वत्र वर्जयेत्" यानी बीच का रास्ता पकड़ो, और अति किसी काम में मत करो। हर आदमी को मुनासिब है कि अपने माँ बाप की, अपने अवतार मसीह रसूल की, इज्जत करे, पर यह मुनासिब नहीं कि कोई किसी से कहे कि तुम भी मेरे ही माँ बाप की इज्जत करो, अपने माँ बाप की नहीं। हाँ, जो सब का अव्वल माँ बाप, परमपितामह, अल्ला, परमात्मा, गाड् के नामों से, और रूह चेतना के रूप से, हर आदमी के भीतर ठा है उसकी पूजा दिल से सभी को करना चाहिये।

कौन ज़िम्मेदार ?

इस की ज़िम्मादारी, कि इस तरह पर अमल हो, धर्माचार्यों और मजहबी पेशवाओं पर है। उनको चाहिये कि मुँह देखी बात न कहें, झूठी बदनामी को न डरें, झूठी नेकनामी और वाहवाही की लालच न करें। धन दौलत, ऐश आराम, ऐश्वर्य हुकूमत का लोभ छोड़ें। आदर सम्मान इज्जत पर संतोष करें। अपनी अपनी उम्मतों को (अनुयायिवर्गों को) सच्ची सलाह दें। यह न कहें कि अभी लोग तैयार नहीं हैं, जमाना नहीं है। बुद्ध और मूसा, शंकर और रामानुज, ईसा और मुहम्मद, कबीर और नानक, ने जमाने का इन्तिजार नहीं किया, लोगों के तैयार हो जाने

का आसरा नहीं देखा, बल्कि अपनी रूह, अपने इल्हाम, अपने आवेश, के जोर से लोगों को तैयार किया और ज़माने को बनाया । युगप्रवर्त्तक, कालकारक, अबू-उल्-वक्त, हुए, प्रवाह-पतित, कालकृत, इब्नू-उल् वक्त नहीं। और मज़हबी पेशवाओं और धर्माचार्यों से भी एक मानी में ज्यादा जिम्मादारी जनता (अवाम) पर है । नौकर जब हाकिम और शाह बन गये, राष्ट्रप्रबन्ध (मुल्की इन्तिजाम) की जगह नौकरशाही हो गई, तो प्रजा को ही उसको फिर से दुरुस्त करने की फिक्र करनी पड़ी । प्रजा ही ने उन मुन्तजिमों (अधिकारियों) को मुक़र्रर (नियुक्त) किया था जो अब बिगड़ गये। अब प्रजा ही को उन्हें फिर अपने वश (काबू) में लाना है। इसके लिये प्रजा को अपनी बुजुर्गी (गुरुता, गौरव, बड़प्पन) पहिचानना चाहिये। तभी नौकर भी उसकी बुजुर्गी मानेंगे। यही हालत (अवस्था) धर्म और मजहब की है। अपने को पहिचानिये, अपनी रूह को जानिये, मजहबी स्वराज हासिल कीजिये । यह बहुत सहज भी है, और निहायत मुश्किल भी है। पच्छिम से पूरब की ओर, बाहर से भीतर की ओर, आँख फेरने की बात है।

आदमी आप सब मजहबों से बड़ा है ।

इस सभा में सभी मजहबों के मानने वाले मौजूद हैं। हर एक को अधिकार (इख्तियार) है कि अपने मज़हब को, अपने धर्म को, जब चाहे उतार दे, और जिस दूसरे मजहब-धर्म को चाहे ओढ़ ले, जैसे ही एक कपड़े को उतार कर दूसरे को पहिन

सकता है। इस छोटी सी बात पर आप लोग खूब गौर (ध्यान) कीजिये। बात सीधी है, प्रत्यक्ष है, आँख के सामने है, इसमें किसी दलील की जरूरत ही नहीं। इसकी तरदीद, इसका खण्डन, हो ही नहीं सकता। कैसे हो? रोज हम लोग देखते ही हैं कि कितने ही आदमी एक धर्म छोड़ कर दूसरा धर्म उठा लेते हैं। तबलीग और प्रचार के मानी यही हैं कि लोग एक धर्म को छोड़कर दूसरे धर्म को उठा लें। पर इस बात का असली नतीजा क्या निकलता है उस पर गौर कीजिये, इसका असली नतीजा यही निकलता है कि सब मजहबों और धर्मों से आदमी की रूह (आत्मा) बड़ी है, वही रूह इन सब मजहबों के बीच में तजवीज (निर्णय) करती है, कि कौन ज्यादा अच्छा और कौन कम अच्छा, किसको लेना चाहिये किसको छोड़ना चाहिये। सब पोथियाँ, वेद, जिंद-अवस्ता, इंजील, तौरेत, कुरान, त्रिपिटक, गुरुग्रंथसाहब, इत्यादि, तथा सब मजहबी पथप्रदर्शक (रहनुमा), अवतार, ऋषि, मुनि, रसूल, पैगम्बर, मसीह, नबी, सभी आप से दर्खास्त (प्रार्थना) करते हैं कि मुझको मानो, मुझको मानो। आप जिसको चाहते हो मानते हो, नहीं चाहते तो नहीं मानते और अलग, दूर हटा देते हो। इससे बढ़के क्या ज्यादा सरीही सबूत (प्रत्यक्ष प्रमाण) चाहिये कि आदमी की रूह इन सभों से बड़ी है? इस्लाम में बहत्तर और सनातन धर्म में बहत्तर सौ फिरके जो पैदा हो गये हैं वे भी, खराबी करते हुए भी, इसी इन्सानी रूह की बुजुर्गी, बड़प्पन, के सुबूत हैं, कि आदमियों ने ही मनमाना मजहबों की शकल वक्तन् वक्तन् (समय समय पर)

बदल डाला । जैसा सूफियों ने कहा है,

है अपने सीने में उससे ज़ायद जो बात वायज किताब
मसहफि दिल वीं कि किताबे बेह अज़ ईं नेस्त ।

अर्थात्, अपने दिल (हृदय) के कुरान—वेद को देखो, इससे बढ़ कर कोई किताब (पुस्तक) नहीं है ।

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।

आत्मा ही सब देवता है, सब कुछ आत्मा में, अपने में; अपने दिल में, भरा पड़ा है ।

दर हक़ीक़त खुद तु ई उम्मुल-किताब ।
खुद जि. ख़ुद आयाति ख़ुद रा बाज़ याब ॥

नितरां सत्य यह है कि तुम आपही कुरान की माँ, वेद-माता, हो । अपने विषय की, आत्मा के विषय की, आयतें (ऋचा) अपने आपे में से ढूँढ निकालो ।

ऐसी सब दलीलों (युक्तियों, हेतुओं) का निचोड़, सूफियों ने कुछ शेरों (श्लोकों) में रख दिया है ।

जाँ कि उस्ता रा शिनासा ख़ुद तु ई,
जुम्लः उस्ता रा खुद उस्ता हम तु ई ।
चूँ हक़ीक़त रा मुहक़्क़िक़ खुद तु ई,
ऐन हक़ ईनस्त ऐनुल-हक़ तु ई ।
हस्तिये रब रा मुजव्विज़ चूँ तु ई,
बिल यक़ीन अल्लाहु-अकबर ख़ुद तु ई ।

संस्कृत में इस भाव को यों कह सकते हैं,—

गुरोर्योग्यत्वविज्ञाता त्वं, ततोऽसि गुरोर्गुरुः ।
सत्यासत्यविनिश्चेता त्वं, ततोऽसि सतोऽपि सत् ।
ईश्वरास्तित्वनिर्णेता त्वं, ततोऽसि परेश्वरः ।

अर्थात्, उस्ताद (गुरु) की योग्यता (लियाक़त) पहिचानने वाले, यह आदमी गुरु मानने योग्य है या नहीं है इसका विवेक करने वाले, तो तुम ही हो, जिसको चाहते हो उसको अपना गुरु बना लेते हो, इसलिये नितरां तुम ही सब गुरुओं के गुरु हो । यह सत्य है, यह असत्य है, ऐसा निश्चय करने वाले तुम ही हो, जिस बात को चाहो सच मान लो, अर्थात् सच कर दो, सच बना दो, इसलिये सत् के भी सत्, सत्ता के हृदय, सत्ता के सार, सत्ता के कर्त्ता हर्त्ता, धाता विधाता, तुम ही हो । ईश्वर है या नहीं है, जीव से, संसार से, भिन्न, इनका बनाने, बसाने, बिगाड़ने वाला कोई दूसरा ईशिता है या नहीं है, इसका निर्णय करने वाली तुम्हारी ही रूह, तुम्हारी ही बुद्धि आत्मा है, तुम ही हो, इस लिये तुम स्वयं परम-ईश्वर, परम-आत्मा हो ।

तो इस रूह (आत्मा) को ही पकड़ना चाहिये । इसके बल से हम सबको चाहिये कि अपने अपने मज़हबों में, सामाजिक दस्तूरों में, देश के बंदोबस्त में, धर्मनीति, आचारनीति, राजनीति में, जो खराबियां आ गई है उसको दूर कर दें । यह मत कहिये कि यह तो धर्म-मज़हब की बात है, इसमें बोलने का काम नहीं । जब आपकी रूह को, आपके "स्व" को, यह ताक़त (शक्ति) है कि एक मज़हब को बिल्कुल छोड़ दे और दूसरे को बिल्कुल ओढ़ ले, तो क्या यह ताक़त

नहीं है कि मौजूदा मज़हब को जरूरत के मुताबिक़ घटा बढ़ाकर दुरुस्त कर ले ? और बिना ऐसे घटाये बढ़ाये, फिर्क़ और सम्प्रदाय बने कैसे ? यही सब ताक़त रखनेवाली रूह असली "स्व" है। हदीस में इसीलिये कहा है कि जिसने अपने को पहिचाना उसने खुदा को पहिचाना—"मन् अरफ़ा नफ़्सहू फ़क़द् अरफ़ा रब्बहू"। जब इस रूह को, जो खुदा का नूर है, हम लोग पहिचानेंगे, तभी मजहबी झगड़े मिटेंगे और मज़हबी स्वराज मिलेगा। और तभी राजनीतिक, सियासती, सच्चे स्व-राज को भी शक्ल हम पहिचानेंगे, और तभी वह स्वराज भी हमको मिलेगा। बिना इस सच्चे "स्व" को, अपने को, फिर से पहिचाने, हिन्दुस्तानी क़ौम में बुज़ुर्गी वापस नहीं आवेगी। एक महात्मा गान्धी से इस बत्तीस करोर के जत्थे का काम नहीं चलेगा। इस भारी गरोह में सच्ची रूह डालने के लिये, चन्दरोज़ा जोशाजोर्शा पैदा करने के लिये नहीं, बल्कि सच्ची रूहानियत, (आध्यात्मिकता, अध्यात्म-भाव) पैदा करने के लिये, हर एक जिले और हर एक शहर और क़स्बे में हमको ऐसे आदमी चाहियें जो महात्माजी के ठीक ऐसे नहीं तो उनके क़रीब तो होवें। और ऐसे बुज़ुर्ग तभी होंगे जब सब मजहबों के असली मुश्तरका उसूलों की, (मुख्य समान सिद्धान्तों को), तरफ़ सबका ध्यान दिलाया जायगा। क़ुरान में कहा है "कुल तआलौ एला कलेमतिन सवाइम् बैनना व बैनकुम्", सब लोग उस एक बात की तरफ़ आओ जो हमारे और तुम्हारे दर्मियान एक है। वेद में कहा है "सङ्गच्छध्वम् संवदध्वम् सं वो मनांसि जानताम्", सब लोग

एक साथ चलो, एक बात बोलो, एक ज्ञान जानो, एक सच्चे "स्व" को पहिचानो। यही सबसे ज्यादा ज़रूरी और पुरअसर अर्थात् प्रभावशाली उपाय है जिससे सच्चा और मजबूत स्वराज, धार्मिक भी, और राष्ट्रीय भी, हासिल (प्राप्त) होगा और क़ायम (स्थिर) रहेगा।

तफ़्रक़ा दर रूहि-हैवानी बुवद्।
रूहि-वाहिद रूहि-इन्सानी बुवद्॥
(मौलाना रूम)

भेद-बुद्धि पशु की अवस्था के जीव का लक्षण है। अभेद-बुद्धि, मनुष्यता का।

रूह् बा अक़्ल ओ इल्म दानद ज़ीस्त।
रूह् रा पारसी व ताजी (मुसलिम व हिन्दू) नीस्त॥
(सनाई)

जीवात्मा को, जीवन का अनुभव, बुद्धि और विद्या से होता है। रूह् को फारसीपन या अरबीपन (या मुस्लिम-पन या हिंदूपन) से मतलब नहीं।

मोकूँ कहाँ तू खोजै बंदे, मैं तो तेरे पास।
नहिं मंदिर में, नहिं मस्जिद में, मैं आतम विश्वास॥
(कबीर)

कहु नानक बिनु आपा चीन्हे मिटै न भ्रम की काई।
(नानक)

तुलसी चित चिंता न मिटै बिनु चिन्तामनि पहिचाने।
(तुलसी)

ढूंढने हार नूं ढूंढ खाँतूँ,
पया परत दे घर दा रस तैं नूँ ।
कहीं तू ही न होवें यार सब दा
फिरे ढूँढता जंगलों विच्च जिन्नूँ ॥
(बुल्ला शाह)

ऐ क़ौम ! ब हज रफ्ता ! कुजा एद, कुजा एद !
माशूक़ हमीं जास्त, बिआयेद, बिआयेद !
माशूक़ि तो हमसाय: तो, दीवार ब दीवार,
दर बादिया सरगश्ता चिरा एद, चिरा एद !
(शम्स तब्रेज)

(हे जे हज को है चले ! लौटि आव ! फिरि आव !
प्यारो तुमरो तो यहीं, तुम इत उत कित जाव ?
मीत ! सँटो तुव भीत तें वाके घर की भीत !
मरु जङ्गल भटकत फिरत क्यों भूले भरमाव ?)

दिला तवाफ़ि-दिलाँ कुन कि काबए-मख़फ़ीस्त ।
के आँ ख़लील बिना कर्द व ईं ख़ुदा ख़ुद साख़्त ॥

(दिल ! फेरी करु आपनी, अरु काबा की नाहिं ।
तोहिं रच्यौ परमातमा, अरु ख़लील तो ताहि ।
साँचो काबा है तुही, क्यों खोजै तू वाहि ॥)

शिवमात्मनि पश्यंति, प्रतिमासु न योगिनः ।
आत्मस्थं ये न पश्यंति तीर्थे मार्गंति ते शिवम् ॥
(शिव पुराण)

आत्मानंदः, आत्मरतिः, आत्मक्रीडः, आत्मतृप्तः, स स्वराड् भवति । (छांदोग्य)

सच्चे आत्मा को पहिचानो, आत्मगौरव, आत्मसम्मान, अपने में लाओ, इसीसे झूठे कृत्रिम बनावटी धर्म-मजहबों के बंधन और झगड़े भी छूटेंगे, और अन्यायी परराज के भी क्लेश दूर होंगे, और सच्चा स्वराज, आध्यात्मिक भी और राज-नीतिक भी, मिलेगा ।

॥ ॐ आत्मानंद ॥

ऋणत्रय की एक पुरानी कहानी।

[संवत् १९६४ (सन् १९०७) में, काशी नागरी प्रचारिणी सभा के भवन में, श्री भगवान्दास ने यह भाषण किया।]

कथा भाग।

संवत् १९५४, सन् १८९६-१८९७ ई०, के शीत ऋतु में, मुझको बाराबंकी के शहर में, (जहाँ मैं गवर्मेंट की नौकरी के संबंध से गया हुआ था) अपने मित्र पंडित परमेश्वरीदास जी वकील के घर पर, एक पण्डित मिले। नाम उनका धनराज था। मैंने सुना कि बचपन में ही उनकी दोनों आँखें शीतला के रोग में जाती रहीं, पर धारणा-शक्ति अद्भुत है, और बहुत से प्राचीन और बहुमूल्य ग्रन्थ उनको कण्ठस्थ हैं। उनसे बातचीत करने पर मेरा मन उनकी ओर बढ़ा।

उनका कहना था कि जिन बातों के केवल पूछने ही से, आधुनिक पंडित-समाज में, मनुष्य नास्तिक और भ्रष्ट समझा जाता है, उन सबका उत्तर विस्तार पूर्वक इन प्राचीन ग्रन्थों में लिखा है। उदाहरण के लिये कहा कि बाल्यावस्था में मैंने जब गुरुजी से पूछा कि गुरुजी, पाणिनि के व्याकरण में माहेश्वर सूत्र चौदही क्यों हैं, पन्द्रह अथवा तेरह क्यों नहीं हैं, अथवा अइउण् पहिले क्यों है, ऋलृक् पहिले क्यों नहीं है, अथवा पहिले सूत्र के अंत में इत् ण् क्यों है, क् क्यों

नहीं, तो इन सब प्रश्नों के उत्तर के स्थान में मारपीट ही पाई। पीछे उनको किसी घूमते फिरते सन्यासी ने, लड़के की बुद्धि अच्छी देख के, पता दिया कि यदि तुमको इन बातों की रुचि है तो ऐसे स्थान में ऐसे पण्डित के पास अस्त्र माहेश्वर सूत्र, बीस हज़ार, और नारदीय भाष्य, साठ पैंसठ हज़ार, ग्रन्थ संख्या के हैं, उन पण्डित के पास जाकर पढ़ो। इन ग्रंथों का एक श्लोक अब तक बाज़ार में भी सुन पड़ता है—

यान्युज्जहार माहेशाद् व्यासो व्याकरणार्णवात्।
तानि किं पदरत्नानि मान्ति पाणिनिगोष्पदे॥

नेत्रहीन लड़का एक और लड़के के साथ बाप के घर से भागकर वहाँ पहुँचा। उसको अधिकारी जानकर पण्डित ने उसका आदर किया और ग्रन्थ पढ़ाया। उसने उनको कण्ठ में रख लिया। और तो कोई स्थान रखने का उनके पास था ही नहीं। एक पण्डित के घर से दूसरे पण्डित के यहाँ के गुप्त प्राचीन ग्रन्थों का पता लगाकर, और खोज खांज कर, इन अमूल्य रत्नों को अपने स्मृति के भंडार में वह संचय करता रहा। कई लक्ष श्लोक उसने कंठस्थ कर लिये।

यह सब आत्मोदंत उन्हीं नेत्रहीन पण्डित ने मुझसे कहा। इसमें कितना अंश सत्य है, कितना नहीं, इसके निर्णय के लिये मेरे पास कोई स्वतंत्र निश्चायक प्रमाण नहीं।

विषय-प्रवेश।

ऐसा सुनके मैंने उनसे पूछा कि किसी प्राचीन ग्रन्थ में आपको ब्रह्म पदार्थ का निरूपण इन शब्दों में भी मिला है,

अर्थात "अहं एतत् न"—"मैं यह नहीं"? कुछ देर वे चुप रहे, फिर बोले, हाँ, इन्हीं अक्षरों से ब्रह्म का निरूपण गार्ग्यायण ऋषिकृत "प्रणववाद" नाम के ग्रन्थ में किया गया है। और कुछ अंश गद्यपद्यमय उन्होंने पढ़ के मुझको सुनाया। उस समय तो वह सब वाक्य मेरी समझ में नहीं आये। यद्यपि संस्कृत-ऐसे जान पड़ते थे, पर संस्कृत कुछ विशेष प्रकार की थी। हां, ये तीन शब्द "अहम्—एतत्—न" उस अंश अवश्य पहिचान पड़े, जैसे दूर से गहन अंधकार में दीपक देख पड़ता है। इससे मेरी इच्छा उस ग्रन्थ को आद्योपान्त सुनने की बढ़ी। पर बाराबंकी से मुझे दूसरे स्थान को शीघ्र ही जाना हुआ और पण्डित धनराज जी अपने घर को, जो बस्ती के ज़िले में, तहसील खलीलाबाद, डाकखाना मेंहदावल, मौज़ा बेलहर कलाँ में (उनके कथनानुसार) था, चले गये। तीन वर्ष पीछे जब मैं गवमेंट की नौकरी छोड़कर, सेंट्रल हिंदू कालेज के कार्य में यथाशक्ति सहायता करने के लिये बनारस आया, तब फिर उनसे संवत् १९५७ (१९००ई०) में समागम हुआ। मैं ने उनको पंडित परमेश्वरीदास जी के यहाँ से बुला कर अपने पास काशी में पांच महीने रक्खा। और इस समय में, क्रमश मैंने, तथा पण्डित गंगानाथ झा ने, जो अब प्रयाग में म्योर कालेज में संस्कृत के प्रोफ़ेसर हैं, और पण्डित अम्बादास शास्त्री ने, प्रणववाद ग्रन्थ, १६००० श्लोक संख्यात्मक, गद्य-पद्यमय, उन नेत्रहीन पण्डित के कण्ठोद्धार से लिख लिया। उसी ग्रन्थ का हाल आपसे कहता हूँ।

इस ग्रन्थ में यह विस्तार से कहा है कि प्रणव के जो तीन

अक्षर हैं, अ, उ, और म्, उनका अर्थ अहम्, एतत्, और न—यही है, और इन तीन का समाहार ही ब्रह्म का स्वरूप है।

अब आप लोग इस चिंता में होंगे कि "अहम्-एतत्-न" यह क्या रहस्य है, और प्रणव के अति पवित्र माने हुए शब्द में इस अर्थ को पहिना देने का क्या फल है। "हिन्दू" मात्र के कान में और मुँह में यह बात है कि सारे संसार का सार वेद है, और वेद का सार गायत्री, और उसका भी सार और मूलबीज प्रणव है। प्रणव ही से वेद की और वेद से संसार की, उत्पत्ति है। पर इस प्रथा का अर्थ क्या है, प्रणव से वेद और वेद से संसार कैसे निकलता है, इस प्रश्न का उत्तर प्रचलित शास्त्र-ग्रन्थों और उनके शास्त्रियों से नहीं मिलता। यह सब उत्तर उस प्राचीन ग्रन्थ में मिलता है, यह मैं आपको दिखाने का यत्न करूँगा।

अपना अनुभव।

पर इसके पहिले आपको यह बताना उचित है कि मैं किन विचारों के मार्ग से इस महावाक्य, "अहम्-एतत्-न" के पास, पूर्व संस्कारों से प्रेरित होकर, संवत् १९४४ में पहुँचा। क्योंकि प्रणववाद ग्रन्थ में यह अंश, साधनिका का, जिज्ञासु के इस महावाक्य तक क्रमशः पहुँचने का, नहीं कहा है। प्रत्युत, यह महावाक्य सिद्धवत् मान लिया गया है, और संसार में, तथा विविध शास्त्रों में, उसके भाव की व्याप्ति का व्याख्यान किया है। बिना इस पूर्वाङ्ग के, इस साधनिका के, जाने, प्रणववाद ग्रन्थ का सब विषय प्रायः अस्पष्ट और

दुरूह रह जायगा। इसलिये मैं आपका निमंत्रण करता हूं कि थोड़ी देर के लिये आप मेरे साथ इस विचार मार्ग पर चलिये।

जिज्ञासु से ही कहना।

यहाँ ऐसी शंका हो सकती है कि पुरानी मर्यादा है, "नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात", जब तक कोई पूछे नहीं तब तक कुछ कहना नहीं, विशेष करके अध्यात्म विषय में। जिसको भूख नहीं उससे खाने के लिये निर्बंध करना स्पष्ट ही अनुचित है। फिर मैं आपको ऐसा निमंत्रण उलटा क्यों देता हूँ? तो ऐसा नहीं। मैं प्राचीन मर्यादा का पालन ही कर रहा हूँ? क्योंकि मर्यादा नितरां हेतुयुक्त है। जिसको भूख नहीं उसको भोजन देना अनुचित है, हानिकारक है। जिसको सुनने की इच्छा नहीं उसको सुनाना दोषकर ही है। पर नागरी प्रचारिणी सभा के अधिकारियों ने मुझे प्रस्तुत विषय पर कहने का निमंत्रण दिया, और आप लोग यहां पधारे हो, इसीसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि आप सब सुनना चाहते हो। और इसी हेतु से मुझे भी उत्साह होता है कि मैं आपको प्रतिनिमंत्रण दूं कि आप सुनिये और मेरे साथ इस विचार मार्ग पर चलिये। इस मार्ग पर पहिला पदपात यह है,

दुःखत्रयाभिघाताज् जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।

(सांख्य कारिका)

अंतिम प्रश्न।

अनन्त जीवों की अनन्त इच्छा एक मात्र यही है कि

सुख हो और दुःख न हो। इन अनन्त जीवों ने सुख दुःख भी अनन्त प्रकार के मान रक्खे हैं, और इस कारण से उपाय और चेष्टा भी अनन्त प्रकार की करते हैं। पर अनुगम करने से सब सुखों का मूलस्वरूप एक, और सब दुःखों का भी मूल स्वरूप एक, ही जान पड़ता है। "मैं", "अहम्", आत्मा, की वृद्धि—यही सुख का स्वरूप है। इसकी हानि—इसकी सत्ता की कमी—यही एक दुःख का स्वरूप है। कारण भी इसका स्पष्ट है। यद्यपि उपाधि के भेद से जीव अनन्त हैं, पर मूलस्वरूप सबका भी एक "मैं" ही है। इसी कारण से मनु ने कहा है।

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखं।
एतद्विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥

उपनिषदों में भी कहा है, "आत्मनस्तु कामाय सर्वं वै प्रियं भवति," "आत्मा वै श्रेष्ठश्च प्रेष्ठश्च"। आमंत्रितो अहम् अयम् इत्येवाग्रे उक्त्वा अथ अन्यन् नाम प्रब्रूते यद् अस्य भवति। (वृ० आ०)

जहाँ जहाँ अपनापन है, अपना वश चलता है, अपनी हुकूमत है, वहाँ सुख है। जहाँ जहाँ परायापन, परतन्त्रता, दूसरे की हुकूमत है, वहाँ वहाँ दुःख है। "मैं" के ही लिये जो कुछ भी प्रिय है वह प्रिय है। "मैं" ही सबसे श्रेष्ठ भी है, प्रेष्ठ (प्रियतम) भी है। जीव अपने को जैसा भी मान ले उसी प्रकार के अहं की वृद्धि और ह्रास से उस काल में उसको सुख और दुःख होता है। यदि अपने को बलवान्, या रूपवान्, या यशस्वी, या धनी मान लिया है तो बल, या रूप, या यशस्,

या धन की वृद्धि हानि से उसको सुख दुःख होता है। यदि प्रतिष्ठा में उसका अहंभाव, अहकार, है, तो प्रतिष्ठा के वृद्धि-ह्रास से सुख-दुःख होता है। यदि कीड़ा अथवा पशु अथवा पक्षी बना है तो उसी कीटता पशुता और पक्षिता की वृद्धि हानि में वह सुख दुःख का अनुभव करता है। यदि वह विषय भोगी है तो विषयिता की वृद्धि हानि से। यदि तपस्वी है, वा विद्यानुरागी है, तो तपस्विता वा विद्वत्ता की वृद्धि हानि में वह सुख दुःख मानता है। यदि मनुष्य या राजा या देवता है तो मनुष्यत्व की या राजत्व की या देवत्व की सामग्री की वृद्धि और हानि से सुख और दुःख भोगता है। यदि ब्रह्मांड का अधिपति, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, आदि, है तो ब्रह्मत्व, विष्णुत्व, शिवत्व, आदि के वृद्धि ह्रास में। यदि स्त्री है तो स्त्रीत्व, पुरुष तो पुरुषत्व, के। अर्थात् जिस बात का अहंकार है, जिसमें "अहंता" (और उसीका किंचित् मृदु वा तरल आकार "ममता") है उसी अहं (और मम) के पोषण से सुख और शोषण से दुःख पाता है।

अब सबसे बड़ी परतन्त्रता मृत्यु की है इससे कोई भी बचा नहीं है। राम ने वसिष्ट से पूछा—

परमेष्ठ्यपि निष्ठावान् ह्रियते हरिरप्यजः।

भवोऽप्यभावमायाति कैवास्था मादृशे जने ॥(यो० वा०)

परमेष्ठी ब्रह्मा भी, अज हरि विष्णु भी, भव शिव महादेव भी, काल से लुप्त हो जाते हैं, तो मेरा ऐसा क्षुद्र जीव कैसे धीरज धरै ?

व्यास ऐसे पिता ने शुक ऐसे पुत्र को यही उपदेश दिया—

किं ते धनेन किमु बन्धुभिर्व वा ते
किं ते दारैः पुत्रक यो मरिष्यसि ।
आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टं
पितामहास्ते क्व गतः पिता च ॥

हे पुत्र ! पत्नी, पुत्र, बन्धु, धन दौलत, कोई भी मौत के आगे काम न आवेंगे । (हृदय—) गुहा के भीतर छिपे हुए आत्मा की खोज करो । पता लगाओ कि पिता पितामह कहां से आये, कहां हैं, कहाँ गये, कहाँ जायगे । आत्मा का पता लगने से सबका पता लग जायगा ।

नचिकेता ने यम से यही वर माँगा—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये
अस्तीत्येके नायमस्तीति चान्ये ।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं
वराणामेष वरस्तृतीयः ॥

मनुष्य मर जाता है । देखने वालों को संदेह होता है कि जीव बचा है कि नहीं । इसका रहस्य बताओ । सच क्या है ? जीव, आत्मा, अमर है या नहीं ? यम ने धन दौलत, माहाराज्य, साम्राज्य, रूप रंग, सुंदर स्त्री पुत्र, अति दीर्घ आयु आदि की लालच बहुत दी । पर लड़के ने यही कहा कि जब तुम मृत्यु के स्वरूप से सामने आ खड़े होगे तब ये सब किस काम आवेंगे ? इसलिये यह परम रहस्य ही बताओ, यही मेरा अन्तिम वरण है, यही सबसे अधिक चाहता माँगता हूँ ।

यदि मौत के भय से छूटै तो जीव सब परतन्त्रता से

छूटें, और तभी उसकी आत्मवशता और सर्वश्रेष्ठता सिद्ध हो। तब यह कह सके कि मैं सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी हूँ। तभी इसको परमानन्द हो। "भूमा वै सुखम।" तभी आत्मा की, अहम् की, "मैं" की, भूमा अर्थात् बहुता, बड़प्पन, सिद्ध हो। "नाल्पे वै सुखमस्ति", आत्मा के छोटेपन में सुख नहीं, जब तक आत्मा अपने को छोटा, किसी से भी छोटा, किसी के भी अधीन, किसी के भी परवश, किसी प्रकार से भी मृत्यु के वश, समझता है, तब तक सुखी नहीं।

विचार सोपान।

इस मौत के भय से छूटने के लिये बड़े बड़े विचार मनुष्यों ने किये। एक सर्वस्रष्टा परमेश्वर को माना। आरंभ वाद में विश्वास किया। परमेश्वर की भक्ति से अमरत्व मिलेगा। भक्ति शास्त्र बने। न्याय वैशेषिक दर्शन बना। उससे सन्तोष नहीं हुआ। महा पराधीनता तो बनी ही रही। यदि परमेश्वर रुष्ट हो जाय तब क्या होगा? यदि भक्तिप्रदर्शन से, स्तुति से, वंदना से, अनवरत सेवकता, दासता, गुलामी से, चित्त में कभी ग्लानि उत्पन्न हो, और परमेश्वर की इच्छा के प्रतिकूल कोई बात अपने से होजाय, तब तो अमरता गई? और भी। यदि परमेश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वकल्याणमय है, तो फिर उसके बनाये संसार में इतना दुःख, इतना पाप, क्यों? क्या परमेश्वर भी विषम है, असमदर्शी, पक्षपाती, दुजाबगी करने वाला, एक को सुख और बहुतों को बहुत दुःख जान बूझ कर देने वाला, क्रूर और निर्घृण है? ऐसी असमाधेय शँकाएं उठीं। नास्तिक दर्शन

बने। सांख्य योग बने। पुरुष और प्रकृति दो अनन्त अनादि पदार्थ माने गये। परिणामवाद चला। इससे भी सन्तोष न हुआ। मतलब तो सदा यही रहा कि एक ही पदार्थ हो, दूसरा न हो, और वह एक पदार्थ स्वयं अहम् आत्मा "मैं" हो, कि दूसरे का भय न हो, तब तो स्वतन्त्रता सिद्ध हो। यह अभिप्राय तो सिद्ध नहीं हुआ। और दो अनन्त कैसे? आपस में टकरायेंगे नहीं? "द्वितीयाद् वै भयं भवति।" इन घोर शंकाओं ने फिर जिज्ञासु को आगे बढ़ाने को धक्का दिया। मायावाद, अविद्यावाद, अध्यासवाद, आभासवाद, विवर्त्तवाद, चला। वेदान्त दर्शन बना। एक आत्मा और उसकी ही माया से उसी को अनन्त उपाधि और अनन्त सुख दुःख का मिथ्या जञ्जाल, और वह एक आत्मा मृत्यु से परे। पुरुष और प्रकृति नहीं, असंख्य पुरुष और एक प्रकृति नहीं, किन्तु पुरुष की प्रकृति, एक पुरुष परमात्मा की अनंत प्रकृति, माया, शक्ति।

यहाँ तक तो वेदान्त दर्शन आया, और बहुत दूर आया। संसार के दो विभाग कर डाले, एक "मैं", विषयी, और एक "यह" सब कुछ जो मैं से अलग है, विषय है, इतर है, अन्यत है, आत्मा का विवर्त्त है, विरुद्ध है, उलटा है, आभास मात्र है, अहं पर, आत्मा पर, अध्यस्त है, अध्यारोपित है। और यह कहा कि "मैं" ही तो सच है, और "यह" सब कुछ मिथ्या है। पर शङ्का फिर भी रह गई। "यह" कहाँ से आया, क्यों आया? "मैं" का और "यह" का संबन्ध मिथ्या ही सही, पर क्यों हुआ और कैसे हुआ? और यदि एक बेर हुआ तो फिर फिर क्यों नहीं होगा? क्या आशा कि इससे कभी पूरा

छुटकारा हो जायगा ? जो वेदान्त के महावाक्य प्रचलित हैं उनसे पूरा पूरा सन्तोष नहीं होता। कोई तो आत्मा को क्रियावान् सिद्ध करते हैं। "सोऽकामयत बहु स्यां, प्रजायेय।" "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्", इत्यादि। अर्थात्, उस एक अद्वितीय परमात्मा ने चाहा कि मैं जो अकेला हूं सो बहुत हो जाऊं, मेरी बहुत सी प्रजा हो जायँ। और उसने शरीर रचा और उसी में स्वयं प्रवेश किया।

कोई केवल निष्क्रिय सिद्ध करते हैं। "अहं ब्रह्मास्मि", "नेह नानास्ति किंचन" इत्यादि। अर्थात, मैं ब्रह्म हूं, एक हूं, मैं ही हूं, नाना अर्थात् अनेक वस्तु, अनेकता, असत् है, है ही नहीं।

पर इन दोनों प्रकार के महावाक्यों से हमारा सन्तोष नहीं होता। हमको तो ऐसा वाक्य चाहिये कि जिसमें सारा संसार हमारी मुट्ठी मे बन्द हो जाय। ब्रह्म की, अर्थात् "मैं" की, निष्क्रियता में भी विकार न आवे (क्योंकि यदि उसमें क्रिया पैदा हुई तो यह किसी न किसी कारण से परतन्त्र हो जायगा, और परिवर्तनशील होकर मौत के मुँह में भी पड़ सकेगा, "परिपूर्णस्यका स्पृहा"), और, साथ ही इसके, संसार की सक्रियता, जो प्रतिक्षण प्रत्यक्ष देख पड़ती है, वह भी समझ में आजाय। मिथ्या शब्द का अर्थ केवल आँख बन्द करके निषेध ही का, अभाव ही का, न रह जाय, बल्कि ठीक ठीक समझ में आजाय।

यह बात "अहम् ब्रह्म" और "न इह नाना अस्ति किंचन" इन दोनों वाक्यों को एकत्र करने से सिद्ध होती है।" अहं (नाना, किंचन =) एतत्—न।"

शैल-शिखर-प्राप्ति।

"अहम्-एतत्-न"="मैं-यह-नहीं"। यह ऐसा महावाक्य है कि जिसमें दोनों बातें सिद्ध होती हैं। यदि इन तीनों पदार्थों को एक साथ लीजिये तो केवल एक एकाकार एकरस अखण्ड निष्क्रिय संवित् देख पड़ती है। "मैं-यह-नहीं" इसमें कोई क्रिया विक्रिया नहीं है, कोई परिवर्त परिणमन नहीं है। केवल एक बात सदा के लिये कूटस्थवत् स्थिर है, अर्थात् केवल "मैं" है और "मैं" के सिवाय और कुछ नहीं है। अथ च "मैं" अपने सिवाय कोई अन्य वस्तु, अन्य पदार्थ, ऐसे ऐसे रूप रंग नाम आदि का, नहीं हूँ। यदि इस वाक्य के दो खण्ड कीजिये, पहिले "मैं-यह" और फिर "यह-नहीं" तो इसी वाक्य में संसार को सब कुछ क्रिया, इसके सम्पूर्ण परिवर्त का तत्व, देख पड़ता है। "मैं-यह-हूँ," यही जीवन का, जनन का, शरीरधारण का, स्वरूप है। "मैं-यह-नहीं-हूँ," यही मरण का शरीरत्याग का, स्वरूप है। क्रियामात्र का यही द्वन्द्व स्वरूप है। सब क्रिया जोड़ा जोड़ा चलती है—लेना और देना, पकड़ना और छोड़ना, बढ़ना और घटना, हँसना और रोना, जीना और मरना, उपाधि का ग्रहण करना और उसमें अहंकार करना और फिर उसको छोड़कर उससे विमुख होना, पहिले एक वस्तु में सुख मानना और उसी वस्तु में पीछे दुःख मानना। अध्यारोप और अपवाद, प्रवृत्ति और निवृत्ति, इन दो शब्दों में संसार का, संसरण का, तत्त्व सब कह दिया है। यदि सम्पूर्ण दृष्टि, समष्टि दृष्टि, परमार्थ दृष्टि, से देखिये, तो इस वाक्य में सम्पूर्ण संसार, अनादि

और अनन्त, सर्वकाल और सर्वदेश के लिये, निस्पंद, निष्क्रिय, शिला के ऐसा बन्द है। योगवासिष्ठ में महाशिलासत्ता का रूपक बांधा है। यदि खंड दृष्टि से, व्यष्टि दृष्टि से, व्यवहार दृष्टि से, देखिये तो इसमें क्रिया और क्रम है। रामायण की पोथी समग्र यदि हाथ में उठा लीजिये तो राम का जीवन वृत्तान्त सम्पूर्ण इसमें प्रतिक्षण मौजूद है। यदि एक एक पन्ना देखिये तो क्रम पैदा होता है। वैसी ही इस वाक्य की दशा है। यदि इसको समग्र उठा लीजिये तो सब संसार "सर्वं सर्वत्र सर्वदा" इसमें है। यदि एक एक "यह" को लीजिये तो अनन्त क्रम पैदा हो रहा है।

इसकी बारीकियों के विस्तार से विचार करने का यहाँ अवसर नहीं। यह सब सूक्ष्म परीक्षा निरीक्षा समीक्षा मैं ने "दि सायंस आफ़् पीस्" और "दि सायंस आफ़् दि इमोशन्स" (अर्थात् "शांति शास्त्र" और "क्षोभ शास्त्र") नाम के दो ग्रंथों में (अंग्रेज़ी भाषा में) यथा शक्ति विस्तार से लिखने का यत्न किया है। अंग्रेज़ी में लिखने की समापत्ति कैसे हुई, यह मैंने उक्त दूसरे ग्रंथ की भूमिका में कहा है। आप सरीखे विज्ञजनों की रुचि इस ओर देखकर आज हिंदी में कुछ कहने का मुझे सौभाग्य और उत्साह प्राप्त हुआ है। यदि ऐसी अभिरुचि बनी रही तो हिंदी में और भी कहने लिखने का साहस करूँगा। इस स्थान पर केवल इतना ही कहके आगे चलता हूँ कि जो जो दार्शनिक मत इस समय प्रचलित हैं उन सबका तत्त्व इस वाक्य में मौजूद है। उन सबके विरोध का परिहार और सर्वसमन्वय का मार्मिक

रहस्य भी इसमें है। और जो जो कमी इनमें से एक एक में है वह सब इसमें पूरी हो जाती है। द्रष्टा और दृश्य, भोक्ता और भोग्य, विषय और विषयी, ज्ञाता और ज्ञेय, एष्टा और इष्य, कर्त्ता और कार्य, जीव और देह, चेतन और जड़, आत्मा और अनात्मा, "मैं" और "यह", दोनों इसमें मौजूद हैं। इन दोनों का स्वरूप भी इसमें है, अर्थात् एक का सत् और दूसरे का असत्। इन दोनों का संबंध भी इसी में है, अर्थात् निषेधरूपी, और यह बात भी इसी में पैदा होती है कि जिस जिस वस्तु का निषेध, प्रतिषेध, अपलाप, अपवाद, निराकरण, निरास किया जाता है, उसका पहिले अभ्युपगम, अध्यारोप, विधान, संभावन, संकल्प, अध्यास कर लिया जाता है। पहिले यह माना जाता है कि उसका सम्भव है और तब उसकी वास्तवता का निषेध होता है। इसी से असत् पदार्थ पर सत्ता का मिथ्या आरोप देख पड़ता है।

मैं अपने विषय में तो यह कह सकता हूँ कि जबसे मेरे हृदय में इस त्रिपदात्मक महावाक्य और तद्वाच्चित त्रिपदार्थसमाहारात्मक संवित् का उदय हुआ तब से मेरी बहुत सी शंका निवृत्त हुईं, बहुतेरे सिद्धांतविषयक सामान्य विषयक प्रश्नों का उत्तर मिला, (विशेष तो असंख्य हैं, असंख्य विशेषों का ज्ञान तो अनंत काल, अनंत देश में, अनंत क्रियाओं से ही हो सकता है), सनातन-वैदिक-बौद्ध-आर्य-मानव धर्म कैसे अध्यात्मविद्या से, ब्रह्मविद्या से, उत्पन्न हुआ, और कैसे उस पर प्रतिष्ठित निष्ठित है, यह बात कुछ कुछ समझ में आई, विरोधों के परिहार का, भेदों के समन्वय का, मूल-

सूत्र हाथ लगा, प्राचीन आर्ष ग्रंथों में जो वाक्य और अर्थ नीहार से आच्छन्न थे उन पर कुछ कुछ आलोक पड़ा और मार्ग सूझने लगा। मेरे लिये तो यह वाक्य और संवित् अँधेरे में दीया-बत्ती हुए। और अंतरात्मा से, परमात्मा से, मेरी प्रार्थना है कि औरों को भी ऐसे ही होवैं। जब से यह महामंत्र कहिये, महावाक्य कहिये, जिससे परमात्मा के, चैतन्य के, संवित् के, स्वभाव का, संसार के मूल नियम का, नियति का, व्याख्यापन होता है, मेरे मन में उदित हुआ, तभी से मुझको ऐसा भान होने लगा कि हो न हो प्रणव के तीन अक्षरों का यही अर्थ होगा। पर, निश्चय नहीं होता था। उपलब्ध ग्रंथों में इस अर्थ की चर्चा नहीं। प्रणववाद सुनने पर यह निश्चय हुआ।

प्रणव-वाद का विषय। महावाक्य।

इस वाक्य से जो फल उत्पन्न होते हैं, उनका वर्णन विस्तार से प्रणववाद में किया है। उन्हे थोड़े मे मैं आपसे कहता हूँ।

प्रणव के तीन अक्षरों का अर्थ तीन शब्दों से किया गया और एक मूल महावाक्य निकला। "अ" का अर्थ "अहम्" (आत्मा), "उ" का अर्थ "एतत्" (अनहम, अनात्मा), "म" का अर्थ "न" (निषेधात्मक सम्बन्ध)। आदि महावाक्य हुआ "अहम्-एतत्-न," जो परमात्मा अथवा ब्रह्म का स्वरूप और स्वभाव और प्रकार अर्थात् संसार दिखाता है। इन तीन शब्दों के जोड़ तोड़ और उलट फेर से अवान्तर

महावाक्य निकलते हैं। एक एक महावाक्य संसार के एक एक विभाग और प्रकार का नियम वा क़ानून है, उसीके अनुसार संसार का वह विभाग चलाया जाता है। जैसे आज काल के किसी राज्यप्रबन्ध में बीसियों अथवा पचासों सीगे और महकमें है, और हर एक सीगे और महकमें के चलाने के लिये सिद्धांत और विधि विधान, उसूल क़ायदे कानून, नियत हैं, और उन्हीं नियमों के अनुसार सरकारी नौकर उन विभागों का काम चलाते हैं, तैसे ही एक एक महावाक्य एक एक ईश्वरी कानून की किताब का हृदय है, बीज है, मूल-मंत्र है, और देवता और ऋषि और जीवन्मुक्त आदि जो उस उस विभाग के अधिकारी हैं, वे उन क़ानूनों को अमल में लाते हैं, और उनके अनुसार संसार का व्यवहार चलाते हैं।

एक शब्द "अदालत" कहने से सैकड़ों न्यायालय और हज़ारों कर्मचारी और लाखों वादी प्रतिवादी साखी दफ्तर और दफ्तर वालों की सूचना होती है। एक शब्द "माल" से एक बड़ा भारी प्रबन्ध देश भर की आमदनी-खर्च, आय-व्यय, आयात-निर्यात, का आँख के सामने आ जाता है। एक एक शब्द सेना, शिक्षा, वार्त्ता अर्थात वाणिज्यव्यापार, खेती-बारी, कहने से देश के शासन और जीवन के एक एक बड़े अङ्ग का सूचन और स्मरण हो जाता है। वैसे ही एक एक महावाक्य से संसार मात्र के एक एक विभाग का, "प्रकार" का, ज्ञान होता है और व्यवहार चलता है।

संसार प्रबंध के मूल नियम।

मुख्य प्रकार कौन कौन हैं? किन किन महावाक्यों से उनकी सूचना होती है? उनके अमल करनेवाले अधिकारी कौन कौन हैं? इसके निर्णय निश्चय के लिये उसी मूल महावाक्य पर ध्यान करना चाहिए। क्योंकि उसीसे, और उसी में, सब संसार की सृष्टि, स्थिति, और लय, होना उचित है। "अहम्" अर्थात् "मैं" आत्मा का स्वरूप है। "एतत्" अर्थात् "यह" अनात्मा का स्वरूप है। इन दोनों का सम्बन्ध निषेधरूप है। "मैं यह नहीं हूँ"—इस भावना, इस धारणा, इस संवित् को यदि क्रमदृष्टि से देखिये तो इसमें तीन बातें अवश्य निकलती हैं। पहिले तो "मैं" के सामने "यह" पदार्थ आता है। इस क्षण में ज्ञान होता है। इसके पीछे "मैं" और "यह" के संयोग-वियोग का संभव होता है। यही इच्छा है। तीसरे क्षण में संयोग-वियोग होता है। यह क्रिया है। संयोग-वियोग दोहरा शब्द इसलिये कहा जाता है कि पहिले संयोग होकर पीछे अवश्य वियोग होता है। पहिले राग पीछे द्वेष, पहिले प्रवृत्ति पीछे निवृत्ति, पहिले लेना पीछे देना, पहिले जन्म पीछे मरण, पुनः जन्म पुनः मरण, यही संसरण क्रिया है।

ज्ञान, इच्छा, क्रिया।

बस ये ही तीन बातें ज्ञान, इच्छा, और क्रिया, जीवमात्र और जीवनमात्र का मुख्य प्रकार क्या सर्वस्व हैं। प्रतिक्षण में प्रत्येक जीव इसी ज्ञान, इच्छा, क्रिया,

ज्ञान, इच्छा, क्रिया, के फेरे में फिरा करता है। पहिले ज्ञान, तब इच्छा, तब क्रिया। और क्रिया के बाद फिर ज्ञान, फिर इच्छा, फिर क्रिया। यह अनन्त चक्र सर्वदा चल रहा है।

प्रणव में अकार ज्ञान का सूचक है, उकार क्रिया का, और मकार सदसदात्मक विधिनिषेधात्मक इच्छा का। अहं-आत्मा-पुरुष अथवा प्रत्यगात्मा में जो इन तीन पदार्थों का बीज है उसको सत्-चित्-और आनन्द के नाम से कहते हैं। अर्थात् ज्ञान चिदात्मक, क्रिया सदात्मक, और इच्छा आनन्दात्मक। तथा अनात्मा अर्थात् मूलप्रकृति में ये ही तीन पदार्थ सत्त्व ज्ञानात्मक, रजस् क्रियात्मक, और तमस् इच्छात्मक कहाते हैं। ये ही तीन प्रत्येक परमाणु और प्रत्येक ब्रह्माण्ड में सदा विद्यमान है। ब्रह्माण्ड में ज्ञान के अधिष्ठाता देवता का नाम विष्णु है। क्रिया के, ब्रह्मा। इच्छा के, शिव। ऐसे ब्रह्माण्ड अनन्त हैं और प्रति ब्रह्माण्ड में यह त्रिमूर्ति है। और त्रिमूर्ति के ऊपर और नीचे बराबर अनन्त शृंखला अधिकारियों की फैली है, जैसे राज्य के प्रबन्ध में यामिक, चपरासी, चौकीदार से लेकर सम्राट् शाहनशाह तक हैं। ये अधिष्ठाता देवता और अन्यान्य अधिकारी भी वैसे ही अपने अपने स्थान पर वैराग्य और निवृत्ति और मुक्ति की परीक्षा के पीछे नियुक्त किये जाते हैं, जैसे किसी पार्थिव राज्य के कर्मचारक योग्यता की परीक्षा के पीछे।

ऋग्वेद।

"अहं" (मैं), "अहं अस्मि" (मैं हूँ), "अहं ब्रह्मास्मि," (मैं ब्रह्म हूँ,) यह महावाक्य ज्ञान का सार है। इसका अमल

व्यवहरण, प्रयोग, विष्णु देवता के सपुर्द है। इसकी टीका ऋग्वेद है ऋग्वेद का मुख्य महावाक्य यही है। ऋग्वेद को इसीका विस्तार जानना चाहिये। विष्णु देवता के सीगे के क़ानून की किताब ऋग्वेद है। ज्ञानसर्वस्व इसमें मौजूद है।

यजुर्वेद

"एतत्" (यह), "एतत् (बहु) स्याम्" (यह, बहुत, होऊं), "एकोऽहं बहु स्याम्," (एक मैं बहुत हो जाऊँ) यह महावाक्य क्रिया का तत्त्व है और यजुर्वेद का मूलमंत्र है। इसके अधिष्ठाता देवता ब्रह्मा है। चारों वेदों के वक्ता ब्रह्मा इसलिये कहे जाते हैं कि वेदों के प्रकाश करने की क्रिया ब्रह्मा ही के द्वारा होती है। नहीं तो एक एक वेद के रचने वाले देवता एक एक अलग अलग है।

सामवेद।

"न", (नहीं) "एतत् न", (यह नाना दृश्यमान नहीं); "नेह नानास्ति किञ्चन", नाना पदार्थ कुछ है ही नहीं, केवल एक आत्मा ही है। यह महावाक्य इच्छा का तत्त्व है। इच्छा का काम यही है कि जीव को बहुत सी संसार की वस्तुओं की ओर ले जाय, और फिर उनसे जीव अघा उबिया जाय, दुखी हो, उसकी इच्छा की पूर्ति न हो, और असंतोष और वैराग्य भोगे। इच्छा ही जीव को पहिले अस्ति का स्वरूप दिखाकर फिर नास्ति का स्वरूप दिखाती है। अपनी इच्छा ही के कारण संसार में पड़कर और दुःख भोग कर तब जीव कहता है कि यह सब कुछ नहीं है सब

झूठ है। यह इच्छा का स्वरूप है। सामवेद का यह महावाक्य मूल है और शिव इसके अधिष्ठाता हैं।

अथर्ववेद ।

इन तीनों वाक्यों का समाहार वही मूल वाक्य है, अर्थात् "अहं एतत् न", और अथर्ववेद इसका व्याख्यान है, जिसे स्वयं महाविष्णु ने रचा है।

जैसे ही महाविष्णु ने समष्टिरूप से अथर्ववेद रच कर अपने मातहतों के, अपने अधीन अधःस्थ अवस्तन अधिकारियों के, सपुर्द किया, और उन्होंने अपने अपने विभागों के काम के लिये अपने मातहतों के लिये विशेष रूप से ऋक् यजुः साम रचा, वैसे ही महाविष्णु के उपरीण, उपरिष्ट, ऊपर के अधिकारियों ने महाविष्णु की शिक्षा के वास्ते महावेद महागायत्री आदि रचा है। यह क्रम अनन्त है। मूल सूत्र, मूल सिद्धांत, मूल महावाक्य, तो सब में वे ही हैं। भेद टीका के विस्तार के परिमाण का हो है। अन्यथा अन्योन्यभावः समः।

गायत्री ।

गायत्री की कथा यह है कि चौबीस मुख्य महावाक्यों के सूचक एक एक अक्षर लेकर गायत्री महामंत्र बना है।

यह बात जो सिद्ध हुई, अर्थात् ज्ञान इच्छा क्रिया तीन का और चौथे "न" का समाहार, इसी के हिसाब से, इन्हीं पदार्थों के परिवर्त्तन विवर्त्तन से, संसार के अनंतानंत विभाग हो गये हैं। यह तो पहिले कह आये हैं कि इन्हीं तीन बातों का नाम, आत्मा अथवा प्रत्यगात्मा की दृष्टि से, चित्, आनंद,

और सत् है। इन्हीं तीन गुणों के कारण प्रत्यगात्मा सगुण ब्रह्म कहाता है। मूल प्रकृति की दृष्टि से इनके नाम सत्त्व, तमस्, और रजस् हैं। प्रत्यगात्मा और मूलप्रकृति के संयोग से जो जीव पदार्थ पैदा होता है उसके जीवांश अर्थात् चेतनांश की दृष्टि से यह तीन, ज्ञान, इच्छा, क्रिया, कहाते हैं, और जड़ उपाध्यंश की दृष्टि से ये ही, गुण, द्रव्य, और कर्म हो जाते हैं। वस्तुओं के गुणों को हम जानते हैं, वस्तु अर्थात् द्रव्य की इच्छा करते हैं, और इसके कर्म को घटाने बढ़ाने आदि की क्रिया करते हैं। गुण द्रव्य और कर्म का ज्ञान इच्छा क्रिया—इतना ही संसार का सर्वस्व है। इन्हीं के नियमन के लिये वेदादि की उपयोगिता है।

प्रत्येक वेद के चार भाग।

इनके ही अनुसार प्रत्येक वेद के चार चार विभाग किये हैं, इसलिये कि यद्यपि हम लोग इनकी गिनती अलग कर लें पर वे वस्तुतः अलग नहीं हो सकते। प्रत्येक में अन्य सब सदा रहते हैं। ज्ञान में इच्छा और क्रिया छिपी है। इच्छा में ज्ञान और क्रिया छिपी है। क्रिया में इच्छा और ज्ञान छिपा है। ज्ञाननिष्ठ ऋग्वेद में भी ज्ञानांश संहिता है, क्रियांश ब्राह्मण, इच्छांश उपनिषत्, और उनका समाहार उपवेद अथवा तंत्र है। ऐसा ही और सब वेदों में भी है।

शाखा

इसके ऊपर हर एक वेद की दो दो शाखा हैं, एक कृष्ण और एक शुक्ल। इसका कारण यह है कि संसार दो पदार्थों

के मिलने से बना है, पुरुष और प्रकृति, आत्मा और अनात्मा, सत् और असत्, प्रकाश और तम, नेकी और बदी, दक्षिण-मार्ग और वाममार्ग। क्रम से एक एक अंश का आधिक्य दिखाने के लिये प्रति वेद की दो दो शाखा हैं।

अंगोपांग।

इसके बाद इन्हीं ज्ञान इच्छा और क्रिया के उलट पलट से अंग अर्थात् व्याकरण शिक्षा आदि, और छः उपांग वेदांत मीमांसा आदि बने हैं। उनके मिश्रण से बहुत से अवान्तर शास्त्र पैदा होते हैं। इस सब वेद और शास्त्र के समूह की समष्टि संहिता अंश में है।

वेदों का विषय।

(१) ऋग्वेद में यह सब वर्णन किया है कि किस पदार्थ की किस से और कैसे उत्पत्ति और स्थिति और विनाश है, क्या उसका उचित देश और काल है, क्या उसकी आवश्यकता है, कितने उसके विभाग हैं, इत्यादि।

(२) यजुर्वेद में क्रिया का स्वरूप, क्रिया का और मोक्ष का सबंध, मोक्ष के प्रकार, यज्ञ, संस्कार, श्राद्ध, इत्यादि सबका आध्यात्मिक अर्थ कहा है। जीवन मात्र के सम्पूर्ण व्यवहार इसमें कहे हैं।

चार वर्ण, चार आश्रम, और चार पुरुषार्थ का संबन्ध ज्ञान इच्छा क्रिया और समाहार से है। ब्रह्मचर्य आश्रम और ब्राह्मण वर्ण का संबन्ध ज्ञान से है, गृहस्थाश्रम और क्षत्रियवर्ण का क्रिया से, वानप्रस्थ आश्रम और वैश्यवर्ण का इच्छा से,

("वशीकरोति इंद्रियाणि इति वैश्यः," यह व्युत्पत्ति प्रणववाद में कही है) और संन्यास और शूद्रवर्ण का संबन्ध समाहार से है।

आप लोग आश्चर्य करेंगे कि शूद्र और संन्यास का साथ कैसा। एक सबसे छोटा और नीचा गिना जाता वर्ण, दूसरा सबसे ऊंचा समझा जाता आश्रम। इसको यों समझना चाहिये। नदी के किनारे यदि मनुष्य खड़ा हो तो जो छाया पड़ती है, उसमें उत्तमांग, सिर, सबसे नीचे हो जाता है। शूद्र का अर्थ यही है कि जो सबकी सेवा करे। यदि कोई निःस्वार्थ सेवा करता है तो वही सच्चा संन्यासी है, यदि स्वार्थ से सेवा करता है तो मामूली शूद्र है।

"मैं" और "यह" इन दोनों पदार्थों का ज्ञान ब्राह्मण वर्ण और ब्रह्मचर्य आश्रम में होना चाहिए।

"मैं यह हूं," "जो मैं हूँ वही यह है," "इसकी रक्षा मुझी से हो सकती है"—यह क्रिया क्षत्रियवर्ण और गृहस्थाश्रम की होना चाहिये।

"यह नहीं है," "एतत् न", "केवल मैं ही मैं हूँ", "यह संसार कुछ नहीं है", "आत्मा ही आत्मा है"—यह इच्छा एक अर्थ से धन संचय करने की और दूसरे अर्थ से संसार छोड़कर पुण्य संचय करने की, यही वैश्यवर्ण और वानप्रस्थाश्रम का तत्त्व है।

"मैं यह नहीं हूँ," किन्तु "मैं ही सब जगह हूँ," और "सब हूँ," "यह और यह और यह, ऐसी भेदबुद्धि और उपाधि झूठी है," सबको सबकी सेवा और सहायता करनी

चाहिये, ऐसा ज्ञान और अमल सन्यासी का, सच्चे शूद्र का, है। देखिये, बड़े का क्या अर्थ है? केवल यही कि उसके भरोसे, उसकी मिहनत से, उसकी गोद में, दूसरे खेलें और सुख पावें। और छोटे का भी अर्थ यही है कि दूसरे के सिर चैन करें। तो सच्चा शूद्र वही है जो सबकी सेवा करे और उनसे कुछ बदला न चाहे। जो बदला चाहे, जो मजदूरी मांगे, जो यह समझे कि "मैं" अर्थात् आत्मा सर्वव्यापी नहीं है, वह मामूली शूद्र है। पुराणों में भी शूद्र शब्द की व्याख्या विवेक से, दो प्रकार की है। "शुचा द्रवति", थोड़े से भी दुःख शोकादि के कारण से घबरा जाता है, वह तो बालबुद्धि नीची कोटि का शूद्र। "परेषां शुचं द्रावयति", दूसरों के दुःख शोक को दूर करता है, वह उत्तम कोटि का शूद्र, अर्थात्, प्रणव-वाद का सन्यासी-शूद्र "आशु द्रवति, वृद्धानां आज्ञया", बड़ों की आज्ञा से जल्दी जल्दी दौड़ कर काम करता है, जैसे बालक, यह भी अर्थ हो सकता है।

षोडश संस्कार और पंच महायज्ञ और अश्वमेध गोमेध इत्यादि का भी ऐसा ही रहस्य अर्थ, "अहं, एतत्, न," इन्हीं शब्दों के उलट पलट से, इस ग्रन्थ में कहा है।

(३) सामवेद में इच्छा का वर्णन है।

पहिले कह आये हैं कि संसार में दोही पदार्थ देख पड़ते हैं, एक अहं और एक अनहं। इनका संबन्ध, इनके संयोग का कारण, यही शक्ति स्वरूप तीसरा पदार्थ है। शक्ति का भी तात्त्विक स्वरूप इच्छा ही है। इच्छा के सिवाय और कोई "कारण" संसार में नहीं है। आत्मा की दृष्टि से जो पदार्थ

शक्ति है, जीव की दृष्टि से वही पदार्थ इच्छा है। जैसे आत्मा के तीन गुण, सत्, चित, आनंद हैं, और मूल प्रकृति के तीन गुण, रजस्, सत्त्व, और तमस् हैं, वैसे ही शक्ति, माया, अथवा दैवीप्रकृति के तीन गुण, सृष्टि, स्थिति, और संहार कहना चाहिये। देवता दृष्टि से यही तीन शक्तियाँ, लक्ष्मी, सरस्वती, और सती कहाती हैं। ज्ञानशक्ति अर्थात् सरस्वती का साथ ब्रह्मा से, जो क्रिया के और उत्पत्ति के अधिष्ठाता हैं, इस हेतु से है कि विना ज्ञान के क्रिया नहीं हो सकती। तथा क्रिया-शक्ति अर्थात् लक्ष्मी का साथ ज्ञान के और स्थिति के अधिष्ठाता विष्णु से इस हेतु से है कि विना क्रिया के ज्ञान की सफलता नहीं हो सकती। शिव का साथ सती का है। दोनों इच्छारूप हैं। इस लिये उनका सम्बन्ध अर्धाङ्ग का है।

इन तीन शक्तियों में से प्रत्येक के तीन विभाग कर दिये हैं, ज्ञान, इच्छा, और क्रिया के अनुसार। लक्ष्मी, अर्थात् क्रिया शक्ति, के तीन आकार, रमा, लक्ष्मी, और शारदा। रमा में ज्ञानांश का मेल है, लक्ष्मी शुद्ध क्रिया रूप है, और शारदा में क्रिया के साथ इच्छा मिली है।

इसी प्रकार से सरस्वती के तीन भेद, ऐंद्री, ब्राह्मी और सरस्वती।

तथा सती के तीन भेद, सती, गौरी और पार्वती। इन नवों के समाहार का नाम भैरवी।

यही दश महाविद्या, ज्ञान, इच्छा, क्रिया के भेद से होती हैं।

देवताओं के वाहन, हंस, गरुड़, और वृषभ, का भी अर्थ,

देश, काल, और गति, हैं। ये ही तीन, देश, काल, और गति मकार अर्थात् निषेध के तीन गुण समझने चाहियें। तीनों साक्षात् निषेधस्वरूप, शून्यरूप, है। देश भी पोल ही है। काल भी अभावरूप, असद्रूप है। और गति, जो केवल देश और काल के मिलनेसे ही पैदा होती है, (अथवा जिसी से देश और काल पैदा होते हैं, क्योंकि बिना गति के बिना क्रिया के, बिना क्रम के, देश और काल का ज्ञान ही नहीं, यथा सुषुप्ति में) वह भी परम शून्यरूप है। क्रम, एक के बाद एक, इसीका नाम गति क्या क्रियामात्र है। और केवल क्रम पदार्थ कौन सत्ता है? पर यद्यपि ये तीनों परम असत् स्वरूप हैं, तो भी बिना इनके संसार असंभव है इन्हीं में संसार है।

जो पुराणों में देवताओं के आभूषण और शस्त्र अस्त्र कहे हैं उनका भी रहस्य अर्थ इसी प्रकार का है।

इन शक्तियों के अनन्त प्रकार का वर्णन सामवेद में किया है।

(४) तीनों वेदों के विषयों का समाहार, उनका परस्पर सम्वाद अथवा सामानाधिकरण्य, उनके योग के प्रकार, ज्ञान इच्छा क्रिया का शरीर की नाड़ी, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना आदि से सम्बन्ध, और संसार के प्रबन्ध करने वाले अधिकारियों के कर्म और उनके परस्पर सम्बन्ध, का वर्णन अथर्व में है।

ब्राह्मण, उपनिषत्, उपवेद, और शुक्ल कृष्ण शाखा के ग्रन्थों में भी, क्रमशः, ब्रह्मा विष्णु शिव के अधीन अधिकारियों ने अपने अपने विभाग का और अधिक विवरण किया है। केवल एक दो उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं। यथा, क्रम से अहं

का अर्थात् चेतना का धीरे धीरे सात तत्त्वों अर्थात् महत्, बुद्धि, आकाश, वायु, तेजस्, आपस्, और पृथ्वी को ओढ़ने, का, तथा इनके अणुओं और परमाणुओं की बनावट का, वृत्तांत कहा है। किस प्रकार से इनमें धीरे धीरे चेतना का विकास होता है, किस प्रकार से जीव क्रमशः धातु, वृक्ष, पशु, चंद्रात्म, सौरात्म, मनुष्य, देवता आदि योनियों में वृद्धि पाता है, इस ब्रह्मांड में, जिसके परमेश्वर महाविष्णु हैं, जिनका प्रत्यक्ष शरीर सूर्यबिंब है, कितनी पृथ्वियाँ अर्थात् ग्रह हैं, जिन पर जीव की वृद्धि होती है—यह सब बातें इनमें सविस्तर वर्णन की हैं।

हर जगह और हर बात में अ, उ, और म का सम्बन्ध और अनुकरण दिखाया है। यथा पृथ्वी तत्त्व में तीन भेद हैं, ज्ञान प्रधान परमाणु तो पृथ्वी परमाणु है, क्रियाप्रधान का नाम मेदिनी, और इच्छाप्रधान का नाम मही है। तथा जल के भेद में ज्ञानप्रधान का नाम सलिल, इच्छाप्रधान का नाम अपस् और क्रियाप्रधान का नाम तोयं है। एवम् अग्नि, तेजस्, वन्हि। एवं मारुत, पवन, वात। एवं आकाश, चिदाकाश, महाकाश, इत्यादि।

इस ग्रन्थ में विशेष करके अन्तःकरण की वृत्तियों में त्रिकों को अ उ म के अनुसार दिखाया है।

व्याख्यान के बहुत परिमित समय में केवल एक सूचीमात्र आपके सामने पढ़ जाता हूँ, अधिक कहने का अवसर नहीं है।

अंतःकरण में तीन प्रकार मन, बुद्धि, अहंकार, (और उनका समाहार चित्त) हैं। ज्ञान में, संकल्प, विकल्प और अनुकल्प;

इच्छा में आशा, आकांक्षा, कामना; क्रिया में, क्रिया, प्रतिक्रिया, अनुक्रिया, इत्यादि ।

छः अंग और छः उपांग भी इसी प्रकार वर्णन किये हैं। जो आज काल इनमें परस्पर विरोध प्रचलित है उस सबका इस ग्रन्थ में परिहार देख पड़ता है, और यह स्पष्ट होता है कि ये सब शास्त्र सचमुच एक ही ज्ञानशरीर के अंग और उपांग अन्वर्थ हैं ।

सब शास्त्रों में तीन बातें प्रधान हैं। आत्मा, अनात्मा, और निषेध, अथवा ज्ञान, क्रिया, और इच्छा, के अनुसार ।

नीति शास्त्र में धर्म ज्ञान के स्थान में है, अर्थ क्रिया के, काम इच्छा के, और मोक्ष उनका समाहार है ।

न्याय में, प्रमाण (अनात्मा), प्रमेय (आत्मा), और संशय (इच्छा) का समाहार प्रयोजन (मोक्ष) में होता है। न्याय शास्त्र का दूसरा त्रिक क्रिया, कारण, कर्त्ता है, जिसका भी समाहार प्रयोजन ही है ।

वैशेषिक के मुख्य त्रिक दो हैं, द्रव्य, गुण, कर्म, और सामान्य, विशेष, समवाय । सामान्य आत्मस्थानीय है। विशेष अनात्मा । समवाय इच्छा अर्थात् सम्बंध ।

योग में चित्त ज्ञानरूप आत्मस्थानीय, वृत्ति क्रियारूप अनात्मस्थानीय, और निरोध इच्छारूप सम्बन्धस्थानीय हैं। परमज्ञान, मोक्ष, यही समाहार है ।

सांख्य में प्रकृति, पुरुष, और असंख्येय संख्यातीत भव, यह त्रिक है।

मीमांसा में स्वार्थ, परार्थ, और परमार्थ, इन तीन प्रकार

के कर्मों का वर्णन है। एक जो अपने हित के लिये किया जाय, एक जो पराये भले के लिये किया जाय, एक जो केवल उचित होने के ही कारण से, फलाफल का विचार छोड़कर, स्वार्थ और परार्थ के भावों को त्याग कर, किया जाय।

वेदांत में जीव आत्मस्थानीय है, माया संसारस्थानीय, और ब्रह्म सम्बन्धस्थानीय है। इन सबका समाहार प्रणव स्वयम् है।

काव्य में रसों का त्रिक, शृंगार, रौद्र, और शांत है। यह त्रिक आध्यात्मिक त्रिक, राग, द्वेष, और प्रशम, का अनुसारी है। इनके मिश्रण से, और मात्रा के घटाव बढ़ाव से, अन्य सब रस उत्पन्न होते हैं। साहित्य में अलंकारों का मुख्य त्रिक है, उपमानालंकार, उपमेयालंकार, अनन्यालंकार। इनके समाहार को अतिशयोक्ति कह सकते हैं। संगीत में, शब्द (ध्वनि, नाद), प्रतिशब्द (प्रतिध्वनि, प्रतिनाद), और अनुशब्द (अनुध्वनि, अनुनाद, अनुवचन)। कर्मयोग की प्रवृत्ति, निवृत्ति, अनुवृत्ति; पुराणेतिहास की सृष्टि, लय स्थिति; संसार के विकास, संकोच, स्थैर्य क्रिया के, स्पंद, स्फुरण, स्फुल्लन, आदि के अनुसार। इन्हीं शब्द, प्रतिशब्द, आदि की कमी बेशी और मिश्रण से सब राग-रागिणी, उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार से, विविध शास्त्र और कला, गणित, चित्रण, आदि के विषयों से संबंध रखने वाले कोई तीन सौ त्रिक उस ग्रंथ में कहे हैं।

व्याकरण में त्रिवर्ग बहुत देख पड़ता है। स्वर, व्यंजन, और विसर्ग-अनुनासिक; उदात्त, अनुदात्त, और स्वरित; प्रातिपदिक वा संज्ञा, धातु, कारक, समास (समाहार); कर्त्ता,

कर्म, करण, इत्यादि। इनमें संज्ञापद आत्मस्थानीय है, धातु क्रियास्थानीय, और कारक इच्छास्थानीय है।

इस नागरी प्रचारिणी सभा का भाषा से अधिक सम्बन्ध है, इस कारण व्याकरण ही के विषय में कुछ विशेष कहकर यह कहानी समाप्त करता हूँ।

भाषा का प्रयोजन यही है कि अपना अर्थ दूसरों को जना दे। तो क्या यह केवल श्रव्य शब्द द्वारा ही हो सकता है? दृश्य इंगित और चेष्टा से, इशारों से, अंगुली, हाथ, सिर आदि के संकेतों से, भी तो होता है। गूंगे बहिरे लोग ऐसा करते भी हैं। फिर अधिकतर शब्द, अर्थात् श्रव्य भाषा, का प्रयोग क्यों है? इसका उत्तर यही है कि संसार की इस अवस्था में श्रोत्रेन्द्रिय की अधिक प्रबलता और विकास है। तत्त्वों से ही सब वस्तुएं बनी हैं। उन सबमें आकाश है, जिसका गुण शब्द है। इस कारण प्रत्येक वस्तु से शब्द निकल रहा है, भिन्न भिन्न कानों में पड़कर उस शब्द के रूप का परिवर्तन हो जाता है। उसी परिवर्तितरूप का, जो मनुष्य फिर अनुकरण करके, उस उस वस्तु का स्मरण दूसरे को कराते हैं, वही उसका नाम हो जाता है। श्रोत्रेन्द्रिय और वागिंद्रिय की बनावट के भेद से भाषा-भेद होता है। यही कारण है कि इतने भेद भाषाओं के हैं। बल्कि यहाँ तक कहा है कि प्रति गव्यूति भाषा बदल जाती है। सच तो यों है कि प्रति व्यक्ति भेद है। साथ ही इसके, मनुष्य मात्र में यदि एक अंश भेद और विशेष का है तो एक अंश सामान्य का भी है। इसी कारण से यह भी कहा है कि ऐसी भी भाषा है, जिसको, यदि

उसका जाननेवाला और कहने वाला मिले, तो भिन्न भिन्न देशों और बोलियों के लोग भी उसको एक साथ समझ सकते हैं।

इस ब्रह्मांड में सप्त लोक हैं। प्रति लोक में एक प्रधान भाषा है। 'परा पश्यंती मध्यमा वैखरी' तो प्रसिद्ध ही है। इनके सिवाय तीन और हैं, सांप्रतिका, चात्तिकी और सांवर्त्तिका। वैखरी जो इस भूलोक और जाग्रदवस्था की भाषा है, उसके अनन्त भेद, देश और काल के अनुसार हुए हैं, हो रहे है, और होंगे। आकाश और श्रोत्रेंद्रिय और वागिंद्रिय प्रबल होने से श्रव्य भाषा प्रचलित है। यदि कोई अन्य तत्त्व और उसके संबन्धी ज्ञान और कर्म के इंद्रिय प्रबल होते तो उन्हीं के गुण की भाषा होती, यथा दृश्यभाषा, स्पृश्यभाषा, घ्रेयभाषा, स्वाद्यभाषा इत्यादि। पर सब भाषाओं की बनावट में संज्ञापद, क्रियापद, और कारक, (जिसको "हुरूफ़ि राबित" फारसी में, और "प्रेपोज़िशन्" अंग्रेजी में कहते हैं), किसी न किसी रूप में आवश्यक हैं। और इसके बाद अनन्त फैलाव है। प्रथम, मध्यम, उत्तम पुरुष; भूत, भविष्यत्, वर्तमान; एकवचन, द्विवचन, बहुवचन। पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग, नपुंसकलिङ्ग; इत्यादि। जैसा जैसा जिस जाति का स्वभाव और उसकी आवश्यकता और व्यवहार होता है, वैसी वैसी उसकी भाषा और महावरे होते हैं, और ज्यों ज्यों मनुष्य मात्र का परस्पर व्यापार व्यवहार मेल जोल बढ़ता जायगा उतनी भाषा की एकता होती जायगी।

यह सब अनन्त विस्तार और अनंत एकता प्रणव में अंतर्गत हैं और उससे सिद्ध होती है।

किंतु वह परमात्मा ब्रह्म इन सब विशेषों के विस्तारों से परे है, उनका निषेधरूप है।

न भाषापरं नैव वा शब्दसिद्धं
न वाणीपरं ज्ञानगोऽतीतगम्यम्।
समाहारसंसारसारप्रसारम्
अकारं उकारं मकारं मकारम्॥
अकारं उकारं मकारं प्रमेयं
तदोंकारमोंकारमोंकाररूपं।
महातत्त्वमेकं परातत्त्वमेकं
स्वतोऽहं स्वतोऽहं स्वतोऽहं स्वतोऽहं॥
न सत्यं न चासत्यमद्वैतरूपं
न नित्यं न चानित्यमेकं स्वरूपं।
न चाद्वैतसिद्धं न द्वित्वप्रसिद्धं
समोऽहं समोऽहं समानांतरोऽहं॥
परोऽहं परोऽहं परैवांतरोऽहं
समोऽहं समोऽहं समानंदरूपं।
प्रसिद्धं विशुद्धं स्वबोधस्वरूपं
नमोऽहं नमोऽहं नमोऽहं नमोऽहं॥
कश्चिन्मोक्षसिद्धः कश्चित्पापसिद्धः
कश्चित्पुण्यसिद्धः समस्तः समेतः॥
अनेकस्तदेको विवेकस्तदेको
विरोधस्तदेकोऽहमेकोऽहमात्मा॥
सत्यः सिद्धः सर्वगः सर्वनित्यो
मुक्तो नाहं बंधसिद्धोऽहमात्मा।

साक्षी कर्त्ता सार्विकः सर्वगोऽहं
भोग्यो भोक्ता भावनीयोऽहमात्मा ॥
अंतःसिद्धं सद् बहिःसिद्धरूपं
सर्वासिद्धं सर्वमोंकारगीतं ।
सत्यं सत्यं सत्यसंभावनीयं
सर्वं सर्वं सर्वमोंकारगीतम् ॥

इति।

॥ ॐ ॥

प्रणव की कहानी का परिशिष्ट ।

(रामनवमी, संवत् १९८४ विक्रम,
अर्थात् २९ मार्च, सन् १९२८, ईसवी को लिखा गया)

सितम्बर सन् १९०० से जनवरी सन् १९०१ ईसवी तक, पाँच महीने में, काशी में, प्रणववाद नामक ग्रंथ को पं० धनराज के कण्ठोच्चार से, श्री गंगानाथजी की (जो अब महामहोपाध्याय और इलाहाबाद युनिवर्सिटी के वाइस्‌चान्सेलर हैं) और श्री अंबादास शास्त्री की (जो पीछे काशी विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में न्याय वेदान्त के मुख्याध्यापक थे; महामहोपाध्याय हुए,और सन्१९२७ ई० में शांत होगये) सहायता से मैंने लिखा। उस मूल लिपि से एक प्रति और श्री अंबादास जी ने लिखी। इस दूसरी प्रति पर मैंने, यथावकाश, जैसा कुछ ग्रंथ मेरी समझ में आ सका, उसका अंग्रेज़ी अनुवाद लिखा। यह प्रति, मूल संस्कृत और अंग्रेज़ी अनुवाद की, अब मद्रास नगर के आद्यार स्थान में थियोसाफिकल् सोसाइटी (अर्थात् "ब्रह्मविद्या सभा") के पुस्तकागार में रख दी गई है। पुनरुक्ति और संदिग्धांश आदि छोड़कर, बोधसौकर्य के लिये, अध्यायों का संनिवेश, परिमाण, क्रम आदि कुछ बदल कर, इस अनुवाद को, टिप्पणियों के साथ, तीन जिल्दों में, सन् १९१०, १९११, १९१३, में, क्रमशः, थियोसाफिकल् पब्लिशिङ्‌ हौस, आद्यार, मद्रास, के द्वारा छपवाया ।

इसके आरंभ में प्रायः सौ पृष्ठ की भूमिका दी है, जिसमें प्रणववाद की प्राप्ति मुझको कैसे हुई, और उसके विषय में क्या शंका उठती है, और क्या समाधान हो सकता है या नहीं, तथा ग्रंथ के गुण दोष क्या हैं, इस सबका वर्णन विस्तार से किया है। इसी स्थान पर यह भी लिख देना चाहिये कि मेरी मूलप्रति से लिखवाकर एक प्रतिलिपि श्रीशिवप्रसाद गुप्त (काशीवासी, "काशीविद्यापीठ" के स्थापक) ने, तथा एक, दाक्षिणात्य देश सांगली के राजा ने, अपने अपने पुस्तकागार में रखली है। तथा, मद्रास "हाइ कोर्ट" के भूत-पूर्व प्रधान न्यायाधीश श्री सुब्रह्मण्य ऐयर ने, पं० श्रीनिवासाचार्य से आधुनिक संस्कृत में इस ग्रंथ का अनुवाद करा के, मद्रास में छपवाया है। पर, यह अनुवाद, श्री सुब्रह्मण्य ऐयर महाशय के रुग्ण और तत् पश्चात् शांत हो जाने के कारण संपूर्ण न हो सका। प्रायः तीन चौथाई ग्रंथ छपा, और एक चौथाई रह गया। दो जिल्दें छपी हैं, पहिली सन् १९१५ ई० में, और दूसरी सन् १९१९ में।

मुझे इस बात का बहुत खेद है कि अब तक न तो कोई पुरानी प्रामाणिक लिखी हुई प्रति इस अद्भुत ग्रंथ की मिली, जिसकी शैली, भाषा, विचार, उपलब्ध ग्रंथों से बहुत भिन्न हैं। और न पं० धनराज ने इसका पर्याप्त प्रमाण दिया कि ग्रंथ उनको सचमुच कंठस्थ है। जो एक बेर उन्होंने लिखवा दिया उसको फिर कभी नहीं दुहराया, कितना भी उनसे कहा गया कि, बिना ऐसी परीक्षा दिये, लोक को विश्वास नहीं होगा कि यह ग्रंथ सचमुच आपके स्मृतिस्थ कंठस्थ है।

कोई संस्कृतज्ञ विद्वान्, उसके असाधारण विषय, उन्मादगान के ऐसे पद्य, अपाणिनीय शब्दप्रयोग, उलझी वाक्यरचना, पहेलियों की सी शैली, आदि को थोड़ा सा देख सुनकर तत्काल ग्रंथ को उन्मत्तप्रलाप कह देते हैं, कोई कर्णपिशाच की कर्तूत बताते हैं, कोई स्वयं पं० धनराज की कपोलकल्पना कहते हैं। इत्यादि। इन सब तर्कों का क्षोदक्षुण्ण मैंने उक्त अंग्रेज़ी भूमिका में यथाशक्ति करने का यत्न किया है, और सब पूर्वपक्ष उत्तरपक्षों का विचार करके यह निष्कर्ष निकाला है कि (निश्चित नहीं, किन्तु) सम्भाव्यतम विकल्प यही है कि सचमुच ऐसा ग्रंथ प्राचीन कोई है, और पं० धनराज ने उसको कंठस्थ कर लिया है।

पं० धनराज मुझसे काशी में, दिसंबर सन् १९२६ में, बहुत वर्षों बाद पुनः मिले। और उनसे फिर भी इसकी चर्चा हुई, पर उन्होंने अपनी स्मृति शक्ति की उक्त सीधी सादी अत्यन्त सहज परीक्षा देने से स्पष्ट इन्कार कर दिया, और यह भी कहा कि इस प्रत्याख्यान का कारण भी नहीं बता सकता। सन् १९२७ में, प्रयाग (इलाहाबाद) के (अंग्रेज़ी) "लीडर" नामक दैनिक पत्र में, और संयुक्त प्रांतीय व्यवस्थापक सभा (लेजिस्लेटिव् कौंसिल) में भी इस विषय पर प्रश्नोत्तर और वाद विवाद हुए, पर कुछ फल नहीं निकला, "प्रणववाद" की मूलोत्पत्ति मीहाराच्छन्न ही रही। "परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः"।

एक दृष्टि से ऐसी शंका का पड़ा रहना अच्छा भी है। पुस्तक प्राचीन है कि नवीन, (बृहदारण्यक उपनिषत् के

वंशाध्याय में परिगणित अथवा किसी अन्य) गार्ग्यायण नामक ऋषि की कृति है अथवा नवकल्पित, अधम कर्ण-पिशाच अथवा उत्तम कोटि के देव या सिद्ध पुरुष की उपज्ञ है और धनराज उसके करणमात्र हैं अथवा उन्होंने सचमुच उसे किसी प्राचीन लिपि से सुनकर कंठ किया है, (अमेरिका में पिछले पचास साठ वर्षों में बहुत से ग्रंथ लोगों ने विविध प्रकार के "आवेश" की अवस्था में लिखे और छपवाये हैं, जिनमें अधिकांश अर्थशून्य अथवा दुष्टार्थक हैं)—ऐसी शंकाओं का सर्वथा निरास न हो सकना भी गुणकारी है। इससे ग्रंथ की "आप्त"-वाक्यता पर ध्यान कम जायगा, उसके विषय की युक्तिमत्ता पर अधिक। परप्रज्ञता और अन्धश्रद्धा का (इस देश में "वेदवादरताः", वेद, वेद, वेद, पुकारने वाले, बहुत हैं ही) प्रोत्साहन न होगा, परीक्षाबुद्धि और स्वयंप्रज्ञता का ही उत्तेजन होगा। मृदुजिज्ञासा वाले, अथवा केवल कुतूहली, हट भी जायँगे। इस गुण के साथ एक दोष भी हो सकता है कि, स्यात्, कुछ लोग, श्रद्धाजड़, चमत्कार खोजी, केवल "अद्भुतस्मृति" की अप्रमाणित, असाधित, भी प्रतिज्ञा पर मुग्ध होकर, बिना परीक्षा के, थोड़े से रत्न के साथ; अथवा बिना रत्न के भी, बहुत सी धूलि और कूड़े का भी ग्रहण करलें। पं० धनराज ने संयुक्तप्रांत के नगरों में कई सज्जनों को छोटे बड़े गद्य पद्य के कई ग्रंथ लिखवाये हैं, जैसे मुझको प्रणववाद, और यह कहना कठिन है कि उनमें से कितने अच्छे हैं, कितने बुरे, कितने अर्थशून्य। समय समय पर उनमें से दो चार के थोड़े थोड़े अंश, जो मुझको लोगों

ने दिखाये, उनमें से किसी में ऐसी विशेष अप्रसिद्ध अपूर्व बात मुझे नहीं देख पड़ी जैसी प्रणववाद में। और कई तो केवल प्रलाप ही से जान पड़े, जैसे कोई नशे की हालत में बेजोड़ शब्द मुंह से निकालता रहे। संसार में सिद्धई जगाने वाले, धोखा देने वाले, सिद्ध साधक भी बहुत देख पड़ते हैं। बिना पूंजी के रोजगार फैलाने वाले भी हैं। पर प्रायः "नामूला च जनश्रुतिः", बिना राई के पहाड़ नहीं बनता, थोड़ी पूंजी के बल पर बहुत लेन देन फैलाया जाता है, आवेशशील मनुष्य बहुधा व्यर्थ, तो कभी सार्थ, बात भी कहता है। पं० धनराज का वृत्तांत और उनके "कंठस्थ" ग्रंथों का तत्त्व मुझे कुछ ऐसा ही सत् और असत् का समुच्चय जान पड़ता है। सारे संसार की ही यही कथा है।

इसलिये, यह सब शंका होते हुए भी, प्रणववाद ग्रंथ बहुमूल्य है, उपयोगी है, उसकी बहुतेरी सिद्धांतविषयक, प्रकृति के सामान्य नियमों की, बातों से बुद्धि का प्रसार होता है—यह मेरा विश्वास है। विशेष विशेष बातों पर, यथा यह वेद इस देवता की कृति है, प्रत्येक वेद में दो शाखाएँ हैं, इस वेद का यह यह विषय है, इत्यादि पर विश्वास, बिना अन्य परिपोषक प्रमाणों के जल्दी नहीं हो सकता। पर इनमें कोई बात प्राय ऐसी भी नहीं है जो युक्ति के विरुद्ध, या वस्तुस्थिति के स्पष्ट विपरीत, या स्वतोव्याहत हो। संस्कृत शास्त्रों की प्रथा ही है कि अब जो कुछ आर्ष ग्रन्थ इतिहास, पुराण, वैद्यक, ज्योतिष आदि वेदांगों के तथा अन्य शास्त्रों के, मिलते हैं वे अति संक्षिप्त हैं, और उनका मूल आदिम रूप बहुत

विस्तृत शतसहस्राध्यायात्मक था, और ब्रह्मा, सरस्वती, इंद्र, गणेश, शिव आदि का रचा हुआ था। इत्यादि। प्रत्यक्ष ही किसी भी सभ्य शिष्ट जाति के सारस्वत भांडार में, प्रत्येक समाजोपयोगी विषय पर, लघु, मध्यम, बृहत् परिमाण के ग्रंथ मिलते हैं। तथा जो कुछ मनुष्य जानते और लिखते हैं वह सब "ब्रह्मा" में, अर्थात्, सर्वत्र व्याप्त महत्तत्त्व में, बुद्धितत्त्व में, अणोरणीयान्, महतो महीयान्, अनंत विस्तार और संक्षेप से, व्यक्ताव्यक्त रूप से, सदा वर्त्तमान ही है।

अस्तु। "अहं-एतत्-न" से, वेद-वेदांग-वेदोपांग-उपवेद आदि के, विविध शास्त्रों और दर्शनों के, जो विषय देख पड़ते हैं, उनकी संगति, उनका समन्वय, कैसे हो सकता है, और संसार का स्वरूप क्या है, संसार की गति के मुख्य नियम क्या हैं, इसके समझने में प्रणव-वाद से बहुत सूचना सहायता मिलती है। मुझे तो बड़े संतोष का हेतु और ग्रंथ की प्रामाणिकता का प्रमाण, यह हुआ कि जो मूल विचार, "अहं-एतत-न" के रूप से, मेरे हृदय में स्वतंत्ररीति से स्वयं उदय हुआ था, वह, बहुत वर्षों पीछे, इस ग्रंथ में मिला, और उसका प्रयोग वैदिक शास्त्रों के सांकेतिक विषयों के सुलझाने में किया हुआ मिला, जिसका मुझे कुछ ध्यान ज्ञान न था। देवी भागवत में श्लोक है,

> इत्येवं चिंतयमानाय मुकुन्दाय महात्मने।
> श्लोकार्धेन तया प्रोक्तं भगवत्याऽखिलार्थदं॥

"अहं-एतत्-न" ऐसे अर्थ से गर्भित प्रणव कैसे अखिलार्थद, सब अर्थों का देने वाला, सब ज्ञानों का भांडार, हो सकता

है, इसका भारी सूचन, दिग्दर्शन, निदर्शन, नमूना, इस ग्रंथ में मिलता है।

कभी तो खेद होता है कि सूचन और प्रलोभन ही अधिक होता है, तृप्ति नहीं की जाती। पर एक ग्रंथ में क्या क्या किया जाय? और पढ़ने वाले को स्वतंत्र विचार का, अपने पैरों पर खड़े होने का, स्वयं आगे खोज करने और बढ़ने का, अभ्यास भी तो होना चाहिये। आखिर, पश्चिम के धीर वीर ज्ञानी साहसी तपस्वी आचार्य नई नई खोज, नई नई उपज (उपज्ञ), नई नई कला, नये नये यंत्र तंत्र शास्त्र अपने बाहुबल, हृदयबल, और बुद्धिबल से निकाल और फैला रहे हैं, केवल पुरानी पोथियों के नाम के जप से ही संतुष्ट नहीं होते। तो भी, जैसा आध्यात्मिक अर्थ बताने का यत्न इस ग्रंथ में किया है, वैसा, या उससे कम भी, श्रम आधिदैविक अर्थों के आविष्कार का किया होता, तो वेद के कर्मकांड के समझने में सहायता मिलती।

वर्त्तमान काल में, अथवा यदि यह कहें तो स्यात् अनुचित न होगा कि कई सहस्र वर्षों से, वेद के कर्म कांड का ठीक ठीक अर्थ समझ नहीं पड़ता है, लुप्त हो गया है। जैसे अश्वमेध आदि की विधि, अक्षरार्थ देखने से, अत्यंत बीभत्स, क्रूर, अश्लील, घृणाकारक, व्यर्थ, जान पड़ती है। अक्षरार्थ के सिवाय कोई दूसरा अर्थ है या नहीं, अक्षरार्थ केवल उत्प्रेक्षा, या रूपक, या अर्थवाद मात्र है, इसका कुछ पता नहीं चलता। इधर, सैकड़ों, अथवा हजारों, वर्ष से, घोर तपस्या

के, और तज्जनित दिव्यशक्ति और इंद्रियों के द्वारा आधि-दैविक, योगज, दिव्य ज्ञान के, लुप्त हो जाने से, लकीर के फ़क़ीर बनकर मीमांसकों ने यही निश्चय कर लिया है कि दूसरा गूढ़ अर्थ तो कोई समझ में आता नहीं, केवल अक्षरार्थ के अनुसार ही कर्म करना चाहिये, फल उसका, अदृष्ट संस्कार के द्वारा, स्वर्गादिक, आमुष्मिक, कुछ होगा। किन्तु इस चाल का विचार, युक्तिशील, हेत्वन्वेषी, मनुष्य के हृदय को संतोष नहीं देता। यहाँ तक कि गीता में भी "भोगैश्वर्यगतिं प्रति क्रिया-विशेषबहुला पुष्पिता वाक्" की निंदा ही की है। इस प्रकार के अदृष्ट फल देने वाले वैदिक कर्म कांड पर अंधविश्वास से तो दृष्ट फल देने वाले, सुनी हुई "श्रुति" को प्रत्यक्ष कर दिखाने वाले, "श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः," कहे को कर देने वाले, पश्चिम के वैज्ञानिक कर्मकांडियों पर उत्फुल्लनेत्र विश्वास करना बहुत अच्छा।

प्रणववाद में यज्ञों का और संस्कारों का अर्थ, "अहम्-एतत्-न" के शब्दों में, ज्ञान, इच्छा, क्रिया के अभिप्राय से, आध्यात्मिक ही अधिकतर कर दिया है। अन्य ग्रंथों से जो ऐसी सूचना मिलती है, कि अजमेध, महिषमेध, अश्वमेध, गोमेध, नरमेध का अर्थ क्रमशः काम का हनन, क्रोध का हनन, अहंकार (अस्मिता) का हनन, करुणात्मक मोह (अभिनिवेश) का हनन, और जीवभेदबुद्धि (अविद्या) का हनन है, इसकी भी चर्चा इसमें नहीं है। संस्कारों का विषय वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के बहुत उपयोगी है। इसके संबंध में आधिदैविक ज्ञान के प्रचार की बहुत आवश्यकता है। सो

इस ग्रंथ से पूरी नहीं होती। आधिदैविक का अर्थ देव सम्बंधी और सूक्ष्मलोकसम्बन्धी। देव का अर्थ परमात्मा की प्रकृति की अनंत सूक्ष्म शक्तियाँ भी, और तत्तच्छक्त्यभिमानी अनंत देव उपदेव आदि नामक जीवविशेष भी। इनके विशेष व्यापारक्षेत्र सूक्ष्मलोक। है तो सबका संबंध सब से। स्थूल सूक्ष्म कारण, भूः भुवः स्वः, अधिभूत अधिदैव अध्यात्म, सब परस्पर संबद्ध हैं। तौ भी, "वैशेष्यात् तु तद्वादः तद्वादः। इहलोक की अपेक्षा से परलोक, सूक्ष्मलोक, भुवःलोक, स्वर्लोक आदि को पितृलोक देवलोक आदि कहते हैं। गर्भाधान से अंत्येष्टि और श्राद्ध तक संस्कारों का मुख्य उद्देश्य यह है कि उत्तम जीव परलोक से इस लोक में, मानवकुलों में, आवें, यहाँ उनके स्थूल सूक्ष्म शरीरों का यथासंभव अच्छे से अच्छा परिष्कार हो, उनकी उत्तम शक्तियों का उपोद्बलन और विकास हो, यथाशक्ति चतुर्विध पुरुषार्थ का, उत्तम स्वार्थ और उत्तम परार्थ का, धर्म अर्थ काम मोक्ष द्वारा साधन करने का यत्न करें, और (मोक्ष और आवागमन से छुटकारा न सिद्ध होने की अवस्था में) इस लोक से परलोक को जब वापस जायँ, तो सुखतम मार्ग से जायँ और वहाँ भी सुख पावें। विविध प्रकार के यज्ञ भी इसी उद्देश्य की सिद्धि में संस्कारों की सहायता करने वाले हैं। जैसा मनु ने कहा है,

गैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबंधनैः।
गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥
येन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥

र, अश्लील,
सिवाय कोई दूसरे
या रूपक, या
चलता। इधर, सैकड़

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौंजिबंधने ।
तृतीयं यज्ञदीक्षां द्विजस्य श्रुतिचोदनात् ॥

विविध प्रकार के संस्कारों से, स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर के, वहिष्करण और अन्तःकरण के, सम्यक्करण संस्करण, परिष्करण, शोधन, मार्जन, शिक्षण, से; तथा विविध प्रकार के यज्ञों से, यजन से, परोपकारार्थ, समाजसेवार्थ, परिश्रम और त्याग करने से, व्यक्तियों की संस्कृति, शिष्टता, सभ्यता, समायोग्यता सिद्ध होती है, संपन्न, निष्पन्न होती है। और व्यक्तियों की संस्कृति से कुल कुटुम्बों की और समाज की संस्कृत, उन्नति, प्रगति, समृद्धि, सिद्ध होती हैं। इस स्थान पर यह याद रखना चाहिये कि सब देशों और कालों में, सब सभ्य समाजों में, संस्कार और यज्ञ, अर्थात् संस्करण और यजन, होते रहे हैं। केवल "वेद"-नामक ग्रंथों के अक्षरों से ही, संस्कृत भाषा के शब्दों और श्लोकों से ही, स्रुक् आदि पात्रों से ही, अग्नि में घी डालने से ही, बहुल क्रियाविशेषों से ही, छोटी छोटी रीति रस्मों से ही, संस्कार नहीं होते। चित्त का और शरीर का सम्यक् करण, संस्करण, परिष्कार, परिष्करण, उत्तम बनाना—यह मुख्य उद्देश्य है। जिस प्रकार से हो वही संस्कार, वही यज्ञ। जैसे एकस्थान से दूसरे स्थान को जाने के लिये बीसियों प्रकार के वाहन हैं, कोई शीघ्र, कोई मंद, कोई अल्पायास कोई बह्वायास—मुख्य उद्देश्य गमन। जैसे सैकड़ों प्रकार के अन्न हैं, कोई अधिक स्वादु कोई कम, कोई अधिक पथ्य और हित कोई कम, कोई सुलभ कोई दुर्लभ—उद्देश्य सबका शरीरतर्पण, प्राणपोषण। जैसे सैकड़ों भाषा हैं—

उद्देश्य सबका अभिप्रायप्रकाशन । वैसी ही कथा संस्कारों और यज्ञों की है ।

जब संस्कारों पर, यज्ञों पर, अध्यापन, शिक्षण पर, धर्माम्नान पर, व्यक्ति का और समाज का सब ऐहिक और आमुष्मिक सुख इस प्रकार से सर्वथा आश्रित अधीन है, तो संस्कारकर्त्ता, अध्यापक, याजक, ऋत्विक्, धर्माम्नाता, धर्म-निर्णेता, धर्मव्यवस्थापक, इष्ट और आपूर्त्त अर्थात् वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के सुख साधक, ज्ञानवर्धक, उपयोगी कृत्यों का, वृक्षारोपण वापी कूप तटाक पाठशाला चिकित्सालय, राज-पथ देवमंदिरादि के निर्माण का, बताने वाला, जीवन के दुर्गम स्थलों में उचित मार्ग दिखाने वाला, सदुपदेश देने वाला, कैसी उच्चकोटि का, ब्रह्ममय, ज्ञानमय, इहलोक परलोक दोनों को व्यवस्था जानने वाला, तपःशीलसम्पन्न, त्यागी जीव होना चाहिये, जिसके लिये "ब्राह्मण" नाम अन्वर्थ हो, यह प्रत्यक्ष स्पष्ट है ।

विरुद्ध इसके, किस प्रकार के मनुष्य आज काल इस अभागे देश में पुरोहित, पुजारी, शिक्षक हो रहे हैं, यह कई बेर कहा जा चुका है । "मील" (आधकोस) के चिन्ह के वास्ते जो पत्थर गाड़े हुए हैं, उनको देवप्रतिमा बता कर, उनको भी पूजा, माला फूल रोली और पैसे से, सीधे सादे भोले गाँव वालों से, ये पुजारी लोग कराते हैं, पैसे स्वयं लेने के वास्ते । जिस देश के याजक यजमान के बुद्धिभ्रंश को यह दशा हो वह क्यों न दिन दिन अधिकाधिक अधोगति पावै और पराधीनता के दुःख सहै इन सबके उद्धार का मूलोपाय,

मुख्योपाय, एकमात्रोपाय, आत्मज्ञान आत्मश्रद्धा का प्रचार है।

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखं।
एतद्विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥
उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेद्।
आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितं॥

ॐ

महा समन्वय।

सर्वं सर्वत्र सर्वदा।

(अक्षयतृतीया, संवत् १९८५, अर्थात् २२ अप्रेल, सन् १९२८ ईसवी, को लिखा गया)

अपना (= "आपणो" = आत्मनः) अनुभव।

जन्मस्थान काशी में, क्वीन्स् कालिजियेट् स्कूल के एंट्रेंस क्लास में, मैं पढ़ता था। वि० संवत् १९३७ (ई० सन् १८८०), और मेरी आयु का बारहवाँ वर्ष था। "थियासोफिस्ट" नामक मासिक पत्र का पहिला अंक मेरे हाथ में पड़ा। १ अक्तूबर सन् १८७९ ई० को निकला था। नाम का अर्थ है "ब्रह्मविद्याभ्यासी"। पत्र में वेदांत की, योगसिद्धियों की, ऋषियों मुनियों सिद्धों की, संसार की विविध गति की, आध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिक रहस्यों की, मानवमात्र में परस्पर स्नेह प्रीति भ्रातृभाव सहायता की आवश्यकता की, विविध धर्मों और दर्शनों के समान तत्वों और सिद्धान्तों के अन्वेषण की उपयोगिता की, मनुष्य में गुप्त अनुद्बुद्ध सूक्ष्म शक्तियों को योगमार्गों से उद्बुद्ध सिद्ध करने और सूक्ष्म

रहस्यों के ज्ञान को प्राप्त करने की उचितता की, चर्चा थी। बारह वर्ष के बालक को बातें कम समझ पड़ीं। पर पूर्व संस्कार उदित हुए, परम पदार्थ के दर्शन की वासना जागी, जिज्ञासा के अंकुर निकले। संसार में इतना दुःख क्यों है, संसार ही क्यों है, सुख दुःख, जीना मरना, मैं तुम यह वह क्या हैं, क्यों हैं, प्रतिक्षण सर्वत्र परिणाम परिवर्त्त हो रहा है, कोई वस्तु दो क्षण के लिये एक रूप से स्थिर नहीं है, यह क्या है, क्यों है, कैसे है, परिणाम का अर्थ ही किसी भाव का अभाव होना और किसी अभाव का भाव होना, सो कैसे, परलोक कोई है या नहीं है, इहलोक और परलोक में क्या भेद है, शरीरों से जीव भिन्न हैं या नहीं हैं, नश्वर हैं या अमर हैं, नहीं हैं तो अमर हो सकते हैं या नहीं, हो सकते हैं तो कैसे, दुःख से सब जीव कैसे छूटें, जीवों से भिन्न कोई ईश्वर है या नहीं है, उसकी इच्छा पर जीवों की सत्ता असत्ता सद्गति असद्गति आश्रित है अथवा जीव स्वतंत्र हैं—इत्यादि प्रश्नों की संतत चिंता उत्पन्न हुई और बढ़ती गई। प्रत्येक जीव को, कभी न कभी, किसी न किसी जन्म में, इस चिंता का अनुभव करना पड़ता है। पहिले तो दूसरी सांसारिक (अविद्या की) वासना इस शांति की (विद्या की, मोक्ष की) वासना के अंकुरों को दबा देती है, जैसे बरसाती कुशकाश अन्य बीजों को। "यह प्रश्न न कभी उत्तीर्ण हुए, न होंगे, खाओ, पीओ, दुनिया का अपना काम देखो। हाँ, मन बहलाने को, जी चाहे तो, कभी ऐसी दो चार हवाई बातें कर लिया करो।" जैसा फ़ारसी के शायरों ने बड़े मीठे शब्दों में कहा है,

हदीसे मुत्रिबो मय् गो, व राज़े दह कम तर जो ।
कि कस् न कुशूद् व न कुशायद्, व हिक्मत ईं मुअम्मा रा ॥
असरारि अज़ल रा न तू दानी व न मन् ।
ईं हर्फ़ि मुअम्मा न तू ख़्वानी व न मन् ।
हस्त अज़् पसे पर्द: गुफ़्तगूये मनो तू
चूं पर्द: बियुफ़्तद् न तू मानी व न मन् ॥

अर्थात्—सरङ्गी और शराब की पोथी पढ़ो, इस चक्कर खाने वाले आसमान और प्रकृति के रहस्य के पीछे मत पड़ो । इस मुअम्मे को, इस अंधेरी कोठरी को, हिक्मत के, फ़ल्सफ़ा के, दर्शन शास्त्र के, बल से न कभी किसी ने खोल पाया है न पावेगा । सृष्टि का आरम्भ कैसे और क्यों हुआ, यह न तू जानता है न मैं । इस गोल अस्पष्ट लिपि को न तू पढ़ सकता है न मै । पर्दे के (शरीर के) आड़ से तू और मैं बात कर रहे हैं । जब पर्दा उठ जायगा तब न तू रहैगा न मैं ।*

---

* इन शेरों, श्लोकों, का गूढ़ अर्थ भी है—केवल शुष्क तर्क और न्याय के बल से, जो बाह्य इंद्रियों के प्रत्यक्ष विषयों को ही लेकर आरंभ करते हैं, संसार के रहस्य कारण और हेतु का पता नहीं चलता । आत्मश्रद्धा, आत्मभक्ति, सर्वव्यापी मनुष्यप्रेम, जीवदया, सर्वभूतदया, महाकरुणा, परार्थ-चिंता, परोपकार, इश्क़-हक़ीक़ी की मदिरा पीयो और वीणा बजाओ, नारद के ऐसी, तब इस अंधेरे में रौशनी मिलैगी । "तमसस्तु परे पारे," "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्," "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न मेधया न बहुना श्रुतेन,"

पर एक दिन ऐसा आता है जब, अपने समय से, अपने ऋतु में, यह पारमार्थिक चिंता अन्य सब चिन्ताओं को दबा लेती है, खाना, पीना, दुनिया का काम, भोग विलास, ऐश इश्रत, कुछ अच्छा नहीं लगता। यह तो सब नश्वर है, अनित्य है, अंत में दुःखमय है, विप मिला हुआ मिष्टान्न है, हमको तो नित्य अनश्वर पदार्थ चाहिये---यही एक इच्छा हृदय को छा लेती है। बुद्धदेव, राज की समृद्धि को छोड़, अति प्रिय पत्नी यशोधरा और पुत्र राहुल को छोड़, इस परम सात्विक उन्माद से प्रेरित, आधी रात को राजधानी कपिलवास्तु से बाहर चले गये, और नगर के द्वार पर घूम कर, खड़े होकर, बांह उठाकर, उन्होंने प्रतिज्ञा की,

जननमरणयोरदृष्टपारः न पुनरहं कपिलाह्वयं प्रवेष्टा।

"जन्म मरण के रहस्य का पार देखे बिना मैं कपिलवास्तु के भीतर फिर पैर नहीं रक्खूँगा।" पार देख कर, फिर जैसा प्रारब्ध कर्म बचा हो, चित्त में जैसा वासनाशेषरूपी अधिकार अवशिष्ट हो, तदनुसार, सांसारिक कर्त्तव्य का निर्वाह करे,

---

"नाऽऽविरतो दुश्चरितात्...प्रज्ञानेनैन माप्नुयात्," इत्यादि उपनिषद्वाक्यों का भी यही अर्थ है। जब तक शरीरभेद के पर्दे में जीव, अंतरात्मा, छिपा ढँका है, जब तक यह समझ रहा है कि "मैं-यह-देह ही-हूं," तब तक मैं और तुम और वह इत्यादि जीव और जीव में उसको भेद जान पड़ता है। जब शरीरकृत भेदबुद्धि का पर्दा उठा तब न "मैं" और न "तू" (-अलग) रहे, और संसार का भेद (रहस्य) खुल गया ।"

अथवा सन्यास ले । एक प्रकार की सूक्ष्मरजोमिश्रित शुद्ध-प्राय सत्त्वरूपिणी करुणा से, धर्मसंस्थापनबुद्धि से, अपने प्रारब्ध कर्मों का निर्यापन करने की इच्छा से, अन्तरात्म-परमात्म-प्रवर्तित-संसारचक्र अनुवर्त्तन की अवश्यकर्त्तव्यता के भाव से, प्रेरित होकर, राजगुह्य-राजविद्या-धारी प्राचीन राजर्षियों नें, (गृहस्थ) जीवन्मुक्तों नें, अवतारों ने, राम, कृष्ण, जनक, अलर्क, भीष्म, युधिष्ठिर, अर्जुन आदि ने, प्रजापालन, साधुपोषण, दुष्ट-दमन का कार्य किया। अतिसूक्ष्म-उत्तमतमोमोहमिश्रित शुद्ध सत्त्वप्राय दूसरी प्रकार की दया से प्रेरित होकर "महा(करुणा) यान" पर चलकर लोकहितैषिता के, संसारिजीवोद्धारिणी बुद्धि के, "श्वेतांबर" से आच्छन्न होकर, (वानप्रस्थ) वसिष्ठ, व्यास, महावीर जिन, बुद्धदेव, ईसा, आदि ब्रह्मर्षियों नें, मनुष्यों की बुद्धि जगाने का, और संसार के भय से तारने वाले तारक सात्त्विक ज्ञान का, प्रचार किया। कोई जीव, और भी थक कर, इस महाकरुणा के शुभ्र आवरण से, शुभ वासना से, भी, क्रमशः अति विरक्त होकर, "दिगम्बर" वत्, (संग-) "हीनयान" पर चल कर प्रत्येक-(एकाकी)-बुद्धवत्, परम सन्यासी, परमहंस, होकर, केवल कैवल्य की, विदेहमुक्ति की, ओर झुके। ऐसी कथा महा-पुरुषों की, वहीं की, पुराणों में, लोक की शिक्षा के लिये, ऐसे ही वत्सल वृद्ध लिख गये हैं। "महाकारुणिको मुनिः" "संसारिणां करुणयाऽऽह पुराणगुह्यं" । (भागवत), तथा "महर्षयोऽपि ऐश्वर्यक्षयदर्शनेन निर्विण्णाः कैवल्यं प्रविशंति (शांकर शारीरक भाष्य), तथा "ब्रह्मणा सह मुक्तिः," इत्यादि। यह सब कथा, मुमुक्षा की चिंता के शांत

होने के, जीवन्मुक्ति के लाभ होने के, पीछे की है।

अपने मन में क्या कैसे और क्यों की चिंता उठने पर, दर्शन शास्त्र के ग्रंथ, संस्कृत के, अंग्रेज़ी के, यथाशक्ति मैं देखता विचारता रहा। समानशीलव्यसन वाले मित्रों के साथ वाद विवाद संवाद भी यथावसर करता रहा। पूर्वोक्त भक्ति मार्ग और आरंभवाद, कर्ममार्ग और परिणामवाद, ज्ञानमार्ग और विवर्त्तवाद के विविध आकार प्रकारों पर, अवांतर वादों पर, अपनी थोड़ी शक्ति के अनुसार बहुत क्षुण्णक्षोद करता रहा। अंततः संवत् १९४४ (सन्१८८७ ई०) में मेरे हृदय में इस बुद्धि का उदय हुआ कि जिस नित्य पदार्थ की तुमको खोज है वह परमाभीष्ट, परमप्रेष्ठ, परमश्रेष्ठ, परमस्थिर, परमनित्य, परमनिश्चित, परमवास्तव, परमतत्त्व, परमसत्य, परमपदार्थ "मैं", "अहम्", है; इस "मैं" का, इस (अहम, चेतना, चित, चिति, चैतन्य, द्रष्टा, पुरुष, पुरुषोत्तम, परमेश्वर, ब्रह्म,) परमात्मा का, संपूर्ण स्वरूप, (स्वभाव, प्रकृति, मूल-प्रकृति, प्रधान-भाव), "अहम्-एतत्-न", "मैं-यह-नहीं", यह अखंड (एकरस, अनवरत, शाश्वत, सकृत्प्रभ, एकाकार, निर्विशेष) बोध (भावना, धारणा, दर्शन, ख्याति, संवित्, वेदन) है; और इस स्वरूप में ही सब शंकाओं और प्रश्नों का समाधान और उत्तर निहित है।

अपने सन्तोष के लिये, और विचार को स्थिर और विशद करने के लिये, चौदह सूत्र संस्कृत में लिखकर छपवा लिये। ये हैं।

वेदांतहृदयसूत्रम्।

१. "अहम्- (अनहम्= अहमःइतरत्=अन्यत्=) एतत्-न (अस्मि)" इति निष्क्रियं अकालं अदेशं पूर्णं शाश्वतं "पर-ब्रह्म", "परमात्मा" वा।

२. "एतत्"-समष्टि-उपाधि-उपहिता, "एतत्-न (अस्मि) इति-"ज्ञान"वान्, "अहम्" एव पुरुषः, सूत्रात्मा, ईश्वरः। (स्यात् अच्छा होता यदि इस सूत्र के स्थान में यों लिखा जाता—

एकः, केवलः, स्वस्थः, स्वरूपेऽवस्थितः, अन्तर्मुखः "अहम्" =प्रत्यगात्मा, प्रत्यगञ्चितः। अनाद्यनंतासंख्य-एतत्-समष्ट्युपाधि उपादधंश्च निषेधंश्च "अहम्"=मायाशबलं ब्रह्म, परम ईश्वरः वा। उपाध्युपाधानदृष्ट्या सगुणं। तन्निषेधदृष्ट्या निर्गुणं। ब्रह्मांडादिरूप "एतद्"-व्यष्ट्युपाधि-उपहितः अहम्-एतत्-न इति भाववान् "अहम्"=ईश-सूत्रात्म-विराडा-द्यात्मकः ईश्वरः।)

३. "अहम्"-ऐक्यविरोधाद् "एतत्" "नाना," "अणु"-रूपम् इति। "एतत्" एव, "अहम्-एतत्" इति निर्वचनात् सद्भाववती, "एतत्-न (अस्मि)" इति निषेधात् असद्-भावावलम्बिनो सदसतो प्रधान-अव्यक्त-इत्यादि-अपर-नाम्नी अनंत-अणु-रूपा "मूलप्रकृतिः"।

("निषेधात्" से विपरीतता दिखाने के लिये "निर्वचनात्" के स्थान पर कोई दूसरा शब्द, "उपाधानात्" "विधानात्", "उपा-दानात्", "सेधात्", "विषेधात्", "अनुषेधात्", "संकल्पात्",

"उद्भावनात्", "संभावनात्," "प्रतिज्ञानात्," के ऐसा होता तो अच्छा होता। "निषेध" का प्रथित उल्टा "विधि" है। इससे स्यात् "विधानात्" ही सबसे अच्छा होता। प्रचलित वेदांत के सांकेतिक, "विधि-निषेध" के समानार्थक, बहुत अच्छे शब्द "अध्यारोप-अपवाद" हैं।)

४. अणुरूप-"एतत्"-व्यष्टि-उपाधि-उपहितः "अहम्-एतत्-" इति-(अ-)ज्ञान(=मिथ्याभाव)वान् "अहम्" = "जीवः", "जीवात्मा" वा।

५ "अहमा" "एतदः" प्रत्यक्षीकरणं एव "ज्ञान"।

६.—७. तत एव "ज्ञाता" "ज्ञेयं" च।

(यहाँ "इच्छा" "एष्टा", "इष्ट," और "क्रिया" "कर्त्ता", "कर्म", की चर्चा भी होनी चाहिये।)

८. "अहम्-एतत्-न (अस्मि)" इति पूर्णज्ञानं (संवित्) महत्, बुद्धिः, ब्रह्म, "विद्या" वा।

९. "अहम्-एतत्" इति अंशज्ञानं (खंडितं ज्ञानं, अज्ञानं, भावनं) "अविद्या।"

१०. "एतत्-न (अस्मि)" इति नितांतविरोधेऽपि "अहमेतत्" इति अत्यंत संरोधाद् "अहम्-एतदोः" "अन्योऽन्याध्यासः"।

११. "एतदः" "अहम्"-अपरिमितत्वविरोधेन परिमितत्वम्। परिमिते च "एतदि", "अहमेतद्" इति संयोगस्य, "न-(अस्मि)" इति च वियोगस्य यौगपद्यासंभवात् "प्रवृत्ति-निवृत्ति"—सृष्टि-संहार—अध्यारोप-अपवाद—रूपक्रमजन्म।

१२. क्रम एव "कालः।"

१३. एकस्मिन् काले नानानाम् संभव एव "देशः" (खं,

आकाशः)। (इस १३ सूत्र के स्थान में स्यात् अच्छा होता कि यह लिखा जाता, "यौग-पद्यमेव देशः"। काल का स्वरूप नाना भावों का क्रम है। देश का स्वरूप नाना वस्तुओं का यौग-पद्य, युगपत् विद्यमानता, सह-अस्तिता है। एकस्मिन् देशे नाना-नाम् संभवएवकालः, एक देश में अनेक वस्तु, भाव, रूप, आदि कालात्मक "क्रम" से होते हैं। यथा एक काल में अनेक पदार्थ, देशात्मक "यौगपद्य" से होते हैं। क्रमसम्भवः, अथवा क्रमबीजं, कालः, तथा यौगपद्यसंभवः, अथवा यौगपद्यबीजं, देशः, ऐसा भी कह सकते हैं।)

१४. "अहम्-एतत्-न (अस्मि)।"-इति वाक्यान्तर्गत (स्वभावांतर्गत) क्रमस्य (च यौगपद्यस्य च) "आवश्यकत्वं" एव "माया", शक्तिः, दैवीप्रकृतिः इत्यादि-बहुनामिका भगवती स्तुतिशतसहस्राधिष्ठातृदेवता।

(नोट—ऊपर के लिखे सूत्रों में जो शब्द कोष्टकों के ( ) भीतर हैं वे अब बढ़ाये हैं, इनके मूल स्वरूप में, जो सन् १८८७ में लिखा गया, नहीं थे।)

इस प्रकार से, संस्कृत के भी असंस्कृत अपरिष्कृत टूटे फूटे शब्दों में, हृदय के प्रिय भावों के लिये मंजूषा, पेटी, बना ली। (विषय ऐसा सूक्ष्म है, "मनोवाचाम् अगोचर" है, कि कितना भी शब्दों को उलट पुलट करै, पूर्ण भाव प्रकट होता नहीं, किसी को किसी प्रकार से किसी को किसी अन्य प्रकार से अधिक सन्तोष होता है, इसीलिये विविध रीति से यत्न होते हैं।) इन सूत्रों का हिन्दी में भावार्थ यों है।

१. "मैं—यह—नहीं (हूँ)", यह बोध (सवित, चेतना, वेदना, भाव) ही ब्रह्म का, परमात्मा का, स्वरूप है, स्वभाव है, तत्त्व है। यही परमात्मा है।

२. "यह" अर्थात् दृश्य, भोग्य, विषयभूत, अनन्त पदार्थों की समष्टि को, समस्त "एतत" पदार्थों को, ध्यान में धर कर, उनकी उपाधि से उपहित होकर, "यह-नहीं (हूँ)", (अर्थात मैं यह नहीं हूँ, मैं मैं ही हूँ, मैं से अन्य कुछ नहीं हूँ और मैं से अन्य कुछ नहीं है, इस "यह" में कुछ सत्ता नहीं है, "मैं" से स्वतन्त्र "यह" "नहीं" है, मिथ्या है, झूठ है) ऐसे भाव वाला "मैं" पदार्थ ही परम-पुरुष परम-ईश्वर, है। इस एतत् समष्टि रूप उपाधि को ओढ़ता और छोड़ता हुआ "मायाशबल ब्रह्म" कहला सकता है। ओढ़ने की ओर यदि किंचित् विशेष दृष्टि की जाय तो 'सगुण"। छोड़ने की ओर, तो "निर्गुण"।

अकेला, केवल, "अह"-पदार्थ, एतत्-पदार्थ से प्रतीप अंचित, प्रत्यक्, "एतत्" से मुँह फेरे हुए, स्व-स्थ, स्व में स्थित, अन्तर्मुख, "प्रत्यगात्मा" है। और "एतत्" के किसी विशेष ब्रह्माण्ड आदि अंश या समूह से निर्मित उपाधि को धारण किये हुए। पर साथ ही "यह—नहीं—हूँ" ऐसा बोध रखता हुआ, अहम, 'ईश—सूत्र—विराट्" आदि रूप वाला; व्यक्त्यात्मक; व्यष्ट्यात्मक "ईश्वर" है।

३. "मैं" एक है। उसके विरोध से, उसका उलटा, उसका विवर्त होने के हेतु से, "यह" अनेक है, नाना है, असंख्य अणु रूप है। "मैं" ने इस "यह" का ध्यान किया है, "मैं-यह" कह-के "यह" का उद्भावन, संभावन, आवाहन, संकल्पन, विधान,

उपादान अध्यारोप किया है, इसलिये इस "यह" में सत्ता का भास आया है। पर, साथ ही, "यह-नहीं (हूँ)" ऐसा भी ध्यान करके, निषेध, प्रतिषेध, निरास, पर्युदास, निवारण, खंडन, निर्मूलन, अपभावन, अपकल्पन, हान, अपवाद भी किया है, इसलिये इस "यह" की असत्ता भी स्पष्ट है। ऐसा सदसत्, हाँ भी नहीं भी, मिथ्या, झूठा "यह" ही अनंतानन्त-अणु-रूप मूल प्रकृति है, जिसी के दूसरे नाम अव्यक्त, प्रधान, इत्यादि हैं। प्रत्यगात्मा को मूल-प्रकृति, प्रधान-प्रकृति, उसीका स्व-भाव, है। क्योंकि "मैं" ही तो "यह" का उद्भावन करता है, अपने भीतर से उसको निकालता है, ध्यान में लाता है। "प्रकरोति सर्वं" सब कुछ करती है, इससे प्रकृति। प्रधीयते अस्मिन्‌सर्वं, सब कुछ इसमें भरा पड़ा है, इससे प्रधान। व्यक्त, व्यंजित, नहीं किन्तु अव्यक्त रूप से, जैसे बीज में पेड़, इससे अव्यक्त। इत्यादि।

४. अनंत असंख्य अणु-रूप "यहों" में से एक "यह" की, व्यष्टिरूप शरीर की, उपाधि को पहिन कर, "मैं-यह" ऐसी भावना करता हुआ "मैं" ही "जीव" है, "जीवात्मा" है।

५. "यह" को "मैं" जो ध्यान में प्रत्यक्ष करता है, अपने सामने रखता है, यही "ज्ञान" है।

६. ज्ञान के साथ साथ एक ओर ज्ञाता और एक ओर ज्ञेय का भाव उत्पन्न हो जाता है। ("मैं" का "यह" को ध्यान में अपनाना ही "इच्छा" है, जिसके साथ साथ "एष्टा" और "इष्ट" के भाव उत्पन्न होते हैं। तथा "मैं" का "यह" की ओर बढ़ना, अथवा उसको अपनी ओर खींचकर आत्मसात् करना, उसका ग्रहण करना, ओढ़ना, और फिर छोड़ना, यही

"क्रिया" है, जिसके साथ साथ "कर्त्ता" और "कर्म" के भाव उत्पन्न होते हैं।)

८. "मैं-यह-नहीं (हूँ) ऐसा पूर्ण ज्ञान हो (जिसमें समस्त, समष्टि, असंख्य "यह" का, और उनके आविर्भाव तिरोभाव के नियमों का बोध हो) महत्, बुद्धि, परा "विद्या" है, जिसका पौराणिक रूपक में नाम "ब्रह्मा" कहा है, अर्थात् ब्रह्म का कथंचित् किंचित् व्यक्त भाव।

९. "मैं-यह" ऐसा खंडज्ञान, अज्ञान, "अविद्या" है।

१०. "यह-नहीं" करके अत्यंत विरोध भी है, तथा "मैं-यह" करके नितांत संरोध संयोग भी है। इसलिये इन विरुद्ध पदार्थों में परस्पर विरुद्ध गुणों का अन्योऽन्याध्यास हो जाता है। "मैं" में "यह" के गुण, और "यह" में "मैं" के गुण, देख पड़ने लगते हैं।

११. "मैं" अपरिमित है, आदि अंत रूपी परिमिति इसमें नहीं है। इसका आदि अंत किसी ने देखा नहीं। देश काल क्रिया से अनवच्छिन्न है, अतीत है, परे है। जो पदार्थ कुछ क्रिया करै, जिसमें कुछ परिवर्त्तन हो, अदल बदल हो, वही देश और काल से परिच्छिन्न होगा। इस स्थान से इस स्थान तक, इस समय से इस समय तक। देश, काल, क्रिया, यह तीनों अन्योऽन्याश्रित हैं, अलग नहीं की जा सकतीं। जहाँ, जिसमें, क्रिया नहीं, वहाँ देश, काल, आदि, अंत, मेड़, मर्यादा, हद भी नहीं। "मैं" में ये तीनों नहीं। इसका विरोधी "यह" सर्वथा परिमित है। और "यह" का "मैं" से, "मैं-यह" करके, संयोग होता है, और "यह-नहीं (हूँ)" करके वियोग। इन दोनों अत्यंत

विरुद्ध भावों का योगपद्य, "मैं" को अपरिमित पारमार्थि संपूर्ण दृष्टि से तो संभवता है, पर "यह" को परिमित, व्यावहारिक, खंड दृष्टि से नहीं बनता। इसलिये अयौगपद्य, अर्थात् क्रम, उत्पन्न होता है। पहिले प्रवृत्ति, तदनंतर निवृत्ति। पहिले सृष्टि पीछे लय, जन्म तब मरण, अध्यारोप फिर अपवाद।

१२. इस "क्रम" ही का नाम "काल" है। एक देश, एक स्थान, में अनेक वस्तुओं, पदार्थों का संभव—यह क्रम से, काल से, होता है। अथवा यह सम्भव हो, इस संभव का बीज, हेतु, कारण, मूलरूप ही काल है।

१३. अनेकों का, "नाना" का, एक साथ, एक काल में संभव, सहास्तित्व, यौगपद्य ही "देश", खं, आकाश है।

१४. "मैं-यह-नहीं-(हूँ)" इस स्व-भाव के अंतर्गत जो क्रम की, प्रवृत्ति-निवृत्ति, सृष्टि-लय, रूपी संसरण की, संसार की, आवश्यकता है, अवश्यंभाविता है, तथा असंख्य वस्तुओं, पदार्थों, सर्वदा वर्त्तमान अणुओं, के यौगपद्य की आवश्यकता, निश्चितता, नियति, है, यही "माया", शक्ति, दैवीप्रकृति आदि बहुनाम वाली भगवती, सहस्रों स्तुतियों और उपासनाओं की इष्ट देवता है।

अर्थसिद्धि।

जिन सज्जनों ने पहिले कही हुई "प्रणव की पुरानी कहानी" के पूर्वांश को पढ़ लिया है, उनको सूचना मिल गई होगी कि मैं "अहं-एतत्-न" की भावना को किस मार्ग से पहुंचा।

आरंभवाद से चलकर परिणामवाद। उससे चलकर विवर्त्त-वाद, आभासवाद, अध्यासवाद। पर वेदांत के उपलब्ध ग्रंथों से एक यह अंतिम शंका दूर नहीं हुई, कि क्रियातीत ब्रह्म और क्रियामय माया का क्या संबंध, क्यों, कैसे। रज्जु-सर्प, शुक्तिका-रजत, जपा-कुसुम, नदी-तीर, चंद्रद्वय, मरुमरीचिका, स्वप्न-नगर इत्यादि उपमाओं से संतोष नहीं हुआ। क्यों, कहाँ से, कैसे? मिथ्या भी, झूठ भी, सपना भी, सही, माना। पर क्यों, कहाँ से, कैसे? ब्रह्मसूत्र में कहा, "लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्"। यह सब संसार परमेश्वर की केवल लीलामात्र है। पर भागवत में शंका उठाई है,

> ब्रह्मन् कथं भगवतश्चिन्मात्रस्याविकारिणः।
> लीलया चापि युज्येरन् निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः॥
> क्रीड़ायामुद्यमोऽर्भस्य कामश्चिक्रीड़िषाऽन्यतः।
> स्वतस्तृप्तस्य च कथं निवृत्तस्य तथाऽऽन्यतः॥

जो आप्तकाम है, निर्विकार है, परिपूर्ण है, नित्यतृप्त है, "अन्यत्" से, "आत्मेतर" से, निवृत्त है, उसको बच्चों के ऐसी अन्य वस्तुओं की अपेक्षा रखने वाली, दूसरों का भरोसा करने वाली, आसरा देखने वाली, लीला क्रीड़ा की भी इच्छा क्यों? "परिपूर्णस्य का स्पृहा?" "यदपरिणामि तदकारणम्। यदकारणम् तदपरिणामि।" जिसमें परिणाम नहीं वही अकारण है, स्वयंभू, स्वयंसिद्ध, स्वाधीन, स्वस्थ, स्वतंत्र, है। जिसका कोई कारणकर्त्ता कारक नहीं, वही अपरिणामी है। जो परिणामी, परिवर्त्ती, बदलनेवाला नहीं, उसका कोई उत्पादक कारण प्रेरक हेतु आदि नहीं हो सकता, न वह स्वयं किसी अन्य

का कारण वा उत्पादक आदि हो सकता है। क्योंकि दोनों रीति से परिणाम सिद्ध हो जायगा। कठिनता यह है कि "चितिशक्तिर परिणामिनी" (योगसूत्र) और "परिवर्त्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते"। दोनों का संबंध कैसे बने ? दूसरे शब्दों में— निराकार साकार का संबंध क्यों और कैसे ? साकार में ही क्रिया, निराकार में क्रिया नहीं। आकार का अर्थ ही परिमिति, परिच्छिन्नता, आद्यंतवत्ता ; निराकार में आदि अन्त नहीं। दोनों का संबंध कैसे बने ?

विष्णु पुराण में भी यही पूछा है, निर्गुण पदार्थ सगुण की सृष्टि कैसे और क्यों करता है ?

> निर्गुणस्याप्रमेयस्य शुद्धस्याप्यमलात्मनः ।
> कथं सर्गादिकर्त्तृत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते ॥

उत्तर क्या दिया ?

> शक्तयः सर्वभावानां अचिंत्यज्ञानगोचराः ।
> यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः ।
> भवंति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता ॥

अर्थात्, थोड़े में, ब्रह्म की शक्तियां अचिन्त्य है जैसे आग में गर्मी। भागवत में भी यों ही काम चलता किया है,

> सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते ।

यह भगवान् की माया है जो सब नय के, न्याय के, विरुद्ध ही चलती है।

अथवा जैसा नारायणसंहिता में कह दिया,

> सृष्ट्यादिकं हरिर्नैव प्रयोजनमपेक्ष्य तु ।
> कुरुते केवलानंदाद् यथा मत्तस्य नर्त्तनम् ॥

पूर्णानंदस्य तस्येह प्रयोजनमतिः कुतः ।
मुक्ता अप्याप्तकामाः स्युः किमु तस्याखिलात्मनः ॥

अर्थात्, जैसे उन्मत्त का, पागल का, मदिरामत्त का, नाचना, वैसे अखिलात्मा की यह सब चक्कर खाती, भ्रमती, प्रत्यक्ष नाचती, हुई सृष्टि । पर यदि यही कह के संतोष करना था तो दर्शनों और वादों और तर्क वितर्कों की छान बीन करने का महा आयास प्रयास सब व्यर्थ ही हुआ । पहिली बात ही, "खाओ, पीओ, चैन करो", ही अच्छी ? शंकराचार्य के शारीरक भाष्य में, उक्त लीला विषयक सूत्र के भाष्य में, इस उन्मादवाद का प्रत्याख्यान भी किया है ।

अनुगीता (अ० ३४-३५) में भी ऐसी शंका उठाकर, गोल ही उत्तर दे दिया है ।

प्रश्न—अतःपरन्तु यद् गुह्यं तद् भवान् वक्तुमर्हसि ।
सत्त्वक्षेत्रज्ञयोश्चापि संबंधः केन हेतुना ॥
उत्तर—विषयो विषयित्वं च संबंधोऽयमिहोच्यते ।
विषयी पुरुषो नित्यं सत्त्वं च विषयः स्मृतः ॥
अनित्यं द्वंद्वसंयुक्तं सत्त्वमाहुर्मनीषिणः ।
निर्द्वन्द्वो निष्कलो नित्यः क्षेत्रज्ञो निर्गुणात्मकः ॥
सर्वैरपि गुणैर्विद्वान् व्यतिषक्तो न लिप्यते ।
जलबिंदुर्यथा लोलः पद्मिनीपत्रसंस्थितः ॥

प्रश्न यह है कि क्षेत्रज्ञ, पुरुष, निष्क्रिय का, सत्त्व, प्रकृति, सक्रिय से संबन्ध क्यों ? उत्तर यह कि विषय विषयी का यह संबंध है । विषय के गुणों से व्यतिषक्त होकर भी विषयी लिप्त नहीं होता । जैसे कमल का पत्ता पानी से । पर

इससे तो कुछ संतोप नहीं होता। विपय आया ही कहां से ? क्या विपयों से स्वतन्त्र अन्य पदार्थ है ? तो परिणाम वाद के झगड़े उठते हैं। और यदि पृथक् स्वाधीन पदार्थ हो भी तो विपयी को क्या गरज पड़ी थी कि उससे व्यतिपक्त हो ?

बौद्ध ग्रन्थों में भी सक्रिय-निष्क्रिय के संबंध की चर्चा उठाई है। यह भी उन ग्रन्थों से जान पड़ता है कि बुद्धदेव कभी तो, "गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं" न्याय से, उत्तर ही नहीं देते थे, चुप रह जाते थे, कभी यह कह देते थे कि यह प्रश्न अनुपयोगी है, इस विपय की छान बीन से कोई उपयोग नहीं, हमारे काम का नहीं। स्यात् प्रष्टा को अपरिपक्व-कशाय, मृदु जिज्ञासु, केवल कुतूहली, अनधिकारी समझ कर ऐसा करते हों। शांतिदेवकृत बोधिचर्यावतार नामक ग्रन्थ के, सक्रिय-निष्क्रिय की शंका के विपय के, कुछ श्लोक ये हैं।

नित्यो ह्यचेतनश्चात्मा व्योमवत् स्फुटमक्रियः।
प्रत्ययांतरसंगेऽपि निर्विकारस्य का क्रिया॥
यः पूर्ववत् क्रियाकाले क्रियायास्तेन किं कृतम्।
तस्य क्रियेतिसम्बन्धे कतरत् तन्निवंधनम्॥
करोत्यनिच्छन्नीशश्चेत्परायत्तः प्रसज्यते।
इच्छन्नपीच्छायत्तः स्यात् कुर्वतः कुत ईशता॥

अर्थात्—व्योम, आकाश शून्य पोल के ऐसा निर्मल, निराकार, निर्विकार, नित्य (चेतन हो भी तो) अचेतन (के ऐसा) अवश्य स्पष्ट ही अक्रिय, क्रियाहीन है। यदि उससे भिन्न कोई प्रत्यय, हेतु, कारण, उसका प्रेरक हो भी तो

निर्विकार की क्या क्रिया हो सकती है। जो क्रिया के काल में भी, क्रिया करते समय भी, जैसा पहिले था ठीक वैसा ही बना रहता है, तो उसने क्रिया का क्या किया, कौन अंश किया, किया ही क्या? "उसकी क्रिया," यह जो (षष्ठी से कर्त्ता और कर्म का) संबंध दिखाया जाता है, उस संबंध का क्या स्वरूप है, दोनों का परस्पर बंधन, निबंधन, क्या है? यदि अपनी इच्छा से कुछ करता है, तो निर्विकार नहीं, इच्छा रूपी विकार उसमें आया, और इच्छा के अधीन हुआ। यदि बिना इच्छा के करता है तो दूसरे के बलात्कार से करता है, और ईश नहीं है, पराधीन है। इत्यादि।

पर यहां तो काम की और बेकाम की बात की चर्चा नहीं। काम की बात तो साधारणतः "खाओ, पीओ," हो ही गई। बुद्धदेव की महाकरुणा, महाभिनिष्क्रमण, महातपस्या, महाबोधि, महापरिनिर्वाण का फल कुछ और भी होना चाहिये। और है। जैसा योगवासिष्ठ में वसिष्ठ ने राम से कहा है, यदि प्रष्टा का, जिज्ञासु का, शुश्रूषु का, अतिप्रश्नों के भी उचित उत्तर से, संतोष न हुआ, तो मुनियों का जन्म ही व्यर्थ हो जायगा।

> सकललोकचमत्कृतिकारिणो
>
> ऽप्यभिमतं यदि राघवचेतसः।
>
> फलति नो तदिमे वयमेव हि
>
> स्फुटतरं मुनयो हतबुद्धयः॥ और प्रतिज्ञा की है,
>
> विवेकवैराग्यवतो बोध एव महोदयः॥

जिसको विवेक और वैराग्य और दृढ़ खोज होगी

उसको संतोषकारक बोध मिलेगा ही । "मनोरथानामगतिर्न विद्यते ।"

यह चिंता ऐसी है कि जब एक बेर मन में घुस जाती है तो फिर चैन नहीं लेने देती । थोड़ी थोड़ी देर के लिये दवा दी जाय, पर जान नहीं छोड़ती । फिर फिर आती और ज़ोर करती है । सब काल, सब देश, सब मानव जातियों में अपना प्रभाव दिखाती रही है । जितने धर्म, मज़हब, "रिलिजन" छोटे, मोटे, भले, बुरे, संस्कृत, असंस्कृत, तामस, राजस, सात्त्विक, पैदा हुए, हैं, या होंगे, जितने मार्ग, जितनी उपासना, जितने दर्शन, बनाये गये, बनाये जा रहे हैं, या बनेंगे—सब इसी मूल चिंता के विशेष विशेष प्रकारों के, शाखा प्रशाखाओं के, मृत्यु के भय और अमर होने की इच्छा के, फल हैं ।

जब तक दुःख है, जब तक मृत्यु है, जब तक मनुष्य को दोनों का भय है, तब तक यह चिंता, और उसके कार्यरूप, कर्मकांड, ज्ञानकाण्ड, और भक्ति (उपासना) कांड, तरह तरह के, हैं । भारतवर्ष में, वैदिक धर्मावलम्बियों ने, संस्कृत भाषा में, दार्शनिक दृष्टि से, आरंभवाद, परिणामवाद, विवर्त्तवाद तक, द्वैतवाद से लेकर अद्वैत के प्रकारों तक, विशिष्टाद्वैत से शुद्धाद्वैत तक, विचार को पहुँचाया । पश्चिम के देशों में, ईसाई आदि धर्मावलंबियों ने, अन्य भाषाओं में, "फिलासोफ़ी" के शब्दों में, "क्रियेशन्", 'ट्रान्स्फ़ार्मेशन्", "अन्फ़ांशस् विल् ऐंड इमाजिनेशन्", के नाम से, अथवा "रिलिजन" और "थियालोजी" के शब्दों में, "थीज़्म', "पैन्थीज़्म", "मोनिज़्म" के नाम से, इन्हीं वादों के आस पास के आशय कहे । बीच के देशों में, इस्लाम-

धर्मावलंबियों ने, अरबी फ़ारसी में, "ईजादिया", "शुहूदिया", (और "दह्रिया"), "वुजूदिया" आदि के नाम से, प्रायः वही भाव दिखाये। बहुत दूर तक विचार को लाये, बहुत रास्ता साफ़ किया, मार्ग शोधा। एक वही अन्तिम गांठ, निष्क्रिय-सक्रिय के समन्वय की, सुलझाने को बाक़ी रह जाती है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

पर क्रिया का होना ही, सोये आदमी का जागना ही, पलक मांजना ही, तो सत् का असत्, असत् का सत्, भाव का अभाव, अभाव का भाव, होना है। इसको समझाइये।

जब यह ठीक समझ में आजाय, कि "मैं" ही निष्क्रिय भी सक्रिय भी, तभी अपनी अमरता और स्वतंत्रता सिद्ध हो, तभी दुःख का, मृत्यु का, अपने से अन्य किसी दूसरे प्रभुताशाली प्रभु का, जीव को सुख दुःख दे सकने वाले की ईशता का, हुकूमत का, अपनी पराधीनता परवशता का, भय छूटे, तब धर्म-मजहब की आवश्यकता न रहे। तब मनु का श्लोक चरितार्थ हो,

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखं।
एतद्विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतो को विधिः को निषेधः॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य माम् (अहमम्) एकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यासि (ष्यति) मा शुचः॥
सोऽहं ब्रह्म, तत् त्वम् अपि असि।
यस्तु मूढ़तमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः।
उभौ तौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यंतरितो जनः॥

परवशता दुःख, आत्म-वशता सुख—बस इतना निचोड़ लक्षण दुःख और सुख का जानो। पर जिसको यह पराधीनता और स्वाधीनता की चिंता उठी ही नहीं, जो दुनिया में मस्त है, वह भी सुखी, एक चाल से। जो चिंता को पार कर गया, वह भी सुखी। बीच वाला जीव चिंता में पड़ा हुआ, दुःखी। चिंता वालों की चिंता से, चिंता के पार पहुँचा जीव भी, जीवन्मुक्त भी, करुणारूपी अंतिम उत्तम तमस् से चिंतित और दुःखी। "संसारिणां करुणया"। पर वह भीतर से, दृढ़ निश्चय से, जानता है कि बीच वाले भी, आगे पीछे, जल्दी देरी, पार पहुँचेंगे ही, क्योंकि सभी तो, उसी एक ही परमात्मा के अंश हैं, अंग हैं, तद्रूप हैं।

नहि गतिरधिकास्ति कस्यचित्

सकृदुपदर्शयतीह तुल्यताम्॥ (महाभारत, शांति०)

कोई भी जीव किसी दूसरे जीव से, इस समय का अनीश्वरजीव भी इस समय के ईश्वर जीव से भी, तत्त्वतः, वस्तुतः, अंततः, सुख दुःख की संपूर्ण मात्रा में, भूत, भविष्य, वर्तमान काल के अनुभवों का जोड़, मीजान, निकालने पर, कम नहीं निकलेगा। किसी की गति किसी से, परमार्थतः, अंततः, अधिक नहीं है। सब बराबर हैं। भर्तृहरि ने भी कहा है, "अन्योऽन्य भावः समः।" इस हेतु से, ज्ञानी कारुणिक जीवन्मुक्त अधिकारी ईश्वर जीव जो हैं, वे बद्ध संसरमाण अज्ञानी जीवों के लिये चिंतित होकर भी, भीतर से, हृदय से, शांत ही रहते हैं। वे निश्चय से जानते हैं कि जीव-आत्मा स्वयं ही बद्ध होता है, स्वयं ही राग द्वेष पुण्यपाप करता है, स्वयं ही फलरूप सुख

दुःख भोगता है, स्वयं ही मुक्त होता है, तथा कालचक्र और आकाशगोल में; पारी पारी से, सभी जीव सब प्रकार के सुख दुःख भोग लेते हैं।

जीवन्मुक्त, शंकामुक्त, निस्त्रैगुण्य ज्ञानी को, विधिनिषेध की, धर्म-मज़हब की, आवश्यकता नहीं—इसका यह अर्थ नहीं कि वह दुराचरण भी मनमाना करे और तदुचित दंड न पावे। नहीं। अर्थ इतना ही है कि अब स्वयं उसके भीतर, (योग सूत्रोक्त) "धर्ममेघ", धर्मान् मेहति, वर्षति, धर्म बताने वाला, उचितानुचित कर्म विवेक कराने वाला, ज्ञान उदित हो गया है। वह स्वयं अंतरात्मा की प्रेरणा से, अपने मन से, विना किसी दूसरे क़ानून क़ायदा पोथी पत्रा शास्त्रादि की अपेक्षा के, धर्म-निर्णय और धर्माचरण करता है, और जिस शरीर से आचरण करता है उससे उस आचरण का फल भोगता है। यदि उससे कोई दुराचरण बन जाय, तो उसका दुष्ट फल भी, दुःखरूप, वह प्रपन्न और प्रसन्न भाव से, सिर झुकाकर भोगेगा। वसिष्ठ ने राम से कहा कि ज्ञान के उदय हो जाने के पीछे, "पिब, लल, भुंक्ष्व, यथेच्छमास्स्व राजन्"। पीयो, खाओ, खेलो, जैसे चाहो उठो बैठो। इसका अर्थ यह नहीं है कि जो मन में आवे, करो, तुमको सुख ही होगा। इसका अर्थ इतना ही है कि, जैसे माता पिता लड़के को पाल पोस लिखा पढ़ा कर बालिग़ कर देते हैं, और उससे कहते हैं कि, प्रिय पुत्र, अब तुम अपने पैरों पर खड़े हो गये, अब हमारी जिम्मादारी, उत्तरदातृता, छूटी, अब तुम भला बुरा स्वयं पहिचान सकते हो। तुम्हारी आँख खुल गई, जान गये हो कि भले काम का फल भला, बुरे का बुरा।

अब तुम स्वयं सोच विचार के जैसा उचित समझो वैसा करो। परमात्मज्ञान के लाभ होने पर यही "समावर्त्तन कर्म" और अधिक उत्कृष्ट और गभीर रूप से दुहराया जाता है, ऐसा समझना चाहिये। साधारण समावर्त्तन कर्म में तो विद्यार्थी का स्थूल शरीर और वहिर्मुख मन, मनोमय कोष, परिपक्वता को, यौवन, प्रौढ़ि, सवयस्कता, बुलूगियत को, प्राप्त होता है। इस आत्मलाभरूपी पुनर्जन्म में, ("तृतीयं यज्ञदीक्षायां") आत्मज्ञान दीक्षा में, सूक्ष्म शरीर, अन्तर्मुख बुद्धि, विज्ञानमय कोष को यथाकथंचित यौवन प्राप्त होता है, और जीव जीवन्मुक्त होकर, विविध प्रकार के (प्रकृतिलय, सालोक्य, आदि) मुक्तों के "महागार्हस्थ्य" में प्रवेश करता है, और योग्यता और वासनाशेष आदि के अनुसार 'अधिकार" की "वृत्ति" करता है। ऐसा पुराणऋषि आदि महापुरुषों के उपदेश से जान पड़ता है। पर यह स्वप्न में भी नहीं समझना चाहिये कि ज्ञान मिल गया, ज्ञानी हो गये, अब जो चाहे सो उच्छृङ्खल आचरण करैं, कोई दंड देने वाला नहीं है। बड़े बड़ों से बड़ी बड़ी चूक हो जाती है। देवों को, ऋषियों को, शाप पाकर, अवतार आदि लेना और प्रायश्चित्त करना पड़ता है। "ईश्वरैरपि भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभं"। "प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः"। विष्णु को तिर्यक् और मनुष्य योनि में, और उनके पार्षदों को दैत्य राक्षस आदि योनि में जन्म लेना पड़ा, और ऋषियों को दैत्य राक्षस आदिकों का भक्ष्य बनना पड़ा, इत्यादि। इसलिये यही जानना चाहिये कि जिन्होंने ज्ञान का अभिमान किया उन्होंने सच्चा ज्ञान नहीं

पाया, सच्चे "अहं" को, परमात्मा को, नहीं पाया, "अहं-कार" ही को पाया, और अभी उनको बहुत भटकना, भोगना, दंड पाना बाकी है। माया देवी की शक्ति अनंत, अपार, अथाह, अदृश्य, असह्य, अवार्य, अजेय है। ज्ञानियों को भी पकड़ के मोहकूप में फेंक देती है, यद्यपि पीछे फिर दया करके निकालती भी अवश्य है। क्योंकि अविद्या है तो विद्या भी है। इसलिये सदा उस परमात्मा जगदात्मा की जगद्धात्री शक्ति के आगे हृदय से प्रणत ही रहना चाहिये।

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
विश्वामित्रपराशरप्रभृतयः वाताम्बुपर्णाशनाः
तेऽपि स्त्रीमुखपंकजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः।
शाल्यन्नं दधिदुग्धगोघृतयुतं ये भुंजते मानवाः
तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद् विंध्यस्तरेत्सागरं॥
कामं चेदजयन् केचित् तेऽपि क्रोधवशं गताः।
उभौजित्वातु लोभेन मोहेनाथ मदेन वा॥
मत्सरेणाथ वा केचित व्याविता विवशीकृताः।
कामक्रोधावुभौ देव्या एवाकारौ सदातनौ।
सैव गौरी च काली च कलास्तस्या मदादयः॥
शिवमपि तांडवनृत्ये ज्योतिश्चक्रे भ्रमे महति।
देवी सा विनियुंक्ते किं पुनरन्ये पृथग्जीवाः॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वां ॥

अस्तु । यह जो अंतिम सर्वविरोधसारभूत महाविरोध, निष्क्रिय-सक्रिय का, विषयी-विषय का, पुरुष-प्रकृति का, मैं-यह का है, इसका महासमन्वय, इन दोनों के बीच में जो तात्विक वास्तविक संबंध "न"-कार का है, उसकी भावना करने से, इस "न" को इन दोनों के साथ लगा देने से जो महामंत्र, महावाक्य, देख पड़ने लगता है, उससे, सिद्ध हो जाता है। इसका दिग्दर्शन पहिले किया गया है ।"मैं"-यह-नहीं (हूँ) इस सम्पूर्ण पारमार्थिक दृष्टि में निष्क्रियता है। यह देश, काल, क्रिया, से अतीत है, परे है। पर देश, काल, क्रिया, सब इसके भीतर हैं। "सर्वं सर्वत्र सर्वदा ।"

"मैं" है, इसमें कोई विवाद हो नहीं सकता। किसी को यह संदेह नहीं होता कि मैं हूँ या नहीं हूँ ।

नहि कश्चित्संदिग्धेऽहं वा नाऽहं वेति ! (भामती)

इंद्रियां अपने अपने विषय की वस्तुओं की प्रमाण हैं। पर इंद्रियों का प्रमाण क्या है ? "यानींद्रियाणि प्रत्यक्षसाधनानि तानि स्वयमेवाप्रत्यक्षाणि ।" किसी आँख ने अपने को नहीं देखा । किसी कान ने अपने को नहीं सुना । किसी नाक, जीभ, हाथ ने अपने को नहीं सूंघा, चीखा, छूआ । यह जो वस्तु मेरे सामने है इसको "मैं" कान से, हाथ से, आँख से, जीभ से, नाक से, सुनता हूँ, छूता हूँ, देखता हूँ, चीखता हूँ, सूँघता हूँ। ये मेरी पाँच इन्द्रियाँ इस वस्तु की सत्ता और गुणों की प्रमाण हैं। पर ये इंद्रियाँ हैं—इसका क्या प्रमाण? "मैं" उनका

अनुभव कर रहा हूँ, इसके सिवाय और कुछ नहीं। जैसे दीपक अपने को भी दिखाता है और दूसरी वस्तुओं को भी, वैसे आत्मा स्वतःप्रमाण, स्वयंसिद्ध, स्वयंभू होकर, सब "अन्य" प्रमाणादिकों का प्रमाण है।

सर्वप्रमाणसत्तानां प्रमाणमहमेव हि ॥

तथा "मैं" अजर अमर अनादि अनन्त अखंड निराकार निर्विशेष स्वयंसिद्ध है। इसका अपलाप न कभी हुआ न हो सकता है। "मैं" के आदि अंत का अनुभव कभी किसी को नहीं हुआ। यदि हुआ तो अनुभव करने वाला भी तो "मैं" ही हुआ, उस आदि के पहिले "मैं" रहा और उस अन्त के पीछे भी "मैं" ही है।

संविदो व्यभिचारस्तु नानुभूतोऽस्ति कर्हिचित्।
यदि तस्याप्यनुभवस्तर्ह्ययं येन साक्षिणा।
अनुभूतः स एवात्र शिष्टः संविद्वपुः स्वयम् ॥

(देवी भागवत)

सो अखंड "मैं" सब अनन्त सम्भावनीय खण्डरूप "यहों" का, एक साथ, युगपत्, संभावन भी और निषेधन भी, अनुध्यान भी अपध्यान भी, करता है। अखण्ड "मैं" के लिये तो यह सम्भव है। पर खण्डरूप "यह" के लिये, "यह" की दृष्टि से, होना और न होना, भाव और अभाव, जन्म और मरण, दोनों बात एक साथ नहीं हो सकती। क्रम से होती है। इसी क्रम की आवश्यकता का नाम माया है। "या मा", जो "नहीं—है", नहीं भी और है भी। "मैं-(मैं से अन्य =) यह-नहीं-हूँ", यह संवित् ही परमात्मा है। सब अनन्त भूत वर्तमान भविष्य

(अर्थात् कालत्रय का) संसार, अर्थात् "यह" पदार्थ का संसरण, असंख्ययोनियों; शरीरों, उपाधियों, "यहों" का जन्म-मरण, इसमें सर्वदा वर्तमान ही है। पीछे, यहाँ, आगे (अर्थात् देशत्रय) की सब वस्तु यहाँ ही हैं। सर्व सर्वत्र सर्वदा। प्रत्यक्ष हा मैं में सब है। मैं विना कुछ नहीं है। सब क्रिया इस निष्क्रिय मैं में हैं। मैं निष्क्रिय है। "यह" की आविर्भावतिरोभावरूपिणी अनन्त क्रिया, आभास-मात्र, माया-मात्र, "यह" के स्वरूप के कारण, उसके परिमितत्व की, खण्डत्व की, आवश्यकता के कारण, देख पड़ती है।

"मैं-यह-शरीर-नहीं-हूँ।" मैं इससे अलग हूँ, भिन्न हूँ। इस शरीर के जन्म से पहिले भी मैं था, इस के मरण के पीछे भी मैं हूंगा, इस समय भी यह कथंचित् "मेरा" हो, पर "मैं" नहीं हूँ, यद्यपि व्यवहार ऐसा हो रहा है मानो "मैं-यही-हूँ।" अच्छा, तो जिस जीव को यह बोध है कि "मैं-(शरीर, और ममता-द्वारा इससे सम्बद्ध सकल जगत्) नहीं-हूँ", उस जीव की चेतना में, भूत-भविष्य-वर्तमान तीनों काल में, "यह" का निषेध है, और साथ ही, इस वर्तमान काल में "यह" से "मैं" के संयोग का और इसलिये "यह" के आभासिक अस्तित्व का अनुभव भी हो रहा है। जिस वस्तु का निषेध करते है उस के अस्तित्व की संभावना कर के ही तो उसका अनस्तित्व वस्तुतः कहैंगे। चेतन के लिये आलाप-अपलाप, संभावन-निषेधन, साथ ही होते हैं। "इस स्थान पर मेरे सामने पुष्प नहीं है"—ऐसे कहने विचारने के लिये आवश्यक है कि पुष्प की संभावना भी की जाय और

निषेध भी, अध्यारोप भी और अपवाद भी। चेतन में दोनों युगपत् हैं। क्रियातीत कालातीत देशातीत हैं। पर पुष्प की दृष्टि से एकबेर पुष्प उत्पन्न होगा, दूसरी बेर नष्ट होगा। क्रम से, स्थान में, क्रिया द्वारा। ऐसे ही, शरीर की व्यावहारिक अपूर्णदृष्टि से शरीर जन्मते है और मरते हैं, पर आत्मा की पारमार्थिक संपूर्ण त्रिकालातीत त्रिदेशातीत दृष्टि से सदा, कभी भी, "नहीं-हैं"। क्रमरूपी काल ही मिथ्या है, शून्य है, स्वप्न है, मेरे भीतर है, "मैं" इसके भीतर नहीं हूँ— यह ठीक ठीक पहिचानने से निष्क्रिय-सक्रिय का समन्वय होता है।

बात थोड़ी है। सीधी सादी है। इतनी सीधी सादी कि शीघ्र विश्वास नहीं होता कि "मैं-यह-नहीं" इन तीन अति साधारण शब्दों में संसार की सृष्टि-स्थिति-लय का रहस्य रक्खा होगा। प्यास लगने पर पानी की बहुमूल्यता जान पड़ती है। गला दबने और श्वास रुकने पर वायु में श्रद्धा उत्पन्न होती है। "अतिपरिचयादवज्ञा"। सुलभ पदार्थ में आस्था नहीं होती। स्यात् इसी विचार से प्राचीन दयामय वृद्धों ने सब कुछ कह कर भी कुछ नहीं कहा। अंतिम रहस्य को "संध्या-भाषा" में, प्रहेलिका के ऐसा, छिपा दिया है। जिसमें सच्चा खोजी, सच्चा लगनवाला, खूब भूखा प्यासा होकर, उसको अंत में स्वयं ढूंढ निकाले, और तभी पूरा सन्तोष पावे। पास तो उसे पहुँचा दिया है। प्रथम पुरुष के शब्दों में कह दिया है। अब उत्तम पुरुष के शब्दों में वह स्वयं अनुवाद कर ले, और पुरुषोत्तम हो जाय। माता ने बच्चे के आगे भोजन की सामग्री रखदी, खाय और अपने शरीर मे जीर्ण करै, यह उसका काम है।

अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्षं ज्ञानमेव तत् ।
अहं ब्रह्मेति चेद्वेद साक्षात्कारः स उच्यते ॥

इस "संध्या भाषा" के उदाहरण कुछ देखिये ।

किमर्थं केन द्रव्येण कथं जानामि चाखिलं ।
इत्येवं चिंत्यमानाय मुकुंदाय महात्मने ॥
श्लोकार्धेन तया प्रोक्तं, भगवत्याऽखिलार्थदं ।
सर्वं खल्विदमेवाहं नान्यदस्ति सनातनम् ॥

(देवी भागवत)

अहमेवास पूर्वं तु नान्यत् किंचिन्नगाधिप ।
सर्वं खल्विदमेवाहं नान्यदस्ति सनातनम् ॥

(दे० भा०)

"अहं—इदं अन्यत् सर्वं—न", यही अखिलार्थ का देने वाला है ।

पहिले कहा कि (विष्णु अथवा श्रीमद्) भागवत मे शंका उठाकर काम चलाने को कह दिया कि यह भगवान् की माया नय से, न्याय से, विरुद्ध चलती है । पर फिर घुमा फिरा कर, स्थान स्थान पर, इशारा संकेत किया है, उस परम न्याय का जो साधारण पञ्चावयव न्याय से, तर्क से, अनुमान से, परे है, और इन सबका मूल भी है ।

अहमेव न मत्तोऽन्यद् इति बुद्धयध्वमंजसा (११-१३-२४)

अहमेवासमेवाग्रे नाऽऽन्यद् यत् सदसत्परम् ।
पश्चादहं यद् एतत् च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥

(२-९-३२)

अहमेवासमेवाग्रे नाऽऽन्यत् किंचांतरं बहिः ।

"अहं-अन्यत्-न"। "एतत्" के निषेध के पीछे जो बच जाय सो "मैं" "अहम्" हूँ। मैं मैं ही हूँ। अपरिमित, मैं, मैं से इतर, भिन्न, अन्यत्, कुछ भी, यह या यह या यह, अनंत असंख्य दृश्यभूत, विषयभूत, परिमित, पदार्थ नहीं हूँ। इसमें किसको विवाद हो सकता है।

सोऽयं तेऽभिहितस्तात भगवान् विश्वभावनः।
समासेन हरेर्नान्यद् अन्यस्मात् सदसच् च यत्॥
(२-७-५०)

आत्माऽऽनानामत्युपलक्षणः। (३-५-२३)
"अहं-नाना-न" यह जो मति है वही आत्मा है।
तद् ब्रह्म तद् हेतुर् अनन्यद् एकम्। (६-४-३०)
त्वं ब्रह्म पूर्णं......अविकारं अनन्यद् अन्यत्।
(८-१२-७)

पुरुषं यद्रूपं अनिदं यथा। (१०-२-४२)
अनिदंविदां। (२-२-२७)

पुरुष का स्वरूप, स्वभाव, "अनिदं", "इदं न", "एतत् न" है

इत्येवमनिदंरूपं ब्रह्मणः प्रतिपादितम्।
निर्नाम्नस्तस्य नामैतत् सत्यं सत्यमिति श्रुतम्॥
(अनुभूतिप्रकाशसारोद्धार)

इदं-बुद्धिस्तु बाह्यार्थे ह्यहं-बुद्धिस्तथात्मनि।
इदमर्थे शरीरे तु याऽहमित्युदिता मतिः।
सा महाभ्रांतिरेव स्यात् अतस्मिंस्तद्ग्रहत्वतः॥

तस्मात् चिद्रूप एवात्माऽहंबुद्धेरर्थ ईरितः ।
अचिद्रूपमिदंबुद्धेरनात्मैवार्थ ईरितः ॥

(सूतसंहिता)

"इदं" "यह" बाह्य है, विषय है, अचित् है, जड़ है, दृश्य है, शरीर है, अनात्मा है। "अहं", "मैं", चित् है, चेतन है, आत्मा है। "इदं" शरीर को "मैं" समझना—यही महा भ्रांति है, अविद्या है। पर आवश्यक है। और "क्रम" शः अविद्या के पीछे विद्या, "इदं" को "मैं-न" समझना, "मैं" को "अनिदं" समझना, "यह-नहीं-हूँ" समझना—यही विद्या है, और इस विद्या का भी उपजना आवश्यक है। यह दोनों आवश्यकता ही माया-शक्ति का स्वरूप हैं।

उपलब्ध वेदांत के ग्रन्थों में, इस सम्बन्ध में, "इदं" शब्द का ही प्रयोग अधिक मिलता है, "एतत" का प्रायः नहीं। पर "एतत्" कुछ अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। वैयाकरणों का श्लोक है,

इदमस्तु सन्निकृष्टं समीपतरवर्त्ति चैतदो रूपं ।
अदसस्तु विप्रकृष्टं तदिति परोक्षे विजानीयात् ॥

"तत्" शब्द का प्रयोग ऐसी वस्तु के लिये होता है जो आँख की ओट में हो, परोक्ष हो। "अदः" थोड़ी दूर वाली के लिये। "इदं" पास की वस्तु के लिये। "एतत्" जो बहुत पास हो उसके लिये। इस हेतु से शरीर के लिये, उपाधि के लिये, "इदं" से "एतत्" कुछ अधिक अच्छा जान पड़ता है। ("एतत्" का पुल्लिंग) "एषः अहं", (किसी ने पुकारा कि, अमुक कहाँ हो, तो उत्तर में, मैं यह हूँ) कुछ अधिक सहज

पड़ता है, (इदं=) "अयं अहं" से। (हिंदी भाषा में इदम् और एतत् के ऐसे विवेकी शब्द नहीं देख पड़ते)। "अहम् एतत्" के अनंतर दूसरी काष्ठा की एकता का भाव "मम एतत्" है। अहं-ता से अव्यवहित ही मम-ता है। जिस अविद्या का घना भाव अहंता है, उसी का कुछ पतला, तरल भाव, ममता है। जिस वस्तु में "अहं" सर्वथा मग्न होगया, भीन गया, वह तो अहम्मय शरीर हो गया। "मैं" चल रहा हूँ, "मैं" बोल रहा हूँ, "मैं" खा, पी, जाग, सो, उठ, बैठ, रहा हूँ। साधारण जन ऐसा ही कहते हैं। ऐसा नहीं कि "मेरा शरीर, मेरा हाथ, मेरा पैर", ऐसा ऐसा काम कर रहा है।

मन तू शुदम् तू मन शुदी
मन तन शुदम् तू जाँ शुदी।
ता कस् न गोयद् बाद अज़ ईं
मन् दीगरम तू दीगरी ॥

जिस समय 'मैं" की और "यह" शरीर की एकता का भाव, आग्रह, अभिनिवेश, कुछ हलका हो जाता है, और दोनों के भेद का भान कुछ होने लगता है, उस समय "मेरा" शरीर हाथ, पैर, इत्यादि का प्रयोग होने लगता है। जिस वस्तु में "अहं" "मैं" की सत्ता संस्पृष्ट है, छूई है, पर निमग्न नहीं है, उसके लिये "मम" "मेरा" का प्रयोग होता है। इससे भी आगे बढ़कर "मेरा" (शरीर) का भी प्रयोग छूट जाता है। यथा भारतवर्ष में कोई सन्यासी ऐसा कहते देख पड़ते हैं, कि, 'यह शरीर इतने वर्ष का है, अमुक देश में जन्मा है, स्वस्थ है, अस्वस्थ है, अमुक रोग से पीड़ित है," इत्यादि।

ममेति बध्यते जंतुन ममेति विमुच्यते ।

यह तो ठीक है ही, पर निर-"अहं"-कारिता एक गुना और अधिक सन्निकृष्ट है, मुक्ति के, निर्-"मम"-ता की अपेक्षा से ।

अहंकारविमूढ़ात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते । (गीता)

अर्थात शरीर में अहं-भाव रखनेवाला जीव अपने को (जीवात्मा को) कर्त्ता मानता है, यद्यपि समग्र क्रियाओं का निष्क्रिय कर्त्ता एक परमात्मा ही है, "कारणं कारणानां" । अनंतद्वंद्वात्मक उत्पत्ति-लयरूप क्रिया-प्रतिक्रियाओं का समूह यह भूत भवद् भविष्य संसार उस "मैं" परमात्मा की एकरस धारणा में, ध्यान में, अखण्ड अनवरत एकाकार ज्ञान में, भावना, चित्, संवित में, एक साथ ही विहित भी और निषिद्ध भी होकर सदा निहित है । परिमित दृष्टि से क्रमशः आविर्भाव-तिरोभाव की माया अनुभूत होती है, और परिमित कारण परिमित कार्यों की शृंखला परम्परा का भान होता है । संवित् शब्द का अर्थ यों है,

विद्यते स च सर्वस्मिन् सर्वं तस्मिंश्च विद्यते ।
तस्मात संविदिति प्रोक्तो महान् वै बुद्धिमत्तरैः ॥
(वायुपुराण)

परमात्मा की प्रकृति, स्वभाव, का किंचित झांकी रूप व्यंजन ही, महान् आत्मा, महत्तत्व, बुद्धितत्त्व, सामूहिक बुद्धि, बुद्धिसमष्टि, सर्वदेशकालद्रव्य में व्याप्त, व्यापक बुद्धि (अंग्रेजी में "यूनिवर्सल् माइंड", "कलेक्टिव इंटेलिजेंस," फ़ारसी में "अक़लि-कुल") को संवित् इसलिये कहते हैं कि इसमें सब

कुछ, भूत-वर्तमान-भविष्य, पश्चात-इह-अग्रे, विद्यमान है, और सब कुछ में यह विद्यमान है। "अचैतन्यं न विद्यते", चेतना बिना कुछ नहीं है। जो है, वह विद्यमान, "विद्यते"। जो जाना जाय वह विद्यमान, "विद्यते"। विद् धातु के दोनों अर्थ। और ठीक ही। तत्त्वतः दोनों अर्थ एक ही बात है। जो है सो जाना जाता है। जो जाना जाता है सो ही है। जो नहीं है वह जाना नहीं जाता, जो जाना नहीं जाता वह नहीं है। इस संवित् का नाम चित् भी है।

सर्वसंचयनात् चित् स्यात् चैतन्यं चेतना चितिः।
प्रारब्धः संचितादंशश्चित्तमित्यभिधीयते ॥
चित्तस्य धर्मः स्मरणं संचितस्मरणात्क्रमात्।
क्रमेण व्यंजनं चित्तेऽव्यक्तस्य स्मरणं भवेत्।
यद् हि प्रत्यभिजानाति चेतति स्मरतीति वा ॥

सब असंख्य अनन्त भूत-भवद्-भविष्य भावों, ज्ञानों कर्मों का संचय इसमें सदा भरा है, इसलिये इसका नाम चित्, चिति, चैतन्य, चेतना। इस संचित की समष्टि में से किसी एक अंश का, जो अवच्छिन्न, परिमित, देश-काल में आरम्भ हो कर चेष्टा कर रहा है, व्यक्त हो रहा है, उसका नाम चित्त। चित्त का धर्म स्मरण। जो सदा क्रमरहित होकर संचित है, उसको अनंत असंख्य अंशों में विभक्त करके (माया से) एक एक करके क्रम से उलटना, देखना, अनुभव में लाना, यही स्मरण। अव्यक्त समष्टि का चित्त में क्रमशः व्यक्तीभवन, व्यञ्जन, ही स्मरण है। "स्मरति", "चेतति," "चेतयति", "प्रत्यभिजानाति" यह सब पर्यायप्राय हैं। हिन्दी में भी "चेत करो" का अर्थ

"याद करो" है । चित् का व्यञ्जन स्थान, अपरिमित चिति शक्ति की एक परिमित व्यक्ति, चित्त । अस्तु ।

जैसे भागवत में घुमाफिरा कर इशारे से शंका का समाधान किया है, वैसे ही विष्णुपुराण में ।

अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनो
नाऽऽन्यत् ततः कारणकार्यजातम् ।
ईदृङ् मनो यस्य न तस्य भूयो
भवोद्भवा द्वंद्वगदा भवंति ॥ (१-२२-२६)

"अहं (जनार्दनः)—इदं (=एतत् अन्यत्, सर्वं कारणकार्यजातं) — न", इन्हीं तीन शब्दों पर ध्यान जमाना चाहिये । "अहं-इदं-न"—ऐसा जिसका मन, बुद्धि, भाव, होगया, उसको सांसारिक द्वंद्व के रोग नहीं सताते । श्लोक का अन्वय और अर्थ दूसरे प्रकारों से भी किया जा सकता है । पर उनसे वह अर्थ सिद्धि नहीं ।

योगवासिष्ठ में भी कहा है,

अकिंचिन्मात्रचिन्मात्रमस्म्यहं गगनादणुः ।
इति या शाश्वती बुद्धिर्न सा संसारबंधनी ॥
(निर्वाण-प्र०)

"अहं-अकिंचित्", अर्थात् "अहं-(किंचित् =) एतत्-न" ।

पुन पुनः ऐसे श्लोक मिलते हैं, यथा,

अविच्छिन्नचिदात्मैकः पुमानस्तीह नेतरत् ।
स्वसंकल्पवशाद्बद्धो निःसंकल्पश्च मुच्यते ॥
(मुमुक्षु प्र०, १ सर्गः)

अर्थात्, (अविच्छिन्नचिदात्मा एकः) पुमान् (= अहं) —इतरत् (आत्मनः अन्यत् = एतत्)—न ।

भागवत के पहिले ही श्लोक में चित् और जड़ का, आत्मा और अनात्मा का, विषयी और विषय का, विरोध दिखाने के लिये "इतरत्" शब्द का प्रयोग किया है । ये दोनों एक दूसरे से इतर हैं, अन्य हैं । मैं का इतर यह । यह का इतर मैं ।

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतः । (भागवत)

अर्थात्, जन्मादि अस्य दृश्यस्य यतः इतरतः, दृश्याद् यः इतरः अन्यः ततः, पुरुषतः, अनु-अयात् । सार्व-विभक्तिकस्तसिल् । यतः, इसलिये कहा कि सब विभक्तियों का काम, प्रथमा से सप्तमी तक का, इससे निकल जाता है । और आत्मा, "मैं", सब तरह से "यह" का कारक है, कारण है । कर्त्ता भी, करण भी, कार्य (कर्म) भी, अधि-ष्ठान, उपादान, निमित्त, सहकारि, समवायि, इत्यादि सभी ।

यस्मिन् यस्य च यस्माच् च यस्मै येन च यं तथा ।
यश्चेदं च परोऽस्माच् च तस्मै सर्वात्मने नमः ॥

जिसमें यह सब है. जिसका यह सब है, जिसमें से यह सब है, जिसके लिये यह सब है, जिससे यह सब है, जिसको यह सब है, जो यह सब है, जो इस सबसे परे भी है, उस सर्वात्मा "मैं" को नमस्कार है । यह सार्वविभक्तिक संबंध संसार का, "यह" का, "मैं" से ही बनता है, "मैं" के सिवाय और किसी से बनता ही नहीं । प्रत्यक्ष ही "मैं" ही, "यह" का निषेध करता हुआ, सर्वात्मा है, परमात्मा है ।

महाभारत, शांतिपर्व, सुवर्चला-श्वेतकेतुसंवाद (अ० २२४) में भी गोल शब्दों में ऐसा ही संकेत किया है। सुवर्चला ने शंका किया कि पर पदार्थ अचिंत्य है, ऐसा पुराने लोग कहते हैं, फिर इस विषय की चर्चा व्यर्थ है। तो श्वेतकेतु ने कहा, नहीं,

वेदगम्यं परं शुद्धमिति सत्या परा श्रुतिः।
व्याहृत्यानै न-(=ए)तदित्याह व्युपलिंग च वर्त्तते॥
साधनस्योपदेशाच्च च ह्युपायस्य च सूचनात्।
उपलक्षणयोगेन व्यावृत्त्या च प्रदर्शनात्॥
वेदगम्यः परः शुद्ध इति मे धीयते मतिः॥
अध्यात्मध्यानसंभूतमभूतं भूतवत्स्फुटम्।
ज्ञानं विद्धि शुभाचारे तेन यांति परां गतिम्॥
यदि मे व्याहृतं गुह्यं श्रुतं नो वा त्वया शुभे।
तथ्यमित्येव वा शुद्धे ज्ञानं ज्ञानविलोचने॥

अर्थात्, परमपदार्थ, शुद्ध, परमात्मा, वेदगम्य है। श्रुति ने, उसका स्वरूप "न-एतत्" ऐसी व्याहृति से, एतत् का विधि-निषेध साथ ही करके स्वतो-व्याहत संसार के रूप से, एतत् की व्यावृत्ति से, कहा है। इस परम पदार्थ का साक्षात् लिंग वा लक्षण तो मिलता नहीं है। निजबोधैकगम्य, स्व-लक्षण, स्वप्रमाण, स्वप्रत्यक्ष, स्वयंसिद्ध है। "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्"? जानने वाले को किसी दूसरे, किसी अन्य लिंग, के द्वारा कैसे जाने? जानने वाला ही अपने आपको भी, दूसरों को भी, जानता है। दूसरों के द्वारा आप नहीं जाना जाता, प्रत्युत दूसरों के निषेध प्रतिषेध द्वारा जाना जाता है। इसलिये साक्षात

लिंग वा लक्षण से नहीं, किंतु वि-वर्त्त रूप, उलटे, वि-रुद्ध, वि-उप-लिंग से, उप-लक्षण से, जाना जाता है। "मैं" क्या हूँ ? मणि, वनस्पति आदि स्थावर उद्भिज्ज हूं ? नहीं। स्वेदज ? नहीं। अंडज ? नहीं। पिंडज ? नहीं। इत्यादि। इस परपदार्थ, परमात्मा, के बोध से परागति, पराशांति, प्राप्त होती है। इससे इसको अचिंत्य कहके छोड़ नहीं देना चाहिये। यह मैंने तुमसे गुह्य, गुप्त, रहस्य बात कही, तुमने पहिचाना कि नहीं ?

गीता में भी संकेत किया है,

> महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
> भजंति अनन्य-मनसः ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥
> अनन्या-श्चिंतयंतो मां ये जनाः पर्युपासते।
> तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहं ॥

अर्थात्, जो महात्मा जीव, मेरी दैवी प्रकृति, अप्रमेय शक्ति, का आसरा करके, मुझको सब भूतों महाभूतों का अव्यय अनादि आदि कारण मान कर, अनन्य चित्त होकर, दूसरे और (अपर) किसी को मन में न रखकर, मुझे भजते हैं, सदा मेरी चिंतना उपासना करते हैं, मुझमें, मैं में मनका नित्य अभियोग किये रहते हैं, सदा मेरी याद बनाये रहते हैं, मैं उनका योग-क्षेम साधता हूँ। अप्राप्त वस्तु का पाना, योग। प्राप्त की रक्षा, क्षेम।

भक्ति पक्ष में, यह सब बात श्रीकृष्ण के (विभ्रद् वपुः सकलसुंदरसन्निधानं) सकलसौंदर्य के निधिभूत लोकातिशायी शरीर में ही लगा दी जा सकती है। पर जिन जीवों को इतने

से ही संतोष न हो, भक्ति के आनन्द के सिवाय हेतुयुक्त, युक्तियुक्त, विस्पष्ट ज्ञान को शांति की, गभीर बोध की स्थिरता की, भी खोज हो, उनके लिये, ज्ञानपक्ष में, इन श्लोकों का अर्थ यों लगेगा कि 'मां, अहमं, आत्मानं, अन-अन्य-मनसः, अहम्-(अनहं =) अन्यन्-न इति अविशिष्ट-शाश्वत-अखंड एकरस-बोधवन्तः...पर्युपासते, भजंति, भावयंति, अनुभवंति और भी गीता में कहा है,

मत्तः परतरं नाऽन्यत् किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

उपनिषदों में भी ऐसे ही शब्द कहे हैं,

यत्र नाऽन्यत पश्यति, नाऽन्यत् शृणोति, नाऽन्यद् विजानाति स भूमा । (छांदोग्य)

नान्यद् आत्मनोऽपश्यत् । (बृहदारण्यक)

अथात् आदेशो नेति नेति नहि एतस्माद् इति न इति अन्यत् परं अस्ति । (बृहदारण्यक)

इन सब वाक्यों में, "मैं" "यह" (दूसरा, अन्य) "नहीं"—ये ही शब्द मुख्य हैं ।

योगसूत्र और भाष्य में, जिनमें बौद्ध दर्शन के बहुत से विचार और सांकेतिक शब्द मिलते हैं, सत्त्वपुरुषान्यथाख्याति अथवा विवेकख्याति की अवस्था को, काष्ठा को, कैवल्यप्राय कहा है । इस ख्याति का ही रूपांतर धर्ममेघ समाधि है । यह शब्द बौद्ध संप्रदाय का है । सत्त्व (अर्थात् तदुपलक्षित मूलप्रकृति) और पुरुष की परस्पर अन्यता की ख्याति, ज्ञान, वही अखंड एकरस बोध है, "मैं-यह-नहीं" । "मैं" और

"यह" का जो न-कारात्मक, निषेधात्मक, परस्पर-अन्यता-आत्मक संबंध है, और "यह" की परिमितता के हेतु जो "क्रम" की आवश्यकता है, उसीसे सब अवांतर नियम कहिये, धर्म कहिये, क़ायदा क़ानून कहिये, संसार की सृष्टि स्थिति लय के, उत्पन्न होते है। (इसकी सूचना "प्रणव की कहानी" में की गई है)। इसी से "धर्मान् मेहत्ति", संसार-नियमान् ज्ञापयति। योगसूत्र, "प्रातिभाद्वा सर्वं", का भी कुछ ऐसा ही आशय जान पड़ता है। "मैं-यह-नहीं (हूँ)", आत्मा अपने से अन्य वस्तु अनात्मा नहीं है—सीधी बात है, जिसमें किसी को भी कोई आपत्ति, विरोध, शंका, प्रत्यवस्थान, प्रत्याख्यान, नहीं हो सकता। इतनी सीधी कि त्वरा करने वाले को इसमें कोई विशेष अर्थ ही नहीं देख पड़ेगा। तौ भी "अखिलार्थद" है। सब अर्थ देने वाली है।

योगभाष्य में लिखा है,

न पातालं न च विवरं गिरीणां
नैवांधकारः कुक्षयो नोदधीनां।
गुहा यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं
बुद्धिवृत्तिमविशिष्टां कवयो वेदयंते॥

अर्थात् वह गुहा जिसमें सनातन ब्रह्म छिपा है पाताल में नहीं है, पर्वतों की कंदराओं में नहीं है, घोर अंधकार में नहीं है, समुद्रों की गभीर कोखों में नहीं है। वह हृदय गुहा अविशिष्टा बुद्धि वृत्ति ही है।

यह "अविशिष्टा" विशेषहीन बुद्धिवृत्ति वही "अहं-एतन्-न" रूपिणी संवित् है। सब "अनहं" पदार्थों का, अनात्म-

रूपी, एतद्-रूपी, दृश्य-रूपी, विषय-रूपी, पदार्थों का, एक साथ ही, बिना विशेष किये, निषेध करने वाली, विशेषरहित बुद्धि है।

पूर्व उद्धृत योगवासिष्ठ के श्लोक की शाश्वती बुद्धि यही है। काल से अतीत है। सब काल इसके उदर के भीतर है। जब इसमें कोई परिवर्त्तन, कोई परिणाम, कोई अदल बदल होता ही नहीं, तो काल के परे, शाश्वती, हुई ही।

क्रमत्रयसमाश्रयव्यतिकरेण या संततं
क्रमत्रितयलंघनं विदधती विभात्युच्चकैः।
क्रमैकवपुरक्रमप्रकृतिरेव या शोभते
करोमि हृदि तामहं भगवतीं परां संविदम्॥

काश्मीर शैव सम्प्रदाय के, जिसके अभिनवगुप्त प्रसिद्ध आचार्य और ग्रंथकर्त्ता हो गये हैं, "ज्ञानगर्भ" नामक एक ग्रंथ का यह श्लोक है। इस सम्प्रदाय के दर्शन को "त्रिक" दर्शन भी कहते हैं। इस श्लोक का अर्थ भी इसी अविशिष्टा शाश्वती क्रमातीत संवित् के सहारे से ही लग सकता है। भूत-वर्तमान-भविष्य-रूप क्रमत्रय का धारण और उलट पुलट करके भी जो सदा तीनों क्रमों का लंघन करती हुई, क्रमरहित, अखंड निश्चल सदा वर्तमानस्वरूप शोभती है, जिसकी प्रकृति, स्वभाव, वास्तविक रूप अ-क्रम है, क्रमाभाव है, पर जिसका बाह्यरूप, बाह्य वपु, शरीर, क्रम ही है, ऐसी परा संविद्रूपिणी भगवती का मैं हृदय में ध्यान आवाहन धारण करता हूँ। "अक्रमप्रकृतिः," एकरस, अखंड, अतएव क्रमहीन स्वभाववाली वही संवित्, परमात्मा है। पर उसका शरीर, उसका वपु, उसका आविर्भाव-तिरोभाव, आविष्कार-तिरोधान

व्यंजन, व्यक्तीकरण, उसका वि-अंजक अंग, हाथ-पैर, यह क्रम-मय संसार ही है।

न नाकपृष्टे, न महेंद्रधिष्ण्ये,
रसातले नैव, न नागलोके।
न पर्वताग्रे, न समुद्रगर्त्ते,
न वाऽऽष्टसिद्धिपु, अनिदं हि मोक्षः॥
न मोक्षो नभसः पृष्ठे न पाताले न भूतले।
सर्वाशासंक्षये चेतःक्षयो मोक्ष इति श्रुतेः॥

इत्यादि श्लोकों का भी संकेत वही है। स्वर्ग की पीठ पर, महेंद्र के महल में, भूतल में, पाताल में, रसातल में, नागलोक में, पर्वत के ऊँचे शिखर पर, समुद्र के गहिरे गर्त्त मे, आठ सिद्धियां में भी, मोक्ष नहीं है। "आत्मा अनिदम्" "मैं-यह-नहीं"—यह पहिचानना ही मोक्ष है। क्रमात्मक, भेदभ्रमात्मक, चित्त में, चेतस् में, क्रमात्मक आशा इच्छा का क्षय हो जाना, निष्क्रमता का, निष्क्रियता का बोध हो जाना, क्रमात्मक ज्ञान इच्छा क्रिया, सब भ्रम है, ऐसा बोध होकर अहंकारात्मक आशा, इच्छा, आरम्भ, कर्तृ स्वभाव, आदि का बंद हो जाना, अभेदभाव का, जो कुछ है सब एक परमात्मा की प्रकृति है, इस भाव का, उदय होना—यही मोक्ष है।

उत्तम पुरुष।

ऊपर कहा कि "अस्ति ब्रह्म", "ब्रह्म है", यह ज्ञान परोऽक्ष ही है। इससे संतोष नहीं होगा। "अस्मि ब्रह्म" "ब्रह्म हूँ", यह ज्ञान अपरोक्ष है, संतोप देगा। आत्मा-अनात्मा-नहीं।

बात ठीक है, पर अपने से दूर है । इस वाक्य का अनुवाद प्रथम पुरुष से उत्तम पुरुष के शब्दों में करना होगा। जब तक प्रथम पुरुष का प्रयोग होता है तब तक अर्थ दूर रहता है । अपने पास नहीं आता । अपने गले के नीचे नहीं उतरता । अपनी देह में उसका रस नहीं भीनता । "वह" "तत्" अपने से, "मैं" से, दूर है, समझ में नहीं आता । किसी सूफी ने कहा है,

ग़ायब जो हो ख़ुदा से आलम है उसको "हू" का ।
अनानियत है जिसमें मौक़ा नहीं है "तू" का ॥

अर्थात् जो जीव, जो रूह, ख़ुदा से, आत्मा से, ग़ायब हो, आट में हो, छिपी हो, दूर हो, जिसमें परायापन, ग़ैरियत, नफ़सानियत हो, और जिससे ख़ुदा परमात्मा छिपा हो, उसके लिए "हू", "वह", "तत्" शब्द का कहना, प्रथम पुरुष का, सीग़ै-ग़ायब का, प्रयोग करना ठीक है, उचित है । पर जिसमें "अनानियत", "अपनापन", "मैं-पन", "आत्मता" उत्पन्न हो गई है, जिसमें यह बोध जाग गया है कि "मैं" ही परमात्मा "हूँ", उसके लिये "तू" कहने का भी अवसर नहीं है, मध्यम पुरुष, "तत् त्वं" भी दूर पड़ता है, "वह" प्रथम पुरुष तो "ग़ायब" ही हो गया, "मैं" ही "मैं" रह गया । सीग़ा ग़ायब व सीग़ा हाज़िर या मुख़ातिब दोनों ग़ायब हो कर सीग़ा मुतकल्लिम ही रह गया । प्रथम पुरुष और मध्यम पुरुष दोनों उत्तम पुरुष में लीन हो गये ।

दूसरे सूफ़ी ने इसी अर्थ को, कोमल भी और प्रौढ़ भी विनोद के साथ, उत्तमता से कहा है,

ज़ाहिदे गुमराह के मैं किस तरह हमराह हूँ ।
वह कहे अल्लाह है औ मैं कहूँ अल्लाह हूँ ॥

क़ुरान में भी कहा है,

इन्नि अनल्लाहु ला इलाहा इल्ला अना ।

जिसका अक्षरशः अनुवाद यह पूर्वोक्त भागवत का श्लोकार्ध है,

अहमेव न मत्तोऽन्यत् ।

बाइबल् में भी अक्षरशः यही कहा है,

"आइ, ईवन आइ, ऐम् दी लार्ड, ऐंड बिसाइड् मी देयर इज़् नो सेवियर ।...आइ ऐम् गाड ऐंड देयर इज़् नन् एल्स ।"

(इशाया, अ० ४३, ४५, ४६)

"मैं", "अना", "आइ" "इल्ला", "एल्स", "अन्यत्" । "नो," "ला", "न" । "मैं" के सिवाय कोई दूसरा खुदा, गाड्, नहीं है, मैं के सिवाय और (अपर, अन्य) कुछ, नहीं (हूँ और है) ।

गीता में कहा है,

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
यस्मात् क्षरमतीतोऽहं अक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

विष्णु पुराण में कहा है,

विष्णोः स्वरूपात्परतो हि तेऽन्ये
रूपे प्रधानं पुरुषश्च विप्र ॥

क्षर, अर्थात् प्रकृति की सब नश्वर विकृतियाँ, नाना रूप, प्रतिक्षण परिणामी, परिवर्त्ती, सक्रिय, संसरमाण, अस्थिर। तथा अक्षर, अर्थात् सदा स्थिर, निष्क्रिय, कूटस्थ, अविकारी, एकरूप, प्रत्यग्-आत्मा, अनादिप्रवाहवती प्रकृति से मानो प्रत्यक् उलटे खींचा हुआ, प्रत्याहृत, अलगाया हुआ, मानों उसका प्रतिद्वन्द्वी, विरोधी। इन दोनों से अतीत और उत्तम। क्षर से तो अतीत, स्पष्ट हो। और केवल अक्षर से भी उत्तम, अर्थात् शून्यवत् नहीं, अहम्मात्र नहीं, प्रत्युत समस्त क्षरों को अपने भीतर लेकर निषेधता हुआ, अक्षर, एतत्-न कहता हुआ अहं। मूलप्रकृति और प्रत्यगात्मा का समाहार, परमात्मा। एतत् हुआ क्षर, प्रकृति। अहं हुआ कूटस्थ, अक्षर, प्रत्यगात्मा। "एतत-न" ऐसा समझता बूझता (सम्बुध्यमान, बुध्यमान) "अहं", "अहं-एतत्-न" इति संपूर्णसंवित्स्वरूप अहं जो है, वही परमात्मा पुरुषोत्तम है। बिना इस उत्तम पुरुष "मैं" की, पुरुषोत्तम की, शरण लिये, बिना मैं में पुरुषोत्तम की भावना किये, बिना अपने को पुरुषोत्तम समुझे बूझे, गति नहीं। प्रथम पुरुष से, मध्यम पुरुष से, "वह" से, 'तुम' से, काम नहीं चलने का। "मैं" को सर्वोत्तम, सर्वश्रेष्ठ, सर्वश्रेष्ठ करके पहिचानना (प्रत्यभिज्ञान करना) होगा। तभी कल्याण होगा, भय जायगा, अमरता मिलेगी, अर्थात् यह स्मृति लब्ध होगी, याद आ जायगी, कि "मैं" तो सदा अमर है ही, हूँ ही। "ब्रह्मैव सन् ब्रह्म भवति"। सूफियों ने भी कहा है, "अल्‌आन कमा कान", "मैं जो हमेशा था सो अब भी हूँ।" (सूफियों की इस्तिलाह अर्थात् सांकेतिक शब्दों में, परमात्मा

को ऐनि-मुश्क़व या ख़ुदा-इ-मुश्क़व, प्रत्यगात्मा को ऐनि-मुजर्रद या ख़ुदा-इ-मुजर्रद, और जीवात्मा को ऐनि-मुअय्यन कहेंगे।)

अनंतद्वंद्वविरोधपरिहार।

सब द्वंद्व, दो-दो, जोड़ा जोड़ा-विरोध, असंख्य, अनंत, इस संवित् के भीतर हैं। सबका समन्वय, मेल, समझौता, वैरपरिहार, सब आश्रयं भी इसके भीतर है।

यस्मिन् विरुद्धगतयो ह्यनिशं पतंति
विद्यादयो विविधशक्तय आनुपूर्व्या।
तद् ब्रह्म विश्वभवमेकमनंतमाद्यं
आनंदमात्रमविकारमहं प्रपद्ये॥ (भागवत, ४-९-१६)
सर्गादि योऽस्यानुरुणद्धि शक्तिभिर्
द्रव्यक्रियाकारकचेतनादिभिः।
तस्मै समुन्नद्धविरुद्धशक्तये
नमः परस्मै पुरुषाय वेधसे॥ (४-१७-२८)
सृती विचक्रमे विष्वङ् साशनाऽनशने उभे।
यदविद्या च विद्या च पुरुषस्तूभयाश्रयः॥ (२-६-२०)

"मैं-यह" = अविद्या, और (मैं) यह-नहीं = विद्या, दोनों अत्यन्त विरुद्ध भाव इस संवित् में प्रत्यक्ष ही हैं। अव्यक्तावस्था में दोनों साथ हैं, युगपत् हैं। व्यक्तावस्था में क्रमशः, आनुपूर्व्या। अविद्या और विद्या, इन दो विरुद्ध शक्तियों के अवांतर भेद, जो सुखद दुःखद, जीवक मारक, विकासक संकोचक, उत्कर्षक पातक, पोषक नाशक, इत्यादि विरुद्ध गति वाली विविध शक्तियों के रूप में हैं, वे सब भी अवश्य ही इसके भीतर हैं।

जब ये दोनों परमविरुद्ध "मैं" और "न-मैं" (यह), "हूँ" और "नहीं (हूँ)", इसके भीतर आगये तो कौन विरोधी जोड़ा बाहर रह सकता है? अव्यक्त में दोनों साथ प्रत्यक्ष हैं। व्यक्त में आनुपूर्व्या, क्रमेण, भी प्रत्यक्ष हैं। यही विरोध का परिहार समाहार है। संपूर्णदृष्ट्या युगपत् निष्क्रिय। खंडदृष्ट्या क्रमशः सक्रिय। मन में हां-नहीं एक साथ। मुँह से एक बेर हां, दूसरी बेर नहीं। "अहं-एतत्", "मैं-यह", यह आदिम पहिला जोड़ा, पुरुष-प्रकृति का, पुमान्-योषिता का। विरुद्ध भी, और अन्योन्याध्यास से समान भी, विदृश भी सदृश भी। जैसे दर्पण की मूर्ति और मूल, दक्षिण-वामा।

"एकाकी नारमत, आत्मानं द्वेधाऽपातयत, ततः पतिश्च पत्नी चभिवतां" (बृह०)।

अकेले वह नहीं रमा, तब अपने को उसने दो कर डाला, पति और पत्नी हो गया।

एतं संयद्वाम इत्याचक्षते, एतं सर्वाणि वामानि (विरुद्धानि, द्वंद्वानि) आविशंति, एष उ वामणीः, एष हि सर्वाणि वामानि नयति, एष उ भामणीः, एष सर्वेषु वेदेपु भाति। (छां०)

इसका नाम संयद्वाम है। सब वाम, विरुद्ध पदार्थ, इसके भीतर बैठे हैं।

> तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तदु अंतिके।
> तदंतरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ (ईश)

वह चलता भी है, नहीं भी चलता है, दूर भी है, पास भी, सबके भीतर, सबके बाहर।

अणोरणीयान् महतो महीयान् ।
आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति । (कठ)

छोटे से छोटा, बड़े से बड़ा। ठहरा हुआ भी दूर दूर चल रहा है। सोया हुआ भी सब जगह घूम रहा है। इस "मैं" और "न-मैं" (अनात्मा, एतत्) दोनों को अपने भीतर रखने वाले देव को "मैं" से "अन्य", मैं के सिवाय दूसरा, कौन जान सकता है ?

अस्थूलोऽनणु, रमध्यमो मध्यमो,ऽव्यापको व्यापको, हरि-रादिरनादि, रविश्वो विश्वो, निर्गुणस्सगुण इति। तुरीयमतुरीयं, आत्मानमनात्मानं, उग्रमनुग्रं, वीरमवीरं, महांतममहांतं, विष्णुमविष्णुं, चलंतमचलंतं, सर्वतोमुखमसर्वतोमुखं, इति।
(नृसिंहतापनी)

गर्भीकृतमहाकल्पो निमेषोऽसावुदाहृतः ।
आक्रांतकल्पेनानेन न संत्यक्ता निमेषता ॥
अकुर्वन्नेव संसाररचनां कर्तृतां गतः ।
कुर्वन्नेव महाकर्म न करोत्येव किंचन ॥
(योग वा०, नि-प्र०, पू० अ० ३६)

न स्थूल है, न अणु, । मध्यम भी है और आगे पीछे भी। व्यापक भी है और परिमित भी। आदि भी और अनादि भी। विश्व भी और अविश्व भी। निर्गुण भी सगुण भी। जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति से परे भी, और उनमें अनुस्यूत भी। आत्मा भी अनात्मा भी। उग्र भी नम्र भी। वीर भी भीरु भी। बड़ा भी छोटा भी। विष्णु भी, सबमें व्याप्त, सबको सोये हुए,

बांधे हुए, "वि-सिनोति", और अ-विष्णु भी। चलता भी स्थिर भी, अनादि अनंत प्रवाह से बहता हुआ भी और कूटस्थ स्थिर भी। सब ओर देखता भी, सबसे मुँह फेरे भी। —सिवा "मैं" के और कौन ऐसा सर्वशक्तिशाली विरुद्धशक्ति-वाला है जो आत्मघात भी कर सकता और करता है, और आत्मधारण आत्मोज्जीवन भी। यह मैं ही ऐसा निमेष है जिसके भीतर महाकल्प भरा पड़ा है, जो चुप पड़ा है पर सब संसारस्वप्न की रचना कर रहा है।

यदि जिज्ञासु ने, जैसा ऊपर कहा, प्रथम पुरुष का अनुवाद उत्तम पुरुष के शब्दों में कर लिया है, तो उसको प्रत्यक्ष ही सब विरोध और सबका परिहार अपने भीतर अनुभूत होगा। "मैं यह हूँ", थोड़ी देर पीछे "मैं यह नहीं हूँ"। जिस वस्तु से पहिले राग करता हूँ, उसी से पीछे द्वेष करता हूँ। जिस पर काम करता हूँ उसी पर क्रोध। जिसमें सुख मानता हूँ, उसी में दुख। पहिले हाँ कहता हूँ, फिर नहीं। पहिले जागर, फिर निद्रा। पहिले जन्म, फिर मरण। पहिले बंध, फिर मोक्ष। विकास, संकोच। ईहा, उपरम। व्युत्थान, निरोध। सृष्टि, लय। संचर, प्रतिसंचर। आरोह, अवारोह। उपचय, अपचय। वृद्धि, क्षय। संयोग, वियोग। इत्यादि अनंत द्वंद्व। राग के बाद द्वेष होना, प्रवृत्ति के बाद निवृत्ति होना, आवश्यक इसलिये है कि "मैं" तत्त्वतः, वस्तुतः, सचमुच, "अ-मैं", "न-मैं", "अनहं", "अनात्मा" तो है नहीं। इसलिये "मैं-यह" रूपी राग, आभासमात्र, स्वयं विशीर्ण हो जाता है, और द्वेष के, वैराग्य के, रूप में परिणत होता है।

द्वंद्वों का समन्वय क्या है ? तो इनका पुनः पुनः अभ्यास। फिर फिर अनंतवार होना। पुनरपि जननं पुनरपि मरणं। प्रवृत्ति और निवृत्ति की अनुवृत्ति। एक यह "ही" नहीं, किंतु यह "भी" और इसका उलटा "भी"।

एवं प्रवर्त्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः।

अघायुरिंद्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ (गीता)

इस अनवरत अनादि अनंत पौनःपुन्य का ही प्रत्यक्ष स्वरूप, संसार का, संसरण का, जंगमजगत् का, चक्र है। (रेखागणित का) वृत्त, गोल, चक्र, प्रत्यक्ष ही अनादि, अनन्त, अनवरत, अखंड है। और संसार की सब गति चक्रवत् भ्रमण है, भ्रम है। निष्क्रिय पदार्थ का सक्रिय भासना, भ्रमना, भ्रम ही है, आभास ही, मिथ्या ही, धोखा ही, माया ही, है। पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, सब ग्रह, तारा, विविध प्रकार से चक्कर खा रहे हैं, गोल घूम रहे हैं, भ्रम रहे हैं। जीवत् शरीर में रुधिर आदि धातु भी सतत घूम रहे हैं। दिन-रात, षड्-ऋतु, यौवन-जरा, स्वास्थ्य-रोग, सभी।

सुखस्यानंतरं दुःखं दुःखस्यानंतरं सुखं।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च॥ इत्यादि।

सारा पुराण-इतिहास, जितने शास्त्र हैं उन सबके विचारणीय विषयभूत द्रव्यों और भावों का इतिहास, इसी भ्रम का, इसी चक्र का, उदाहरण है। इसी से कहा है कि,

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्॥

जैसे एक व्यक्ति का जन्म, वृद्धि, क्षय, मरण होता है, वैसे ही एक कुल का, एक वंश का, एक गोत्र का, एक जाति

का, एक समुदाय का, एक समाज का, एक राष्ट्र का, एक महाराष्ट्र का। और भी। बहुत सी छोटी छोटी जातियाँ मिलके एक महा जाति बन जाती है, फिर महा जाति बिखर कर बहुत सी छोटी छोटी जातियाँ छिन्न भिन्न हो जाती हैं। बहुत से छोटे छोटे राज्य एक में मिल कर एक साम्राज्य बन जाता है, फिर वह बिगड़कर, छोटे छोटे राज्य हो जाते हैं। एक से अनेक, अनेक से एक। यथा भारतवर्ष के इतिहास में, युधिष्ठिर से पहिले और पीछे। चंद्रगुप्त और अशोक से पहिले और पीछे। हर्षवर्धन से पहिले और पीछे। समुद्रगुप्त से पहिले और पीछे। तथा पश्चिम में पारसीक, मिश्र-देशीय, रोम, मकूदूनिया (सिकंदर) आदि के साम्राज्य के पहिले और पीछे। बीज से वृक्ष, वृक्ष से बीज। एक से अनेक, अनेक से एक। और जो कथा एक मानव व्यक्ति, वा कुल, समाज, आदि की, वही कथा ब्रह्म के अंडों, ब्रह्मांडों, पृथ्वी, चंद्रमा, मंगल, बुध, बृहस्पति, आदि ग्रहों, सूर्य, अगस्त्य, सप्तर्षि आदि तारों, तथा सौरसंप्रदायों, और अनंतानंत ऋक्षों और ऋक्षसंप्रदायों और ब्रह्मांडसमूहों, विराटों और महाविराटों, की है।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ (गीता)

यह सब आवागमन की अनादि अनंत परम्परा खंड दृष्टि से, व्यवहार दृष्टि से, "मैं-यह" और "यह-नहीं" के दो टुकड़ों की दृष्टि से, क्रममय प्रतीत होती है। जभी इससे चित्त खिन्न होता है, जभी यह आवागमन उसको असह्य भार सा

जान पड़ने लगता है, जभी वह इससे घबराता है, तभी उस चित्त के पीछे जो द्रष्टा है, चित् है, प्रत्यगात्मा, परमात्मा है, जिसमें असंख्य चित्त, चेतित "यह", "जीवात्मा", मन, अंतः-करण, भरे पड़े हैं, वह सम्पूर्ण दृष्टि से, परमार्थ दृष्टि से, "मैं-यह-नहीं (हूँ)" की एकरस एकाकार निर्विशेपदृष्टि से, इस सब अनंत चक्र और भ्रम को अपने भीतर बंद, समाप्त, लीन, शांत, देखता है। "शेते च सर्वमापीय", सबको पीकर सोता है।

परांचि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्
तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद्
आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥

अर्थात्, स्वयंभू ने, आत्मा ने, अपने लिये जो इंद्रियाँ बनाईं, उनको बाहर की ओर फोड़ निकाला, इस लिये बाहर की ओर, पराक् वस्तु को, अपने से अन्य और बाह्य माने हुए दृश्य को, देखता है। जब थक कर, धीर होकर, भीतर की ओर आँख फेरता है, तब अपने को, प्रत्यक् वस्तु को, आत्मा को, देखता है।

संसार की किसी वस्तु के बृहत् परिणाम से ही जीव को भयभीत नहीं होना चाहिये। दीर्घ विचार से इसको स्थिर करना चाहिये कि संसार की छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी वस्तु, जो कुछ भी दृश्य है, विषय है, अथवा सुख और दुःख के असंख्य प्रकारों का अनुभव है—सभी चित्त की, अंतःकरण की, वृत्तियाँ ही हैं। बात प्रत्यक्ष है।

यदि आप कहते हो "एक घंटा", तो अवश्य एक घंटा का जो कुछ अर्थ है, इतना काल, इतना समय, वह आपके चित्त में है, आपकी चित्त की वृत्ति है, आपका चित्त तदाकार हो रहा है। यदि "एक वर्ष", तो भी वही दशा है। यदि "दस वर्ष", तो भी। यदि "सौ वर्ष"—तो क्या अब आपको संदेह होने लगा? मेरी आयु तो इतनी नहीं है, मेरे चित्त के भीतर सौ वर्ष कैसे आ सकता है! और जब लाख या कोटि वर्ष की चर्चा की तब तो यह संदेह बहुत दृढ़ हो जाता है। तो क्या जब आप "सौ या लाख या कोटि वर्ष" कहते हो, तो ये शब्द आपके मुँह में अर्थ रहित हैं? ऐसा नहीं। सार्थ हैं। यही कथा, जो काल के परिमाण की है, वही देश के परिमाण की भी है, यथा एक हाथ, एक कोस, एक योजन, एक सहस्र वा लाख वा कोटि योजन। एक कोस, एक योजन आदि सभी आपके शरीर के परिमाण से अधिक है, पर ये शब्द आपके मन में बहुत हो सार्थ है। शरीर के कालकृत देशकृत अवच्छेद में और चित्त की वृत्ति में समानता नहीं। अथवा समदर्शिता के नियम से समानता ही चाहिये तो समानता भी आपको मिल सकती है। यह जो खगोल का अर्ध आप चर्म के चक्षु से देखते हो, यह तो विस्तार में अनंत कोटि योजन है, इसमें अनंत कोटि ब्रह्मांड, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, नक्षत्र, तारा, भरे पड़े हैं, पर सबका सब आपकी आँख के एक अति सूक्ष्म भाग पर प्रतिबिंबित हो जाता है। छोटे से छोटे दर्पण में भी। तो फिर चित्त में क्यों नहीं। प्रत्यक्ष ही चित्त, मन, अंतःकरण, जीव भी,

आत्मा के अध्यास से अणोरणीयान् महतो महीयान् है। जब जीव कोटि वर्ष या कोटि योजन का ध्यान करता है, तो यह सब उसके भीतर आ जाता है। जीव उससे बड़ा हो जाता है। छोटे पदार्थ के लिये छोटा हो जाता है। छोटा, बड़ा, दूर, पास, यह सबही चित्त के भाव हैं, वृत्तियाँ हैं।

योग वासिष्ठ में कहा ही है,

इमे समुद्रा गिरयो ब्रह्मांडानि जगन्ति हि।
ममांतःकरणस्थैव खंडा बहिरिव स्थिताः॥

तथा सभी सुख दुःख। इसको दृढ़ रूप से निश्चय कर लेने पर यह बात स्पष्ट हो जायगी कि यह सब संसार, आत्मा की लीलामात्र है, नाटक है, सुख को भी दुःख को भी आत्मा अपने ऊपर अध्यारोप करता है, दुःख में भी नाटक के रौद्र भयानक वीभत्स करुण आदि रसों का इच्छापूर्वक आस्वादन करता है, सुख में भी शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत आदि का, और सर्वोपरि शांत का। क्योंकि संपूर्णदृष्टि से यह सब लीला, महाशिलासत्तावत्, निश्चल है, निष्क्रिय है।

समदर्शिता का अर्थ यही है कि जो ही नियम, जो ही अन्योऽन्यभाव, जो ही अनुपात वा निष्पत्ति, छोटे के जीवन का नियमन करते हैं, वे ही बड़े का। यथा पिंडे, तथा ब्रह्मांडे। यदि गुणन अनंत है तो भाजन भी। यदि महत्त्व का अंत नहीं तो अणुत्व, लघुत्व, अल्पत्व का भी अंत नहीं।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः॥

इसका यह अर्थ तो प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता कि हाथी और चींटी का परिमाण बराबर है, और सड़क पर चलने को दोनों को तुल्य परिमाण का ही अवकाश मिलना चाहिये। इसका अर्थ यही है कि जो आत्मा के नियम एक में देख पड़ते हैं, वे ही दूसरे में भी।

यावानयं वै पुरुषः यावत्या संस्थया मितः।
तावानसावपि महापुरुषो लोकसंस्थया ॥

जैसे एक पुरुष के शरीर में अंगों का संस्थान है उसीके समान महाविराट् पुरुष के शरीर में विविध लोकों का संस्थान है। जैसे एककी उत्पत्ति, स्थिति, लय, तैसे दूसरे की।

इतिहास में, पुराण में, महाकाव्य में, हज़ारों अथवा लाखों वर्ष के क्रमिक इतिवृत्त एक साथ ही लिखे पड़े हैं। उनके लिखने वाले महा कवि के चित्त में, स्मृति में, भी सब वृत्तांत एक साथ ही भरे हैं। अव्यक्त रूप से। लिखने या पढ़ने वाला लिखने या पढ़ने लगे तो एक एक को क्रम से ही लिखे पढ़ेगा। लिखना पढ़ना बंद कर दे तो फिर ज्योंकी त्यों निष्क्रमता और अव्यक्तता हो जाती है। यह भी परिमित दृष्टि से ही, निष्क्रमता और सक्रमता में क्रमिकता देख पड़ती है। अपरिमित दृष्टि से दोनों, अव्यक्तावस्था, कारणावस्था, प्रसुप्तावस्था, निष्क्रमता, और व्यक्तावस्था, कार्यावस्था, जागरावस्था, सक्रमता, सब एक साथ हैं। [सूफ़ियों के संकेत में, अव्यक्त को निहाँ, (तिरोभूत, छिपा) बातिन (भीतरी) खुफ्ता (प्रसुप्त) कहते हैं, और व्यक्त को अयाँ, (प्रकट, आविर्भूत), ज़ाहिर (बाहरी), बेदार (जागता)। "लहो" शब्द अरबी का है,

इसका अर्थ लीला, नाटक, खेल है। अलिफ लाने से महत्त्व का अर्थ उत्पन्न होता है। जैसे "किब्र" का अर्थ बड़ा, तो अकबर का अर्थ सबसे बड़ा। इसी तरह "लहो" का अर्थ लीला, तो "अल्लाह" का अर्थ सबसे बड़ा लीला करने वाला। अध्यारोप-अपवाद को तशबीह-तनज़ीह, निर्गुण-ब्रह्म को ज़ाति-ला-सिफात, सगुण को ज़ाति-बा-सिफात, सत्-चिद्-आनंद को वुजूद-नूर-शुहूद, नेति अथवा निषेध को इसक़ातुल-इशारत, सूफियों की इस्तिलाह में कहते हैं। ऐसा सूफ़ी दोस्तों से मालूम हुआ। उपनिषदों में जगद्रचयिता के लिये, इसी आशय से, "पुराण कवि" आदि नाम मिलते हैं।]

> यः स्वात्मनीदं निजमाययाऽर्पितं
> क्वचिद्विभातं क्व च तत्तिरोहितं।
> अविद्धदृक् साक्ष्युभयं तदीक्षते
> स आत्ममूलोऽवतु मां परात्परः॥ (भागवत)

अर्थात् यह परम मायावी लीलाशील परमात्मा मैं, अपने स्व-भाव रूप संसार की व्यक्तावस्था और अव्यक्तावस्था दोनों का, एक साथ ही अनुभव करता है।

विरोधी द्वंद्वों से संसार बना है इस बात को क़ुरान में भी पहिचाना है।

"मिन् खलक़्ना कुल्ले शयीन् ज़ौजैन्।"

"मैंने, परमात्मा ने, अल्ला खुदा ने, सब चीज जोड़ा जोड़ा पैदा की हैं"। (अरबी में अल्ला के कई नाम भी ऐसे ही विरुद्धशक्तिद्योतक जोड़ा जोड़ा कहे हैं, जैसे रहमान-जब्बार अर्थात् शंकर-रुद्र, हई-मुमीत अर्थात् पालक-

संहारक, मुजिल-हादी अर्थात् मायी-तारक, बंधदाता-मोक्ष-दाता, वग़ैरह)। और ये विरोधी एक दूसरे का नाश कर देते हैं, जैसे जोड़ और घटाव, गुणन और विभाजन, लहना और देना। और फल सदा शून्य, "ख", सिफर, ज़ीरो, रह जाता है, जो परमात्मा का, ब्रह्म का, मैं का स्वरूप है। महाजन का कारखाना बड़ा भारी है, लाइंतिहा है, अनंत है, अनगिनत आदमियों से अनगिनत पावना है और अनगिनत आदमियों को अनगिनत चुकावना है। पर जितना ही सब लहना है उतना ही सब देना है। दोनों की मीजान बराबर है। अस्ली पूंजी "कुछ-नहीं" है, "अ-किंचित्", "एतन्-न", माया है। और जितने लहनेदार और देनदार हैं, वे सब भी मेरे ही रूपांतर हैं, मैं ही हैं !

विद्यां चाऽविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥
संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्याऽमृतमश्नुते ॥

(ईशोप०)

अविद्या को और विद्या को, दोनों को, जो एक साथ (सह) जाने वह (स ह) अमृत का स्वाद ले, अमर हो। "मैं-यह (शरीर हूँ)" यही अविद्या। अनित्य, अशुचि, दुःखमय अनात्मा को, हाड़ मांस के पिंड को, "यह" को, नित्य, शुचि, सुखमय, निराकार आत्मा, "मैं" मान लेना—यही अविद्या है। "अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या (योगसूत्र) "मैं-(ही, यह नहीं, हूँ), यही विद्या। "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽव-

स्थानं", "स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः", (योगसूत्र)। अपने स्व-रूप में प्रति-स्थित, प्रतिष्ठित, दृढ़ रूप से स्थित, द्रष्टा, चेतना, चिति शक्ति, "यह-नहीं-हूँ" ऐसे अपने रूप को पहिचानने पर। अविद्या से मृत्यु का, नश्वरता का, अनित्यता का, अनु-भव होकर, उसके पार जाकर, विद्या से नित्यता का, अमरता का अनुभव होता है। दोनों सह, एक साथ, युगपत्, इस महावाक्य से सूचित संवित् में विद्यमान हैं। "यह" की संभूति, संभव, और उसका विनाश, दोनों इसमें सदा साथ ही मौजूद हैं। विनाश के द्वारा मृत्यु के पार पहुँचता है, मैं की अनंत सत्ता के संयोग से, अध्यास से, एतत् में, यह में, जो अनंत आविर्भाव-तिरोभाव की संभूति आगई है, उसके द्वारा अमरत्व का अनुभव करता है। अजन्मा, अजर, अमर तो है ही, पर शरीरों, उपाधियों, के आविर्भाव-तिरोभाव के अनादि अनंत प्रवाह के द्वारा विशेष रूप से अमरता का अनुभव करता है।

अविप्रणाशः सर्वेषां कर्मणामिति निश्चयः।
कर्मजानि शरीराणि शरीराकृतयस्तथा॥
महाभूतानि नित्यानि भूताधिपतिसंश्रयात्॥
तेषां च नित्यसंवासो न विनाशो वियुज्यताम्॥

(म० भा०)

अर्थात्, मैं विषयी, द्रष्टा, आत्मा, प्रत्यगात्मा, परमात्मा, नित्य है। अनात्मा, आत्मेतर, आत्मा से अन्यत, "यह", विषय, दृश्य, अनित्य है। अनित्य तो है, पर नित्य आत्मा के ध्यान में, अवधारण में, संवित्, चित्, बोध, ज्ञान में है। इसी हेतु

से तो जो कुछ भी क्षणिक सत्ता का आभास उसमें है सो हूँ।
"मैं" "यह" का उद्भावन संभावन करता है, अपलाप के वास्ते।
इतने ही उद्भावन से उसमें सत्ता का आभास आ जाता है,
और अपलाप से असत्ता उसमें देख पड़ती है। पर यदि
अनित्य पदार्थ भी नित्य ने छू गया, तो उसमें नित्यता का
आभास भी आ जायगा, जैसे ही सत्ता का। नासतो विद्यते
भावो नाभावो विद्यते सतः। सत् और नित्य, एक ही वस्तु,
एक ही भाव। जहाँ सत्ता वहाँ नित्यता। जहाँ सत्ताभास
वहाँ नित्यताभास भी। इसका विवर्त भी ठीक है कि जहाँ
असत्ता और असत्ताभास वहाँ अनित्यता और अनित्यताभास
भी। ऊपर देख चुके है कि मैं और यह में परस्पर अन्योऽन्य
गुणों का अध्यास हो जाता है। पर एक ही चीज नित्य भी
अनित्य भी, अनित्य भी नित्य भी—यह कैसे बने? तो ऐसे बने।
अनंत असंख्य आविर्भाव-तिरोभाव से। भूताधिपति आत्मा का
संश्रय होने से सब कर्म, सब कर्म से जनित शरीर, सब शरीरों के
सूक्ष्म से सूक्ष्म आकार प्रकार, सब महाभूत, तत्त्व आदि, सभी
नश्वर पदार्थ भी अनश्वर हो जाते हैं, क्यों कि "अहं-एतन्न"
इस महाबोध में एतत् के असंख्य भेद रूप ये सभी सदा
"वर्त्तमान" है। भूत नहीं, भविष्य नहीं, सदा "वर्त्तमान"
हैं, कारणावस्था में, अव्यक्त, अनुद्बुद्ध, स्मृति रूप से, "कारण-
मस्त्यव्यक्तम्"। मेरी स्मृति में जो बातें भरी पड़ी हैं, उनको
फिर फिर जगाता और सुलाता रहता हूँ, बाहर प्रकट करता
हूँ और फिर अन्तर्हित कर देता हूँ। यह दशा समस्त संसार
की है।

क्रीड़न्निवैतत् कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ।
यदा स देवो जागर्त्ति तदेदं चेष्टते जगत् ।
यदा स्वपिति शांतात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥
एवं स जाग्रत्स्वप्नाभ्यां इदं सर्वं चराचरं ।
संजीवयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्ययः ॥ (मनु)

जब ब्रह्मा जागते हैं तब सृष्टि उत्पन्न होती है । पुराकल्प की "स्मृति" के अनुसार इस अपने जगत् की रचना आदि करते हैं । वेद अर्थात् आध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिक ज्ञानसार, ज्ञानसमूह, ज्ञानसर्वस्व, जो सदा ब्रह्म में है, अथवा ब्रह्मस्वरूप है, उसका स्मरण प्रत्येक ब्रह्मा, व्यक्त ब्रह्मांड के अधिपति, करते हैं । जो अनन्त ज्ञान ब्रह्म में, परमात्मा में, अव्यक्तरूप से सदा "वर्त्तमान", "विद्यमान" है, वह व्यक्त ब्रह्मा की बुद्धि में क्रमिक, भूत-भवद्-भविष्य रूप क्रम से, उपजता है । जब ब्रह्मा सोते हैं तो सारा उनका जगत् भी सो जाता है, प्रलीन हो जाता है । "ब्रह्मणा सह मुक्तिः" । और यह क्रिया सोने जागने की प्रत्येक ब्रह्मा, परमेष्ठी, पुनः पुनः, मानों क्रीड़ा से, लीला से, करते रहते हैं ।

निष्कर्ष यह कि परमात्मा के ज्ञान में अनित्य भी अव्यक्त रूप से नित्य हो गया । विनाश हो जाने पर भी पुनः पुनः उत्पन्न होता रहता है । और यह अनन्त बार पुनरुत्पत्ति का संभव ही उसकी आभासिक नित्यता है, अविप्रणाश है । दूसरी ओर, नित्य आत्मा को भी शरीर में पड़ जाने के कारण मरणरूपी अनित्यता के आभास अध्यास का पुनः पुनः अनुभव होता है ।

"कोऽहम्"। "मैं" क्या है, क्या हूँ ? स्थावर, परमाणु, अणु, तत्त्व, महाभूत, अश्मा, मणि, उद्भिज्ज, ओषधि, वनस्पति, गुच्छ, गुल्म, तृण, वीरुत्, वृक्ष, वल्ली, आदि बीज-कांडरुह, हूँ ? नहीं।

अंतःसंज्ञा भवंत्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥ (मनु)

स्वेदज, दंश, मशक, कीट, पतंग हूँ ? नहीं। अंडज, मछली, कछुआ, सांप, मगर, घड़ियाल, छिपकिली, गोह, गरुड़, गृध्र, हंस, शुक, काक, वक, चटक, आदि हूँ ? नहीं। पिंडज, हाथी, घोड़ा, ऊंट, गाय; बकरी, भेड़, मृग, सिंह, व्याघ्र, तेंदुआ, बिल्ली, चूहा, नेवला आदि हूँ ? नहीं। वानर, लंगूर, वनमानुस, आदि हूँ ? नहीं। काले, पीले, लाल, सफ़ेद, जात, परजात, ऊँची जात, नीची जात, भले, बुरे, पुण्यवान्, पापी, सुखी, दुःखी, मोटे, पतले, रोगी, स्वस्थ, धनी, निर्धन, मूर्ख, विद्वान्, शूर, भीरु, श्रमी, आलसी, मनुष्य, स्त्री, पुरुष, नपुंसक, हूँ ? नहीं। भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, रक्षस्, पूतना, कूश्मांड, अप्सरा, गंधर्व, सिद्ध, विद्याधर, मुनि, ऋषि, महर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि, परमर्षि, उपदेव, देव, इंद्र, वरुण, सोम, मरुत्, अग्नि, ब्रह्म, विष्णु, शिव, गणपति, सूर्य आदि हूँ ? नहीं। "मैं" "मैं" ही हूँ। मैं के सिवा अन्य इतर अपर, (और) कुछ नहीं हूँ।

एतद्-अतास्तु गतयो ब्रह्माद्याः समुदाहृताः ॥ (मनु)

स्थावरं विंशतेर्लक्षं जलजं नवलक्षकम् ।

कूर्माश्च नवलक्षं च दशलक्षं च पक्षिणः ॥

त्रिंशल्लक्षं पशूनां च चतुर्लक्षं च वानराः ।
ततो मनुष्यतां प्राप्य ब्रह्मज्ञानं ततोऽभ्यसनात् ॥
(बृहद्विष्णुपुराण)

इसमें दो लाख मनुष्यादि योनि जोड़ देने से इस ब्रह्माण्ड की प्रसिद्ध चौरासी लाख योनियों की गिनती पूरी हो जाती है। माया से आत्मा इन योनियों को, शरीरों को, क्रम से, ओढ़ता और छोड़ता भासता है। पर वस्तुतः यह सब अनंत ओढ़ने-छोड़ने की क्रिया एक ही अपरिमित असीम क्षण में, (महाशिलासत्तावत्) परमात्मसंवित् में "वर्त्तमान" है, कालातीत है, क्रमत्रय से परे है। और भी माया की लीला को देखिये। जीव भाव को, भेदभाव को, असंख्य योनियों की उपाधियों में बद्ध भाव को, आत्मा स्वयं ओढ़ता-छोड़ता है, पर मोहवश, जब छोड़ना चाहता भी है, तब भी छोड़ने से डरता भी है।

अष्टावक्र गीता में कहा है,

इहामुत्रविरक्तस्य नित्यानित्यविवेकिनः ।
सततं मोक्षकामस्य मोक्षादेव विभीषिका ॥

ऐहिक और आमुष्मिक सुखों से विरक्त भी है, नित्य और अनित्य का विवेक भी निश्चय से कर रहा है, मोक्ष की इच्छा भी संतत लगी है, तौ भी माया का, वासना का, प्रभाव ऐसा है कि जब मोक्ष सामने आती है तब एक बेर उसीसे भय जान पड़ने लगता है। कारण यह कि अभी परमात्मा में दृढ़ निश्चय, निष्ठा, नहीं हुई है, डरता है कि शरीर छोड़ने से सर्वथा नाश ही न हो जाय। पर शीघ्र ही निष्ठा, नितरां स्थिति, हो जायगी।

अंधं तमः प्रविशंति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥ (ईश)

जो अविद्या में पड़े हैं, वे तो अंधकार में हैं ही। पर जो विद्या की उपासना करते हैं वे एक बेर तो मानों उससे भी बहुत गहरे अंधेरे में घुसते हैं। अहं का, मैं का, अर्थ, चिर-काल से, परिमित शरीर समझ रक्खा है। "मा न भूवं हि भूयासमिति प्रे मात्मनीक्ष्यते," मैं सदा बना रहूँ, मेरा नाश कभी न हो, ऐसा स्वाभाविक प्रेम आत्मा को अपने से है, और उस आत्मा को शरीर समझ रक्खा है, तो ऐसी प्रिय वस्तु को छोड़ते अवश्य बड़ा मोह, बड़ा भय, बड़ी करुणा, उमड़ती है। साकार को ढूंढ़ता है, शुद्ध निराकार में पर विश्वास हो होकर हटता है। पर, नहीं, वही तो अंतिम शरण है, अंत में "मैं" "मैं" पर ही आस्थित, आस्था-युक्त, होता है। "तमसस्तु परे पारे", गहन अंधकार के पार, उस ज्योति को दृढ पहिचानता है और शांति पाता है *। शौनक ने सुत से पूछा,

---

* मौलाना रूम की मस्नवी में उपनिषदों के इसी आशय का अनुवाद है।

तजल्ली गर तू ख्वाही नूरे ज़ातस्त ।
व तारीकी दरूं आबे हयातस्त ॥

गहिरे अंधेरे के भीतर आत्मा का अद्वितीय अनुपम सर्व-श्रेष्ठ प्रकाश, "वरेण्यं भर्गः" छिपा हुआ है। "उद्वयं तमसः परि ज्योतिष्पश्यंतः," "तमसः पारं दर्शयति" (छां०), "यस्य तमः शरीरं" (बृ०), "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" (श्वेत०) "तमसः परस्तात्" (मुं०, कैव०, महाना०, नृ-उ०)।

भूरीणि भूरिकर्माणि श्रातव्यानि श्रुतानि च ।
तस्मात् साधोऽत्र यत्सारं तदुद्धृत्य मनीषया ।
ब्रूहि नः श्रद्धानानां येनात्मा संप्रसीदति ॥

अर्थात्, शास्त्र वहुत, अरु कर्म वहुत, सब सुनत करत न ओराय,
सो, साधो, जो सार चुन्यौ तुम, अपनी बुद्धि बराय,
वही कहौ, जो सुनि श्रद्धालुन की आतमा जुड़ाय ।

सूत के उत्तर का निचोड़ यह है,

मां (अहमं) विधत्तेऽभिधत्ते मां (अहमं) विकल्प्यापोह्यते त्वहम् ।
एतावान् सर्ववेदार्थः सर्वमास्थाय मां भिदा ।
मायामात्रमनूद्यांते प्रतिषिध्य प्रसीदति ॥

(भागवत)

सच वेद, और सब संसार, का काम इतना ही है कि "मैं" के ऊपर असंख्य अनंत भेदों से भिन्न भावों का अध्यारोप, ऊहन, अभ्युपगमन, विशेष कल्पन, संकल्पन, उद्भावन, संभावन करके, पीछे उनका अपवाद, अपोहन, निरसन, अप-कल्पन, वि(गत)कल्पन, खंडन, प्रतिषेधन, निषेधन करें, सबको मिथ्या "मा-या" मात्र, "या-मा", "जो नहीं है" सिद्ध करें ।

यन्नेति नेति वचनैर्निगमा अवोचन् ।

इस ब्रह्मांड में क्रमिक विकास-संकोच ("ईवोल्यूशन-इन्वोल्यूशन) के नियमों के अनुसार जीव उपर्युक्त "चौरासी लाख" योनियों का, शरीर के प्रकारों का, अपने ऊपर अध्यारोप करता है, और फिर उनका अपवाद करता है ।

यह विकास का क्रम, स्थावर, वनस्पति, जलजन्तु, कूर्म,

पक्षी, पशु, वानर, मनुष्य, पाश्चात्य विद्वानों ने भी अब पहिचाना है।

इनमें अविद्यावश होकर जीव भ्रमण करता है। बाद में विद्या प्राप्त करके, अर्थात् यह स्मरण करके, कि मैं मैं ही हूँ, यह सब नहीं हूँ, अपनी सर्वदा निकटस्थ. पर तौ भी खोई हुई, अमरता को, स्थिरता को, पूर्णता को, पाता है।

"चित्तनदीयमुभयतोवाहिनी, संसारप्राग्भारा वहति तु पापाय, कैवल्यप्राग्भारा वहति कल्याणाय"। (योग भाष्य)

यह चित्त की नदी दोनों ओर, विरुद्धगति से, वहती है. संसार की ओर झुककर पाप की ओर वहा ले जाती है। "पुण्यं च पापं च पापे," पुण्य और पाप दोनों ही परमार्थ दृष्टि से पाप हैं। सोने की सांकल हो तो, लोहे की शृंखला हो तो, दोनों ही सिकड़ी पैर को बांधती ही हैं। पुण्य और पाप दोनों ही जीव के बंधन है। जब चित्त नदी कैवल्य की ओर ढुरती है तब जीव को कल्याण की ओर बहा ले जाती है, पुण्यपाप दोनों से छुड़ाकर शांति मे पहुँचा देती है। यही अर्थ मनु ने कहा है।

सुखाभ्युदयिकं चैव नैश्रेयसिकमेव च।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च कर्म द्विविधमुच्यते॥

कर्म दो प्रकार के, प्रवृत्त और निवृत्त। एक अभ्युदयसाधक और, जीवबंधक, दूसरा ऋणनिर्मोचक, संसारबाधक, निःश्रेयससाधक, जिसको नैष्कर्म्य कहते है। अपनी पूर्णता को भूलना, यही अविद्या है, संसार है, पुण्यपापात्मक, धर्मार्थ कामरूपत्रिवर्गात्मक, अभ्युदयात्मक, बंधी है। अपनी पूर्णता को

पहिचानना, याद करना, यही परम कल्याण है, पापपुण्यातीत निःश्रेयस है, चतुर्थवर्गात्मक, परमपुरुषार्थरूप, मोक्ष, निर्वाण, कैवल्य, ब्रह्ममात्र, परमपद है।

अखिलार्थदम्।

"एतत्" का, "यह" का, रूप द्वंद्वात्मक क्यों है, स्त्री और पुरुष क्यों हैं; पुरुष 'और' प्रकृति (जैसा सांख्य में) कहना ठीक है, कि पुरुष, 'की' प्रकृति (जैसा वेदान्त में) कहना ठीक है सब द्वंद्व नितरां विरुद्ध और विदृश हैं, कि संरुद्ध और सदृश भी हैं; और हैं तो क्यों हैं स्त्री-पुरुष परस्पर वाम-दक्षिण क्यों हैं, इनमें सर्वथा गुणभेद लिंगभेद ही है, कि तमःप्रकाशवत, युष्मद्-अस्मत्-प्रत्ययवत्, विषय-विषयिवत् विरुद्ध होकर भी इनमें गुणों का परस्पर अध्यास और उभयलिंगता और अर्धनारीश्वरता भी है शिव और शक्ति में भेद है या नहीं है, है तो क्या और क्यों है; आकस्मिकता और आवश्यकता, यदृच्छा और नियति, और पुरुषकार, दैव यह दो भिन्न पदार्थ हैं या नहीं हैं, और हैं तो क्या और क्यों। यदि सब संसार, यदि यह सब जगत्, परमात्मा की केवल लीला है, यदृच्छा है, "न खलु परतंत्राः प्रभुधियः," तो इसमें नियति, नियम, बहुत कड़ा अनिवार्य कार्य-कारण संबंध, पुण्य-पाप का अनुबंध, नियत पुनर्जन्म, अवश्य "सुखस्यानंतरं दुःखं दुःखस्यानंतरं सुखं", "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च", "ईश्वरैरपि भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभं", "प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः", बीज से वृक्ष वृक्ष से बीज, इत्यादि कड़े नियम से बँधा क्रम क्यों देख पड़ता है, प्रत्येक

कार्य के लिये कारण की खोज मानवबुद्धि को क्यों अवश्य-मेव होती है; लीला तो मनमानी, निर्मर्याद, स्वच्छंद, उच्छृंखल, व्यतिक्रांत, अनुबंधातीत, सम्बन्धन रहित होना चाहिये, फिर गणित के, विज्ञान के, प्रकृति के विभिन्न विभागों में अनति-क्रमणीय अनिवार्य अबाध्य अनुल्लंघ्य अखंडनीय नियम क्यों; पाँच ही महाभूत, ज्ञानेंद्रिय, कर्मेंद्रिय, अंगुली, आदि क्यों, न्यूनाधिक क्यों नहीं; स्थूल, सूक्ष्म, कारण, तीन ही शरीर क्यों; जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तीन ही अवस्था क्यों; तीन ही गुण, तीन ही शक्ति क्यों; ज्ञान-इच्छा-क्रिया, सत्त्व-रजस्-तमस्, द्रव्य-गुण-कर्म, सत्-चिद्-आनंद, क्या और क्यों; राग-द्वेष-शांति, प्रवृत्ति-निवृत्ति-अनुवृत्ति क्या और क्यों; तात्त्विक मोक्ष, सद्योमुक्ति, चित्तविमुक्ति से, और सांकेतिक-मोक्ष, क्रममोक्ष से, क्या भेद और क्यों; सांकेतिक मोक्ष के विविध प्रकार क्या और क्यों; तात्त्विक मोक्ष और सिद्धियों में क्या भेद और क्यों; जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त में क्या भेद और क्यों; जीवन्मुक्त अथच अमुक्त आधिकारी जीवों में और अधिकार-वासना-रहित जीवन्मुक्तों और जीवों में क्या भेद और क्यों; प्रत्येक प्रश्न के दो पक्ष, पूर्वपक्ष, और उत्तर-पक्ष, तथा निर्णयात्मक तीसरा, उभय समन्वित मध्यस्थ सिद्धांत क्यों; दर्शनों के विविध वाद क्यों; इत्यादि असंख्य प्रश्नों के कुछ न कुछ परस्पर संगत उत्तर इस महावाक्य के विचारने से, हेरने फेरने से, मिल जाते हैं। समाजशास्त्र, धर्मशास्त्र, राजशास्त्र, आधिभौतिक, आधिदैविक सभी शास्त्रों के भी मुख्य मुख्य मूल सिद्धांत सब इसी आध्यात्मिक शास्त्र के

बीज वा सारभूत महावाक्य से निकल सकेंगे। पर,

नभः पतंत्यात्मसमं पतत्रिणः।

जिस पक्षी के पंखों में जितना बल होगा उतना ही ऊँचा और दूर आकाश में उड़ सकैगा। जिसको जितने शास्त्र आते हों, और जितनी शक्ति खोजने को उसको हो, जितना धैर्य, धृति, वासना, निर्बन्ध, विविध और विशेष ज्ञान की प्राप्ति का; हो, उतना ही इसमें से पावेगा। ऐसा इस लेखक का विश्वास है। और "ब्रह्मविद्या सर्वविद्याप्रतिष्ठा", "अध्यात्मविद्या विद्यानां", यह अति प्राचीन वेद, गीता, आदि का प्रवाद है ही।

अन्य पुस्तकें।

ऊपर लिखे प्रश्नों के, और उनसे संबद्ध अवांतर प्रश्नों के, विषय में, इस महावाक्य की सहायता से, जो कुछ थोड़ा बहुत मेरी समझ में, इस जन्म में, इस शरीर से, आया, वह मैंने "दी सायंस् आफ् पीस्" (अर्थात् "शांतिशास्त्र", वा "मोक्षशास्त्र",) नामक अंग्रेज़ी भाषा में लिखे ग्रन्थ में कहने का यत्न किया है। तथा, अविद्या और अस्मिता (अहंकार) के परिणाम-स्वरूप राग और द्वेष, "मैं" और "यह" के, एक और अनेक के, अभेद और भेद के, संयोग वियोग से किस प्रकार उपजते हैं; तथा अभेद-बुद्धि-प्रधान राग और भेद-बुद्धि-प्रधान द्वेष के बहुविध अवांतर भेद और विकार, शाखा-प्रशाखा रूप से, कैसे फैलते हैं; इच्छा का क्या स्वरूप है; तीन एषणा क्या और क्यों हैं और उनका इन क्षोभविकारों से, संरंभविकारों से, क्या संबन्ध है; प्रसिद्ध षड्रिपु, काम,

क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, का राग द्वेष के मुख्य प्रकारों में कैसे समावेश होता है; साहित्य और रस अलंकारादि का क्या स्वरूप है, नव रसों का राग और द्वेष के नीचे विभजन राशीकरण कैसे होता है, और क्यों इनको सख्या नौ ही मानी है; राग द्वेष आदि का निग्रह, नियमन, दमन, शोधन, सदुपयोजन कैसे हो सकता है; अध्यात्म-शास्त्र वा शांतिशास्त्र वा मोक्षशास्त्र के अंतर्गत क्षोभशास्त्र, संरंभशास्त्र, रागद्वेषशास्त्र के जानने से क्या फल हो सकते हैं; इत्यादि विषय "दी सायंस् आफ् दी ईमोशंस्" ("क्षोभशास्त्र") नामक ग्रंथ में दिखाने का प्रयास किया है। मानव समाज की नीवी, नींव, प्रतिष्ठा, किस प्रकार से अध्यात्मशास्त्र के सिद्धांतों पर, प्राचीन काल में, इस भारतवर्ष में की गई, और अब फिर समस्त पृथ्वीतल पर हो सकती है; कैसे ज्ञान, इच्छा, क्रिया (सत्त्व, तमस्, रजस्) की, विशेष गुण की, स्वभाव में प्रधानता के अनुसार, तीन द्विजवर्ण और एक एकज वर्ण बनते हैं, और इनमें किस प्रकार से कर्मविभाग, वृत्ति-विभाग (जीविका-विभाग), उपायन-विभाग (राधस्, पारितोषिक, बख्त, शुल्क, दक्षिणा, इनाम का विभाग) होना चाहिये; ("मैं", "मैं-यह", "यह-नहीं", और "मैं-यह-नहीं-हूं" इसके अनुसार) चार आश्रम क्या और क्यों हैं; चार वर्ण और चार आश्रम की व्यवस्था से कैसे मनुष्य के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन से संबंध रखने वाले सभी प्रश्न उत्तीर्ण हो सकते हैं; इत्यादि विषय "दी सायंस् आफ् सोशल् आर्गेनिज़ेशन" ("समाज-व्यवस्था-शास्त्र") में तथा

अन्य ग्रन्थों में कहने का यत्न किया है। प्रचलित सभी मतों, सम्प्रदायों, धर्मों, मज़हबों के मूल सिद्धांत एक ही हैं, यह दिखाने का प्रयास "दी सायंस आफ़ रिलिजन" ("धर्म-शास्त्र") नामक ग्रन्थ में किया है। प्रणव-वाद का अंग्रेज़ी अनुवाद "दी सायंस आफ़ दी सेक्रेड वर्ड" (ओंकार-शास्त्र) के नाम से जो प्रकाशित हुआ, उसकी चर्चा पहिले कर चुका हूं। पूर्वोक्त "वेदांतहृदय सूत्र" का आशय "थियासोफ़िस्ट" नामक मासिक पत्र में (जो एक दो वर्ष बंबई से निकल कर अब आड्यार, मद्रास, से, प्रायः पचास वर्ष से निकल रहा है) पहिले सन् १८९४ ई० (१९५१ वि०) में दो लेखों में प्रकाश हुआ (प्रणववाद के अनुवाद को छोड़ कर अन्य ग्रन्थों को उसी आशय का विस्तार समझना चाहिये।

जिस जिस समय ये लेख और ग्रंथ लिखे और छापे गये उस उस समय अंतरात्मा की प्रेरणा ऐसी ही हुई कि ये अंग्रेज़ी में लिखे जायँ। स्यात् इनके द्वारा पश्चिम के देशों में इन प्राचीन विचारों का कुछ थोड़ा प्रचार हुआ हो। भारतवर्ष में तो ये भाव पुराने हैं, और समय समय पर संस्कृत प्राकृत भाषाओं में विविध प्रकारों से कहे गये हैं। युग-भेद से, वक्ता श्रोता का प्रकृति के अनुरूप कहने सुनने के प्रकार में, शब्द विन्यास में, वाक्यों की रचना और क्रम में, प्रत्येक जीर्णोद्धार के समय न्यूनाधिक भेद होता रहा है। इस लेखक को "अहं-एतत्-न" के प्रकार से विशेष संतोष हुआ, इस लिये, इस आशा से कि लेखक के चित्तमल का क्षय हो, तथा, स्यात्, अन्य जिज्ञासु खोजी भाई बहिनों को भी इस प्रकार से

कुछ सहायता मिले, अंतरात्मा की प्रेरणा से इसको लिख दिया।

मधुस्फीता वाचः परमममृतं निर्मितवतस्
तव ब्रह्मन् किं वागपि सुरगुरोर्विस्मयपदम्।
ममत्वेतां वाणीं गुणकथनपुण्येन भवतः
पुनामीत्यर्थेऽस्मिन् पुरमथन बुद्धिर्व्यवसिता॥
त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति वा।
रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

(शिवमहिमस्तुति)

प्रणव-महिमा।

जैसा पहिले कहा, जब से "अहं-एतत्-न" महावाक्य का उदय मेरे हृदय में हुआ, तबसे मैं इस खोज में रहता था कि कोई प्राचीन संस्कृत ग्रंथ मिल जाय जिससे यह महावाक्य, सर्वशंकासमाधाता, अखिलार्थद, स्वयंसिद्ध, स्वतःप्रमाण होता हुआ, परतःप्रमाण भी, आप्तवाक्यसमर्थित भी, हो जाता, तो अन्य जिज्ञासुओं को इसकी ओर फेरने फिरने में सौकर्य होता। अवश्य बीच बीच में मेरे मन में आता रहा कि हो न हो प्रणव के तीन अक्षरों में यही अर्थ होगा। पर निश्चित प्रमाण नहीं मिलता था।

मांडूक्य उपनिषत् में, गोपथ ब्राह्मण में, अन्य ग्रंथों में, कई कई अर्थ इन तीन अक्षरों के किये हैं। महिमस्तुति का श्लोक प्रसिद्ध है,

त्रयीं तिस्रो वृत्तीस् त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरान्
अकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिर् अभिदधत् तीर्णविकृति ।
तुरीयं ते धाम ध्वनिभिर् अवरुंधानम् अणुभिस्
समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद गृणाति ओम् इति पदम् ॥

अर्थात् तीन वेद, तीन वृत्ति (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) तीन लोक, (तीन गुण, तीन शक्ति,) तीन देव (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) को तीन अक्षरों से (क्रमशः) सूचित करता हुआ, (तीनों अक्षरों को एक साथ, एक ध्वनि से, उच्चारण करने पर) सब विकृतियों, विकारों, से उत्तीर्ण, अतीत, (क्रमरहित), तुरीयावस्था की सूचना भी करता हुआ, हे परमात्मन् !, हे ब्रह्मन् !, शरण देने वाले, भय से मोक्ष देने वाले, यह ॐ पद तुम्हारे व्यस्त (क्रमिक, सक्रिय, जगद्) रूप को भी और समस्त (क्रमातीत, निष्क्रिय, निश्चल) रूप को भी कहता है। कुछ और उक्तियों को देखिये।

ओंकारः प्रणवस् तारः प्रातिभः सर्वविन्मतिः । (कोष)

सर्वविन्मतिः, सर्वज्ञबुद्धिः, वही पूर्वोक्त अविशिष्टा शाश्वती बुद्धि, सकृत्प्रभ, सकृद्विभात, सकृद्विद्युत आदि शब्दों से उपनिषदों में कही बुद्धि।

वेदादिस्त्रिगुणो ब्रह्म सत्यो मंत्रादिरव्ययः । (तंत्र)

वेदों का आदि, मूल, त्रिगुण, ब्रह्म, सत्य, मंत्रों का आदि, मूल, अव्यय।

अक्षरं प्रणौति (परमात्मानं प्र-नौति, स्तौति, स्तवीति)।
(छांदोग्य)

ण नूयप्रकर्षेण स्तूयते ज्ञाप्यते आत्मा अनेन इति प्रणवः।

सर्वं (दर्शनं, बोधं, संसारं, जीवनं) प्रकर्षेणनवीकरोति, इति प्रणवः।

आत्मा की स्तुति करता है, याद दिलाता है, और ब्रह्मज्ञान द्वारा सब दर्शन को, सब जीवन को, नवीन कर देता है। द्रष्टा की आँख को नया कर देता है। वह सब संसार को, सब भावों को, नई आँख से देखने लगता है।

अवति इति ओम।

अवति, रक्षा करता है।

तस्य वाचकः प्रणवः। तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। प्रातिभाद्वा सर्वम् तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयं अक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानं। (योगसूत्र)

परमेश्वर का वाचक प्रणव है। उसमें संपूर्ण सर्वज्ञता का बीज है। प्रातिभ, ओंकार के स्वरूप और अर्थ के ज्ञान वाली तारक प्रतिभा से सर्वज्ञान प्राप्त होता है। अपनी प्रतिभा में उत्पन्न इस तारक, (मैं और यह के) विवेक (अर्थात् अन्यता) रूप, ज्ञान में, सब विषय, सब प्रकार से, एक ही क्षण में, क्रम रहित, क्रमातीत, होकर वर्त्तमान हैं।

ॐ इत्येतद् ब्रह्मणो नेदिष्ठं नाम, यस्मादुच्चार्यमाण एव संसार भयात्तारयति तस्मादुच्यते तार इति।

यह ॐ ब्रह्म का सबसे पासवाला नाम है। इसके उच्चारण से ही जीव भय से तर जाता है, इसलिये, इसको तार, तारक-मंत्र, भी कहते हैं।

ॐकारप्रणवोद्गीततारतारकादीनि च नामानि तस्य।

ओमित्यनुमतौ प्रोक्तं प्रणवे चाप्यनुक्रमे।

सत का वाचक है, इसलिये अनुमति का भी द्योतक है। "हां, जो आप कहते हो वह ठीक है, सत्य है, ऐसी मेरी भी अनुमति है"। अनुक्रम के लिये, आरंभ के लिये भी इसका प्रयोग होता है।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन मामनुस्मरन्।

यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥ (गीता)

जो मुझको, मैं को, आत्मा को, स्मरण करता और ॐ का उच्चारण करता हुआ शरीर छोड़ता है, वह परमगति को प्राप्त होता है।

एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः।

ओंकार एवेदं सर्वम। (छांदोग्य) (प्रश्न उ०)

ओमिति ब्रह्म। ओमितीदं सर्वम। (तैत्तिरीय)

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं, तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। (मांडूक्य, तारसार)

ओंकार ही सब कुछ, पर और अपर है। भूत, भवद, भविष्य, सब उसीका फैलावा है, व्याख्यान है।

एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः।

देवो नारायणो "नाऽऽन्यः", एकोऽग्निर् वर्ण एव च॥

(भागवत, ९-१४-४८)

पुराकाल, सत्ययुग, से, एक ही वेद, सर्ववाङ्मय प्रणव रूप था। तथा एक ही देव नारायण, "अन्य-नहीं", एक ही अग्नि, और एक ही वर्ण था।

सर्वे वेदा यत्पदमामनंति

तपांसि सर्वाणि च यद् वदंति।

यदिच्छंतो ब्रह्मचर्यं चरंति

तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये । ओमित्येतत् ॥ (कठ, गीता)
एतद् हि एव अक्षरं ब्रह्म एतद् हि एव अक्षरं परम् ।
एतद्देव विदित्वा तु यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ (कठ)

जिस परमपद का ही सब वेद आमनन करते हैं, जिसीको सब तपस्वी बखानते हैं (व्याख्यांति, वदंति), जिसी को पाने की इच्छा से तपस्वीजन घोर ब्रह्मचर्य करते हैं, उस पद को मैं थोड़े में तुमसे कहता हूँ, यह ॐ है। यही अक्षर ब्रह्म है, परम अक्षर है, इसको जानकर, जीव जो चाहै वह पावै। (ऊपर कह आये हैं कि जैसे विद्या पढ़कर, समावर्त्तन संस्कार से संस्कृत होकर, बालिग, वयःप्राप्त, प्रौढ़ होकर, युवा जो चाहै उस वृत्ति, "वर्ण" का वरण और आरंभ कर सकता है, वैसे ही इस महासमावर्त्तन संस्कार से, प्रणवनिष्ठ ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान, से, संस्कृत होकर, इस प्रणव के द्वारा जिस गति को चाहे, जिस प्रकार की विशेष मुक्ति को (सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, देव-सायुज्य, को योग शास्त्रोक्त विदेह, प्रकृतिलय, को अथवा ऋषित्व, देवत्व, सूर्यत्व आदि को, अथवा शुद्ध विदेहकैवल्य को) चाहै, वह उसको मिल सकती है। मनु में भी कहा है,

आद्यं यत् त्र्यक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन् प्रतिष्ठिता ।
स गुह्योऽन्यस्त्रिवृद् वेदो यस्तं वेद स वेदवित् ॥

एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामाः परं तपः ।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते ॥
त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्नः संसारस्सार्वभौतिकः ॥इत्यादि
(सर्वमेतत् त्रिवृत त्रिवृत्—ऐसा भी कहा है ।)

इत्यादि । अधिकांश उपनिषदों में प्रणव की महिमा मिलती है। पुराणों में, तंत्रों में, सभी जगह कही है। जो विशेष विशेष देव देवियों के आराधकमंत्र हैं उनके आदि अंत में भी इसीका प्रयोग है। बिना इसके वे अकिंचित्कर हैं। पर क्यों और कैसे, इसका उपलब्ध ग्रंथों से पता नहीं चलता। "अहं-एतत्-न", ऐसा अर्थ किसी ख्यात ग्रंथ में स्पष्ट शब्दों में नहीं मिलता। प्रणव-वाद में मिला, उसकी चर्चा विस्तार से दूसरे लेख में की जा चुकी है।

यहाँ इस ओर ध्यान दिलाने का प्रयोजन यह है कि प्रणव का यह अर्थ, "अहं-एतन्न", बोधात्मक, बौद्ध, विचारात्मक, ज्ञानात्मक, चित्तविमुक्तिसंबंधी, ज्ञानयोगविषयक है। प्रक्रियात्मक नहीं। इस ज्ञान से संसार का स्वरूप और उसके नियम, उसके प्रकार, समझ में आजायँ और शांति मिले। पर इससे कोई सृष्टि-स्थिति-संहारशक्ति, कोई सिद्धि, कोई विभूति, महाभूतों और द्रव्यशक्तियों पर वशिता, तत्क्षण प्राप्त नहीं होती। ऐसी सिद्धियों की कथा न्यारी है। जैसे ब्रह्मचर्य में अध्ययन अच्छी तरह करके ज्ञानशक्ति से सम्पन्न होकर, उस आश्रम को समाप्त कर, समावृत्त होकर, गृहस्थी में प्रवेश करके, जिस रोजगार व्यापार व्यवसाय की ओर उसकी प्रकृति झुके उसको कर सकता है और उससे जीविकालाभ कर सकता है, वैसे ही "एतदेव विदित्वा तु यो यदिच्छति तस्य तत्", अध्यात्मज्ञान को पाकर जो कुछ वासनाशेष रह जाय, चित्त में जो वासना का अधिकार, प्रारब्धशेष का अधिकार, और इसके कारण जीव की जो कुछ अधिकारिता,

बच जाय, तदनुसार वह छोटी या बड़ी सिद्धियाँ साधकर जीवन्मुक्तावस्था में संसार का कार्य कर सकता है। इन सिद्धियों की मात्रा में बहुत भेद होता है। पर ज्ञान के रूप में नहीं। जो ही ज्योतिस्सत्ता छोटे दीपक में है, वही सूर्य में। प्रकाश गुण एक है। पर प्रकाशन क्रिया के विस्तार में, तेजस् में, क्रियाशक्ति में, भारी भेद है। ये सिद्धियाँ कर्मसाध्य हैं।

कर्मणैवमहेन्द्रत्वं ब्रह्मत्वं चैव कर्मणा।
कर्मणैव च रुद्रत्वं विष्णुत्वं चैव कर्मणा॥ इत्यादि।

जैसे एक छोटे मानव राज्य में चौकीदार से लेकर राजा तक अधिकारियों की परम्परा संतत है, वैसे ही अनंत ब्रह्मांडों के प्रबंध में, ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि ईश्वर कोटि के मुख्य अधिकारियों से, और तदधीन मनु और इंद्र, सप्तर्षि और लोकपाल, से, लेकर, बहुत छोटे दर्जों तक। (सूफी संकेत में, फ़रिश्ते, क़ुतुब, औताद, अब्दाल, औलिया, नबी, रसूल, आदि)। और जैसे मनुष्य राज्य में, जो अधिकारी कर्मचारक कार्य-ग्राहक, जितना ही अधिक निस्स्वार्थ, लोकहितैषी, विश्वास-पात्र होता है, उतना ही अधिक अधिकार, अख्तियार, सर्कारी ख़ज़ाना, उसके सुपुर्द किया जाता है, वैसे ही इस ईश्वरीय, ब्रह्मांडशासन में भी जान पड़ता है। "अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नो-पस्थानम्" (योगसूत्र)। ज्यों ज्यों योगी की अस्तेय के यम में, व्रत में, स्थिति दृढ़ होती जाती है, त्यों त्यों अधिक रत्न उसके पास आते हैं। यह सब चित्त-परिकर्म से साध्य है।

विविध शास्त्रों के ज्ञान से सम्पन्न भी शरीरधारी साधा-रण मनुष्य, स्थूल शरीर से, आकाश में नहीं उड़ सकता,

पानी के भीतर घंटों नहीं डूब सकता। पर चिड़िया तो उड़ सकती है, मछली तो डूब सकती है। जन्म-ओषधि-मंत्र-तपः-समाधि-जाः सिद्धयः (योगसूत्र)। इन जन्तुओं को वह सिद्धियाँ सहज, सहजात, जन्मजा हैं, जो मनुष्य को नहीं। विज्ञान से विदित होता है कि कीटों को, चींटी चीटों को, फनगों पतंगों को, कुत्ते शृगाल आदि पशुओं को, तरह तरह के अति-सूक्ष्म गंध और रंग और रस के ज्ञान, बहुत दूर से, भी होते हैं, जो साधारण मनुष्य को नहीं होते। ज्ञानवान् मनुष्य यदि उड़ना चाहे या डूबकर पानी में चलना चाहे तो उसको बड़े श्रम से वायुयान वा अन्तर्जलचर वहित्र बनाना होगा, या उससे भी अधिक श्रम से योगमार्गों से अपने स्थूल सूक्ष्म शरीर में वह शक्तियां सम्पादन करना होगा। यह सब क्रियायोग का विषय है। शुद्ध अध्यात्मज्ञान का नहीं। शुद्ध ज्ञान, सिद्धियों के अंत में भी, शांति का ही काम देता है।

महर्षयोऽपि ऐश्वर्यक्षयदर्शनेन निर्विण्णाः कैवल्यं प्रविशंति।
(शारीरक भाष्य)

जब ब्रह्मा के निद्रा का समय पास आता है, और इस हेतु से जगत् की शक्तियां शिथिल और मंद गति होने लगती हैं, और इस कारण से महर्षियों को सिद्धियां, शक्तियां, ऐश्वर्य, क्षीण होने लगते हैं, तब वे भी निर्विण्ण, खिन्न, विरक्त होकर, अधिकारिता से (जगत् की अफ़सरी से, ओहदादारी से, विशेष विशेष विभागों की रखवारी के काम से) थककर, कैवल्य-पद, परमपद, विदेहमोक्ष, में प्रवेश करते हैं। ऊपर योग-

वासिष्ठ के श्लोक का उद्धरण हो चुका है, परमेष्ठी, हरि, भव भी शान्त हो जाते हैं।

काकभुशुंड (योगवासिष्ठ में) कहते हैं,

गरुड़वाहनं वृषभवाहनं वृषभवाहनं विहगवाहनं।
विहगवाहनं शकटवाहनं कलितमीक्षितः कल्पितवानहम् ॥

अर्थात्, अपनी अति दीर्घ आयु में मैंने विष्णु को शिव, शिव को ब्रह्मा, ब्रह्मा को विष्णु होते देखा है। इन सब छोटे से छोटे, बड़े से बड़े, अधिकारियों के पीछे, सब लोगों का अकेला मालिक, वही केवली "कारणं कारणानां," परमात्मा है। अधिकारिता भी उसी की लीला का एक अंश है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥
प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥ (गीता)

ईश्वरः, परमात्मा; सर्वभूतानां, ब्रह्मविष्णुशिवादीनामपि; प्रकृतेः, परमात्मनः प्रकृतेः; अहङ्कारविमूढात्मा, ब्रह्मादिरपि, "अजमानिनो मे" (भागवत)।

प्रणव की महिमा के वर्णनों की एक और अर्थ परम्परा इस प्रकार के सिद्धि साधक क्रियायोग से संबंध रखने वाली हो सकती है। प्रणव की उपासना योग का एक मुख्य अंग है। "यथाभिमतध्यानाद् वा" कहते हुए भी, योगसूत्र में फिर फिर प्रणवाभ्यास पर ज़ोर दिया है। "ईश्वरप्रणिधाना द्वा," "तस्य वाचकः प्रणवः;" "स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः", "स्वाध्यायः, प्रणवादि पवित्राणां जपः, मोक्षशास्त्राध्ययनं च,"

इत्यादि; "अनाहत" नाद भी इसी का स्यात अति सूक्ष्म मूल प्रकार है। उपनिषदों में प्रतिज्ञा है कि प्रणव ही से सब जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, संहृति होती है। इस प्रतिज्ञा का ठीक व्याख्यान तो, आधिभौतिक आधिदैविक शास्त्रों के रहस्यों में निष्णात परमसिद्ध पुरुष ही कर सकते हैं, जो "श्रुति प्रत्यक्षहेतव:" हों, सुनी बात को कर दिखा सकते हों। हम लोग कुछ यों ही समझ कर मन का सम्बोधन समाधान कर सकते हैं कि, प्रणव की ध्वनि, गूँज, शब्दतन्मात्र वा शब्द सामान्य का स्वरूप है जो आकाश तत्व का व्यंजक, उत्पादक गुण है; जैसे अन्य तत्त्वों वा महाभूतों के अन्य तन्मात्र, स्पर्शसामान्य, रूप (वर्ण) सामान्य, रससामान्य, गंधसामान्य; तथा जगत् की सृष्टि की प्रक्रिया में प्राय: उपनिषत्, दर्शनसूत्र, पुराण आदि में यह माना गया है कि शब्द और आकाश से क्रमश: अन्य सब तत्व और गुण प्रादुर्भूत हुए, और उसी में क्रमश: प्रतिप्रसव से लीन हो जाते हैं, जैसे मृत्तिका के सब विकार, मिट्टी की बनी सब चीजें, फिर मिट्टी में मिल जाती हैं, तैसे मिट्टी पानी में, पानी आग में, आग हवा में, हवा आकाश में; तो यह कहना उचित हो जाता है कि आकाश के व्यंजक आविष्कारक प्रणव से सर्व जगत् की सृष्टि, स्थिति, संहृति, सब कुछ, होती है। ध्वनिशक्ति, मंत्रशक्ति, मंत्रशास्त्र, "दी सायन्स आफ् साउण्ड," सब इस स्थान पर चरितार्थ होता है। विना इस शास्त्र के पुनरुद्धार के, विना अव्यक्त शब्द अर्थात् ध्वनियों की शक्तियों के ज्ञान के, वेद के कर्मकांडांश का अर्थ नहीं लग सकता। एक ही गूँज की

ध्वनि, व्यक्ताक्षरहीन, थोड़े से भेद से हर्षसूचक, थोड़े से भेद से शोकसूचक, वा भयसूचक, वा क्रोधसूचक, हो जाती है। चित्त के असंख्य विकार, सभी, एक इस मूलध्वनि के तत्तदनुरूप विकारों से सूचित हो सकते हैं, और होते हैं। और प्रत्येक ध्वनिविकार से एक विशेष स्पंदन, स्फुरण, आकाश तत्त्व में, पैदा होता है और वह क्रमशः अन्य गुणों और महाभूतों और उनके विकारों में परिणत होता है। प्रत्यक्ष ही, चित्त के, प्रत्येक विकार, काम, क्रोध, ईर्ष्या, भय आदि के अनुरूप मुख की आकृति में वर्ण, स्वर, हस्त पाद आदि की मुद्रा चेष्टा में, सारे शरीर के रस रक्त आदि धातुओं में, सभी अंशों में परिवर्त्तन हो जाता है। प्रणव-ध्वनि की उपासना से, उस पर संयम करने से, स्यात् इन विषयों का ज्ञान और तत्संबंधिनी क्रियाशक्ति प्राप्त हो।

आध्यात्मिक दृष्टि से, प्रणव के तीन अक्षरों का बोधात्मक अर्थ, "अहं-एतत्-न" "मैं-यह-नहीं (हूँ)", यह संवित् ही, अखिलार्थ देनेवाली, चित्त की विमुक्ति शांति करने वाली, सब शंकाओं का समाधान, सब प्रश्नों का उत्तर, सब विरोधों का परिहार, सब अनंत असंख्य भावों का महा समन्वय करने वाली है। इति ॥

॥ ॐ ॥

सर्वे वेदा यत्पदमामनंति
तपांसि सर्वाणि च यद् वदंति।
यद् इच्छंतो ब्रह्मचर्यं चरंति
तत् ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ॐ इत्येतत् ॥

एतद् ह्येवाक्षरं ब्रह्म एतद् ह्येवाक्षरं परं ।
एतदेव विदित्वा तु यो यदिच्छति तस्य तत ॥
सर्वः समानः सर्वेण सर्वो भवति सर्वथा ।
सर्वः सर्वेण संबद्धः सर्वः सर्वत्र सर्वदा ॥
स्वयं सदा संसरति नित्यं प्रालीयते स्वयम् ।
स्वयं जाग्रति भूतेषु निर्वृतः स्वपिति स्वयम् ॥
स्वयं कर्माणि कुरुते युज्यते च फलैः स्वयम् ।
स्वयं बंधे निपतति मुच्यते च तथा स्वयम् ॥
स्वयं करोत्ययं सर्वं न किंचित् कुरुते स्वयम् ।
स्वयं सदैव सर्वत्र सर्वं, किंचिच्च न स्वयम् ॥



क्षपरिणति चेतः क्लेशवश्यं क्व चेदं
क्व च तव गुणसीमोल्लंघिनी शश्वदृद्धिः ।
इति चकितममंदीकृत्य मां भक्तिराधाद्
वरद चरणयोस्ते वाक्यपुष्पोपहारम् ॥
असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिंधुपात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी ।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति ॥
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः
जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः ।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

विश्वात्मा सर्वभूतानां हृद्देशे ननु तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥
सदुक्तमसदुक्तं वा तव प्रेरणयैव तत् ।
त्वदीयं वस्तु विश्वात्मन् तुभ्यमेव समर्पये ॥
जीवात्मने नमस्तुभ्यं तुभ्यं सूत्रात्मने नमः ।
स्थिरात्मने नमस्तुभ्यं नमस्तुभ्यं चरात्मने ॥
प्रकृतात्मन्नमस्तुभ्यं नमोऽस्तु विकृतात्मने ।
नमोऽव्यक्तात्मने तुभ्यं नमस्ते व्यंजितात्मने ॥
एकानेकात्मने तुभ्यं नमश्च प्रत्यगात्मने ।
सर्वात्मने नमस्तुभ्यं नमोऽस्तु परमात्मने ॥
सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः ॥
देहबुद्ध्या तु दासोऽहं जीवबुद्ध्या त्वदंशकः ।
आत्मबुद्ध्या त्वमेवाहं पावयंतत्कुमापितम् ॥
नायं वेद स्वमात्मानं यच्छक्त्याऽहंधिया हतम् ।
तं दुरत्ययमाहात्म्यं भगवंतमितोऽस्म्यहम् ॥
ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यंते मायामेतां तरंति ते ॥
मनस्विनो यज्ञपरास्तपस्विनो
यशस्विनो मंत्रदृशः सुमंगलाः ।
क्षेमं न विंदंति विना यदर्हणां
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥

अज्ञानतिमिरांधस्य ज्ञानांजनशलाकया।
नेत्रमुन्मीलितं येन तस्मै सद्गुरवे नमः॥
जनोऽबुधोऽयं निजकर्मबंधनः
सुखेच्छया कर्म समीहतेऽसुखम्।
यत्सेवया तां विधुनोत्यसन्मतिं
धियं स नोऽव्यात् परमो गुरोर्गुरुः॥

अमर भयौ मैं कहा कियौ तौ जौ तोहि अमर न कीन्हौ,
कठिनहु वहु सहजहु है अति यह, अपुनहि आपा चीन्हौ।
करुना विवस महामुनि ज्ञानी सब याही सिख दीन्हौ,
भीतर आंखि फेरि देख्यौ जिन तिनछिन भय जय लीन्हौ
जेइ दास भगवान कहैं यह जेइ दास भगवान सुनैं।
तेइ चीन्हि भगवान गुनन कौ निर्गुन सगुन अभेद गुनैं॥

ॐ सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।
सर्वः सद्बुद्धिमाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नंदतु॥ ॐ

ॐ

